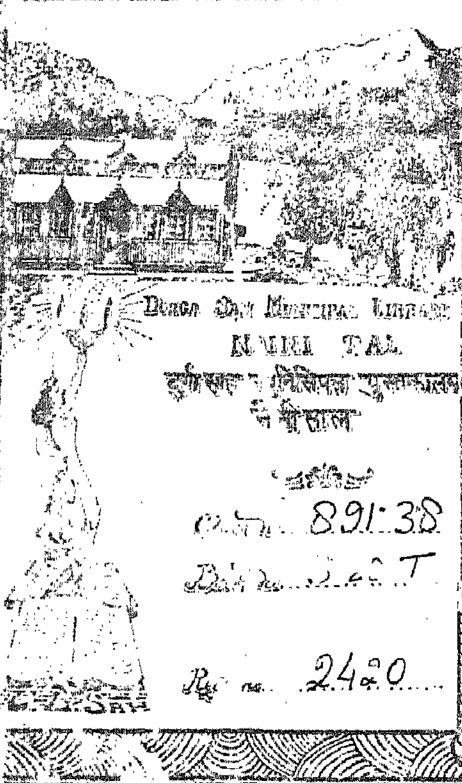


तराज़ू

भूमिका लेखक :

उदयनारायण तिवारी, एम० ए०, डी० लिट०

सम्पादक :

श्री० आर० सहगल,

भूतपूर्व सम्पादक 'चाँद' तथा 'भविष्य'

प्रकाशक :

कर्मयोगी प्रेस, लिमिटेड,

रैन बसेरा, इलाहाबाद

मूल्य चार रुपया

मुद्रक : ओ० आर० सहगल
प्रकाशक : कर्मयोगी प्रेस, [
स्थान : रैन बसेरा, इलाहा
प्रथम संस्करण : जुलाई, १९

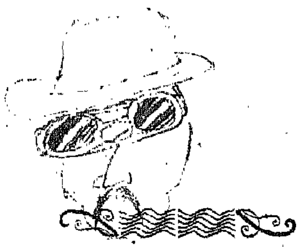
उपहार

To Baby

With Sweet

Kisses

विषय-सूची





दो शब्द

सम्पादक के नाते पुस्तक के आदि में कुछ पंक्तियाँ लिखने की एक पुरानी प्रथा है जिसका पालन मुझे भी करना चाहिए था पर मैं पिछले तीन महीनों से हृद्-रोग से पीड़ित, इस समय हस्पताल में पड़ा अपने जीवन के शेष दिन गिन रहा हूँ। हिलने-डोलने तथा पढ़ने-लिखने की सख्त मनाही है। मेरी इस परवशता के कारण ही मेरे आदरणीय मित्र, डॉक्टर उदयनारायण तिवारी ने एक गवेषणापूर्ण भूमिका लिख कर मुझे भार-मुक्त कर दिया है। सचमुच ही इससे पुस्तक का महत्व बढ़ गया है। इससे अधिक और कहा भी क्या जा सकता था ?

सच तो यह है कि मैंने कहानियों के चयन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है वह लिखकर व्यक्त नहीं किया जा सकता। फलतः इसमें अनेक त्रुटियाँ रह सकती हैं जिसके लिए मेरी नैतिक जिम्मेदारी है पर परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए आशा है पाठकगण मुझे क्षमा प्रदान करेंगे। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से पाठकों को यदि प्रस्तुत

कहानियों का संकलन ज़रा भी रुचा तो मेरा प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है।

अन्त में मैं उन मित्रों का भी आभार मानता हूँ जिन्होंने अपनी रचना भेजकर अथवा उन्हें इस संग्रह में प्रकाशित करने की स्वीकृति प्रदान कर मुझे अनुगृहीत किया है।

सिविल हस्पताल
इलाहाबाद

—आर० सहगल
५-७-५०



भूमिका

कहानी का जन्म मानवात्मा की सृष्टि के साथ ही साथ हुआ है। नवजात शिशु, पहले-पहल जब आँखें खोल कर अपने आस-पास देखता है तब उसके प्रत्येक वस्तु के देखने में एक भोली जिज्ञासा, एक नवल कुतूहल का भाव रहता है। ये भाव उसके आनन पर मुद्रित हो जाते हैं। अपनी निकट की वस्तुओं के छूने, उन्हें पकड़ने, हिलाने-डुलाने, छीनने और खाने के लिये वह अपने हाथ-पैर मारता और रुदन करता रहता है। वह सार्थक शब्द नहीं कहना जानता—उसकी भाषा 'सा

की भाषा से सर्वथा भिन्न होती है। फिर भी कौन कह सकता है कि वह अपने शरीर संचालन और मुख पर मुद्रित रेखाओं से अपनी अन्तरात्मा की पुकार नहीं प्रकट करता। उसने रोना सीख लिया है और अपनी समस्त याचनाओं को वह एक मात्र रूदन में व्यक्त करता है। रूदन ही उसका अनुरोध है और आग्रह भी। परन्तु प्रश्न यह है कि वह अपने उस अनुरोध और आग्रह में रूदन का जो भाव स्थापित करता है, क्या वह वास्तव में रुदन ही है? यदि आप उसका अध्ययन करेंगे तो आपको अनुभव होगा कि कभी-कभी उसके उस रुदन में एक रहस्य रहता है। वह देखने में रोता है, परन्तु सच पूछिये तो वह उसका मचलना है, आग्रह है, खिलवाड़ है। थोड़ी देर के लिये यदि आप इस विश्व को शिशु मान लें, तो आप यह अनुभव करेंगे कि संसार में कला और साहित्य के रूप में आप जो कुछ भी देखते हैं, सभी उस विश्व शिशु का आग्रह, खिलवाड़ और कहानी ही है।

हमारे जीवन के क्षण-क्षण में कहानी के परिमाणु बिखरे रहते हैं। हमारे अन्तःकरण में निरन्तर एक अतृप्त की भावना रहती है। तभी तो हम आगे का पग उठा कर चलते हैं। मानव जीवन में अतृप्त जैसे स्थाई रूप से समाविष्ट कर दी गई है। तभी तो हम लोलुप-लोचनों से संसार के मनोरम दृश्यों को देख-देख कर किलकते हैं और कह उठते हैं---यह नहीं वह, इस ओर नहीं उस ओर, इस पार नहीं उस पार, मीठा नहीं नमकीन, पल्लव ही नहीं पुष्प भी। हमारे मानस-तत्ववेत्ता भी जीवन और अजीवन की मीमांसा करते-करते थकते नहीं। हमारी कामना और गति में विराम नहीं है। जीवन के पश्चात् मृत्यु आती

है और फिर मृत्यु के आगे का पथ भी जीवनमय हो जाता है। आप दूर तक विचार करें तो आपको यह अस्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगेगा कि इस अखिल विश्व में सर्वत्र एक मात्र अतृप्ति ही समाछन्न होकर रह गई है। कला और साहित्य में भी हम जो अमरत्व देखते हैं, उसका आधार यह अतृप्ति ही है। और कहानी की सृष्टि भी अतृप्ति से ही हुई है। जीव जब प्रगतिशील शरीर में रह कर शान्त हो गया तभी निकल भागा और तब कहा गया—चलो, अब कथा समाप्त हुई। इस प्रकार जीव में जब अतृप्ति की भीम भावना ज्वलन्त होकर प्रकट हुई तभी उसका अतीत एक कथा बन गया।

* * *

हमारे यहाँ कहानी का जन्म मुख्यतया इतिहास के रूप में हुआ था। और वह इतिहास-गर्भित कथा-साहित्य घर-घर में इतना अधिक प्रवेश पा गया था कि माता और दादी अपने बच्चों को सुलाने के समय कहानियाँ कह कर ही उनका मनोरंजन करती थीं। यह प्रचलन हमारे यहाँ अब तक जीवित है। इन कहानियों में जीवन के भीतर वास करने वाले सुख, दुख, प्रेम, वासना, उपद्रव, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, वीरता, बदला लेने की भावना आदि समस्त मानवोचित प्रकृतियों के ज्वलन्त उदाहरण रहते थे। आज हम कलात्मक कहानियों में जो चमत्कार देख कर हैरान रह जाते हैं, हमारे उस पुरातन कथा-साहित्य में वह एक साधारण बात समझी जाती रही है। हमारे यहाँ उस सुदूर अतीत युग में भी कहानियाँ दैनिक जीवन का अंग होकर ही रहती थीं। हमारे यहाँ का पुरातन साहित्य भी बहुत कुछ हमारे जीवन में लिप्त होकर ही रहता

था। सभ्यता में जैसे-जैसे परिवर्तन हुए, वैसे ही वैसे हमारे जीवन के साथ-साथ उसके उपादान भी परिवर्तित होते गये। जब साहित्य पाठ्य-विषय बन गया, तब कहानियों ने भी उसमें अपना स्थान ग्रहण किया। यही कारण है कि हम ऋग्वेद की ऋचाओं में भी कहानियों का उल्लेख पाते हैं। उपनिषदों में भी उन कहानियों का विकसित रूप भी इसी ओर इंगित करता है। राज्य प्रासादों से लेकर झोपड़ियों तक ही कहानी का क्षेत्र सीमित नहीं है। जो जातियाँ जंगलों में बिना घर-बार के रहती हैं, उनमें भी हम कहानी का जीवन पाते हैं। हमारे यहाँ के साधु-संतों के बात विनोद और उनके संगीत में भी कहानी के संस्कार पाये जाते हैं। बौद्ध साहित्य में तत्कालीन जातक कथाओं को एक महत्व का स्थान दिया गया है। उदाहरणवत् हम बौद्ध साहित्य का एक ऐसा उद्धरण यहाँ उपस्थित करते हैं, जिसमें कहानी का यथेष्ट चमत्कार आप पाएँगे :

भगवान बुद्ध अपने भिक्षुओं को उपदेश करते हुए कहते हैं—"भिक्षुओ! भूतकाल में इसी श्रावस्ती में वैदेहिका नामक गृहपत्नी (= गृहस्थ स्त्री, वैश्य स्त्री) थी। वैदेहिका गृहपत्नी की ऐसी मंगल कीर्ति फैली हुई थी—वैदेहिका गृहपत्नी सौरता (=सुरत) है, निवाना (=निष्कलह) है, उपशान्त है। वैदेहिका गृहपत्नी के पास काली नामक पक्ष, आलस्य रहित अच्छे प्रकार काम करने वाली दासी थी। तब भिक्षुओ! काली दासी के (मन में) यह हुआ—मेरी आर्या (अय्या = स्वामिनी) की ऐसी मंगल कीर्ति फैली हुई है—वैदेहिका गृहपत्नी सौरता (सुरत) है, निवाना (=निष्कलह) है, उपशान्त है, क्या मेरी आर्या भीतर

क्रोध के विद्यमान रहते हुए प्रेम प्रगट नहीं करती या अविद्यमान रहते ? चूँकि मेरे काम अच्छी तरह किये होते हैं, इसलिये मेरी अय्या भीतर में क्रोध होते हुये भी प्रकट नहीं करती, नहीं है (यह बात) नहीं। क्यों न मैं अय्या की परीक्षा करूँ। तब भिक्षुओं ! काली दासी दिन (चढ़ने पर उठी) तब भिक्षुओ ! वैदेहिका गृहपत्नी ने काली दासी से यह कहा—'अरे हे काली ?'

'क्या है अय्या ?'

'क्यों रे दिन चढ़ने पर उठी है ?'

'कुछ नहीं अय्या।'

'कुछ नहीं (यह) हमारी दुष्टा दासी दिन (चढ़ने पर) उठती है रे'—(कह) कुपित, असन्तुष्ट हो भौहें टेढ़ी कर लीं। तब भिक्षुओ ! काली दासी को यह हुआ—मेरी अय्या भीतर से क्रोध के विद्यमान रहते उसे प्रकट नहीं करती, अविद्यमान रहते नहीं, नहीं है (यह बात) नहीं। क्यों न मैं फिर अय्या को अच्छी तरह परखूँ। तब भिक्षुओं ! काली दासी और दिन चढ़ा कर उठी। तब वैदेहिका गृहपत्नी ने काली दासी से यह कहा 'अरे हे काली ?'

'क्या है अय्या ?'

'क्यों रे और दिन चढ़ा कर उठी है ?'

'कुछ नहीं अय्या !'

'कुछ नहीं रे। (यह) हमारी दुष्ट दासी और दिन चढ़ा कर उठती है।, (कह) कुपित असन्तुष्ट हो भौंहें टेढ़ी कर कटु बचन कहे।

तब भिक्षुओं काली दासी को यह हुआ—मेरी अय्या भीतर में क्रोध के विद्यमान रहते उसे प्रकट नहीं करती, नहीं है (यह बात) नहीं। क्यों न मैं फिर अय्या को अच्छी तरह परखूँ। तब भिक्षुओ! काली दासी और दिन (चढ़ा कर) उठी। फिर भिक्षुओं! वैदेहिका गृहपत्नी ने काली दासी से यह कहा —'अरे हे काली!'

'क्या है अय्या!'

'क्यों रे और दिन (चढ़ा कर) उठी है?'

'कुछ नहीं अय्या!'

'कुछ नहीं रे। यह मेरी दुष्ट दासी और भी दिन चढ़ा कर उठती है।' (कह) कुपित असन्तुष्ट हो, किवाड़ की बिलाई (=सूची) उठाकर उसे मारा। शिर फूट गया। तब भिक्षुओ! काली दासी ने फूटे शिर से लोहू बहाते पड़ोसियों को चिल्ला कर कहा—'देखो अय्या सौरता के काम को! देखो अय्या निवाता के काम को!! देखो अय्या उपशान्त के काम को!!! कैसे (कोई) अकेली दासी को 'तू दिन चढ़े उठी'—कह कुपित और असन्तुष्ट हो किवाड़ की बिलाई (सूची) उठा कर मारेगी, और शिर को फोड़ डालेगी!!! तब भिक्षुओं वैदेहिका गृहपत्नी को! अ-सौरता है वैदेहिका गृहपत्नी, अनिवाता है वैदेहिका गृहपत्नी, अन उपशान्ता है वैदेहिका गृहपत्नी।'

इसी प्रकार भिक्षुओ! यहाँ एक भिक्षु तभी तक सोरत रहता है, निवात (=निष्कलह) उपशान्त होता है, जब तक अप्रिय शब्द पथ में वह नहीं पड़ता, जब उस भिक्षु पर अप्रिय शब्द पथ पड़ता है, तब भी

(रहे) तो (उसे) सोरत जानना चाहिये, निवात (=निष्कलह) जानना चाहिये, उपशान्त जानना चाहिये।*

उपर्युक्त उद्धरण में आप देखेंगे कि कालीदासी ने वैदेहिका गृहपत्नी की परीक्षा में कैसा चमत्कार प्रदर्शित किया है। वैदेहिका गृहपत्नी का पतन पूर्ण चरित्रांकरण करने में वह कैसी कृतकार्य हुई है। एक साधारण घटना के द्वारा उसने चरित्रांकण में कैसी कलामयी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। पाठक के हृदय में उसने समवेदना का कैसा उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है।

* * *

यद्यपि कहानी विश्व साहित्य की प्राचीनतम वस्तु है, तथापि साहित्य के इस अंग को जो स्थान गत शताब्दी में मिला है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। कुछ लोगों का विचार है कि लम्बे-लम्बे उपन्यासों के कारण होने वाली प्रतिक्रिया ने लोगों को कहानी युग में साहित्य की ओर आकृष्ट कर लिया है। कारण कुछ भी हो, इस युग में नाटक, उपन्यास, निबन्ध, कविता तथा साहित्य के अन्य महत्व-पूर्ण अंगों के साथ ही साथ कहानी को भी एक माननीय स्थान प्राप्त हो चुका है। पत्रकार-कला के वर्तमान विकास युग में उन कहानियों की, जो पत्रिका के एक ही अङ्क में कई आ सकें, बहुत माँग रहती है। कितने ही लोगों की तो यह धारणा हो गई है कि कहानी भविष्य में उपन्यास का स्थान ले लेगी; परन्तु वास्तव में ऐसा सोचना नितान्त भ्रमात्मक है।

---

*त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन-अनुवादित "मज्झिमनिकाय" से—सम्पादक

कहानी और उपन्यास का जन्म, साहित्य में, एक साथ हुआ है। उपन्यास कला का विकास जो पहले हो गया, उसका कारण है। मध्यकालीन युग में लोगों को बड़े-बड़े ग्रन्थों के पढ़ने का पूरा अवकाश मिलता था। वह उपन्यासों का युग था। उस समय कहानी के विकास के लिये इतने साधन भी नहीं थे। अब जीवन संग्राम की व्यस्तता में, अवकाश की क्षीणता के कारण, उपन्यास पढ़ने के लिए यथेष्ट समय ही नहीं मिलता है। और इसलिए कहानियों का आदर उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

साहित्य में उपन्यास का स्थान कहानी से नितान्त भिन्न है। जीवन की उलझनों और परिवर्तनों का विशद रूप हम उपन्यास में ही प्राप्त कर सकते हैं। कहानी के सीमित क्षेत्र में इसकी सम्भावना नहीं है। उपन्यास के लिए पात्रों के चरित्र का विकास बहुत आवश्यक है। कहानी में इसके लिए तनिक भी स्थान नहीं है। उपन्यास में पात्रों के साथ, पाठकों का दीर्घकालीन संसर्ग रहता है। परन्तु कहानी में उतनी ही देर तक जब तक कि कोई व्यक्ति बिना घबड़ाये हुए एक बार बैठा रह सकता है। यदि हम उपन्यास के पात्रों और पाठकों के सम्पर्क की उपमा दो पड़ोसियों के दीर्घ जीवन से दे सकते हैं तो कहानी के पात्रों और पाठकों की उपमा भी रेल के दो यात्रियों से दी जा सकती है। पड़ोस के दीर्घ जीवन में उलझनों और परिवर्तनों के विस्तार का सम्पूर्ण रूप प्रतिफलित रहता है। और यही बात उपन्यासों के लिए आवश्यक है। रेल के यात्रियों का एक विशेष लक्ष्य रहता है। वे प्रत्येक स्थिति में उसी लक्ष्य पर ध्यान रखते हुए अग्रसर हो जाते हैं। यही दशा कहानी

की है। पड़ोस में रहने से एक का दूसरे पर गम्भीर एवं स्थायी प्रभाव पड़ता है। परन्तु यात्रा का प्रभाव क्षणिक रहता है और केवल यदा-कदा ही गम्भीर हो सकता है। अतएव जैसे लोग पड़ोसी के साथ रहना चाहेंगें, वैसे ही उपन्यास पढ़ने में लगे रहेंगे और जैसे यात्री एक निश्चित अवधि के पश्चात उठ कर चल देंगे, वैसे ही वे एक कहानी पढ़कर निश्चिन्त हो जायँगे।

* * *

अमेरिका के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कहानी-कला के मर्मज्ञ, एगार एलेन पो (Edger Allen Poe) का कथन है कि कहानी एक प्रकार का वर्णात्मक गद्य है जिसके पढ़ने में आध घंटे से लेकर एक घंटे तक का समय लगता है। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कहानी वह कथा है जो विना उकताये हुए एक ही बार बैठ कर पढ़ी जा सके।

उपर्युक्त कथन से केवल एक ही बात स्पष्ट होती है। वह यह कि कहानी इतनी दीर्घकाय न होनी चाहिये कि घंटे-आध-घंटे का पाठक भी ऊब उठे। परन्तु इस कथन से आधुनिक कहानी की अन्य विशेषताओं पर प्रकाश नहीं पड़ता। यदि किसी उपन्यास को संक्षिप्त कर दिया जाय, तो क्या उस उपन्यास का वह संक्षिप्त रूप कहानी हो जायगा? उपन्यास भी छोटे-छोटे होते हैं और कहानियाँ भी बड़ी-बड़ी होती हैं। यदि उपन्यास और कहानी की यही कसौटी संभव हो तब ऐसे अनेक उपन्यासों का उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है, जिनका आकार बड़ी कहानियों के समान हो जाता है। शरत बाबू की एक कहानी है, "बिन्दोर छेले"। काफ़ी बड़ी कहानी है। और उन्हीं

21120

शरत बाबू का एक उपन्यास है "बड़ी दीदी" । दोनों का कलेवर लगभग समान है। परन्तु दोनों की कला में कितना अन्तर है !

उपन्यास में पात्रों का एक जीवन रहता है । एक अत्यन्त साधारण श्रेणी का नगण्य पुरुष किसी घटना विशेष से उत्थित होकर कैसे देवता बन गया, उसका 'अथ' क्या था और उसकी 'इति' क्या है, केवल इतनी-सी बात का वर्णन यदि कोई लेखक स्वाभाविक रूप में, सजीव भाषा में कर सके, तो वह एक सुन्दर कहानी हो जायगी। हाँ, उसके अन्त में उसके देवत्व की पराकाष्ठा की एक झलक अवश्य रहनी चाहिये। परन्तु इसी घटना को, यदि इस प्रकार लिखा जाय कि उसमें उस पुरुष के रहन-सहन, निवास, खान-पान को लेकर उसके दैनिक जीवन की समस्त घटनाएँ, उसके मन पर पड़े हुए प्रभाव, संसार के साथ-साथ उसकी गति, उसकी जीवनगत कठिनाइयों की भयंकरता में उसकी अदमनीय साहसिकता और दूरदर्शितापूर्ण कर्त्तव्य-निष्ठा, उसकी स्वाभाविक दुर्बलताओं के क्रूर घात-प्रतिघात और उनके घोर संघर्ष में उसका संयोग मूलक उत्थान, उसकी कामना सरिता के तरंग संकुल आलोड़न आदि समाविष्ट हो सकें, तो वही एक सुन्दर उपन्यास हो जायगा। तत्त्व एक है, परन्तु उसके स्वरूप दो हो गये हैं। कहानी में तो उसका उतना ही रूप है, जितना दो-चार बार के दर्शन से उसमें से निकाला जा सका है। परन्तु उपन्यास के साथ उसके जीवन का निखिल इतिहास गुम्फित रहा है।

आरम्भ में उपन्यास और कहानी के साधन और शैली में बहुत कम अन्तर रहता था। परन्तु अब तो दोनों के साधन और शैली में

महान् अन्तर हो गया है। कहानी के विकास के साथ-साथ उसकी कला की मीमांसा भी होती गई और कला की दृष्टि के नये-नये सिद्धान्त भी स्थिर होते रहे। अतएव उपन्यास और कहानी के कलात्मक विवेचन में महत्वपूर्ण अन्तर होने के कारण उनके उद्देश्य, योजना और रचना में महत्वपूर्ण अन्तर हो गया है। अनेक बातें तो सिद्धान्तों की भी ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध उपन्यास और कहानी के साथ या तो अनिवार्य है, अन्यथा है ही नहीं !

*   *   *

कहानी में यथाशक्ति एक ही ऐसा विषय होना चाहिये, जिसका उसमें पूरा विवेचन हो सके और अन्त में पाठक के मन पर यह प्रभाव पड़ सके कि जो कुछ भी लिखा गया है, वही यथेष्ट है। न तो इसमें इससे कम में ही इसके चमत्कार का पूरा निर्वाह हो सकता है और न इससे अधिक में ही वह शोभन प्रतीत होता है। परन्तु कहानी में एक ही विषय का प्रतिपादन हो, कहानीकार के लिए यह कोई प्रतिबन्ध नहीं है। कहानीकार के लिए इस प्रकार का कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। यह तो साधारण सिद्धान्त की बात है। कहानी में यदि एक ही विषय का प्रतिपादन उसके अंगों के अनुपात के अनुसार होगा; तो कहीं पर अनावश्यक वर्णन का बाहुल्य होना सम्भव न होगा। बस, इतनी बात है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कहानी में किसी एक ही घटना या उसके किसी एक ही क्षण का वर्णन हो। सच पूछिये तो यह सब लेखक की कल्पना-शक्ति पर निर्भर है कि वह कई घटनाओं और युगों की बातों को भी एक ही सूत्र में गुम्फित कर उसे एक ही

विषय और लक्ष्य की ओर ले जाने में अपनी कला से तनिक भी विचलित न हो। उच्च कोटि का कलाकार अपनी प्रतिभा से एक छोटी कहानी में भी दो-तीन बातों का समावेश बड़े मज़े में कर सकता है।

* * *

कहानी-कला के विषय में ऊपर के संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् अब इस संग्रह में संकलित कतिपय कहानियों के सम्बन्ध में भी विचार किया जायगा। सब से पहले 'डोरा' कहानी को ही लें। इस कहानी को प्रेम-प्रधान कहानी कहा जा सकता है। सात्त्विक और हृदय-जात प्रेम किस प्रकार निर्बन्ध होता है, किस प्रकार वह देश, काल और जाति की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ चलता है, इसी का दिग्दर्शन डॉ० धनीराम प्रेम ने इस कहानी में किया है। प्रेम का विकास जिस सहज ढंग से प्रकृति की स्वच्छन्द क्रीड़ास्थली में दिखाया गया है वह कहानी-कार की उदार दृष्टि का परिचायक है। डोरा का प्रेम निष्कपट और त्यागपूर्ण है और उसके चरित्र में भारतीयता है, उसकी रुचि साहित्यिक है और दृष्टिकोण उदार। उसके चरित्र में विशिष्टता है और इस कारण यह कहानी चरित्र-प्रधान कही जा सकती है।

अहमद नदीम क़ासिमी की कहानी 'तौबा मेरी' परिस्थिति-प्रधान कहानी है। कथावस्तु की दृष्टि से यह अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। इसमें लेखक ने बीमार और मौत की कगार पर खड़े बूढ़े की खों-खों और थू-थू तथा उसके प्रिय पुत्र करीम की बीमारी की अवस्था का प्रभावपूर्ण चित्र खींचने का उद्योग किया है। ग़रीबों की झोपड़ी में दैन्य और विनम्रता के साथ किस प्रकार प्यार और मुहब्बत का निवास रहता है, इसका भी अत्यन्त सफल चित्र इस कहानी में खींचा गया है।

'शूद्रा' कहानी प्रेमचन्द जी की सिद्ध लेखनी का प्रमाण है। भाषा की सरल प्रवाहशीलता के साथ उसकी हृदयस्पर्शिनी शक्ति कहानी के उन्नत कथा चयन से संबद्ध हो अपना जो प्रभाव डालती है वह सचमुच हृदय-द्रावक है।

इस कहानी में भी चरित्र की ही प्रधानता है। शूद्रा का निखरा हुआ व्यक्तित्व अपने आप में पूर्ण है। उसका निर्मल चरित्र सुहाग का अक्षय वरदान पाकर प्रबलतर हो जाता है। उसे अपने यौवन में ऐसा आश्रय मिलता है जिसपर वह फूली नहीं समाती और जिसके कारण उसका वार पार नहीं। लाख साधनों को समेटे हुए वह अपने पति के वियोग के दिन किस प्रकार निम्लान मन से काट देती है इसे दिखाने में प्रेमचन्द की लेखनी का कौशल अभिनन्दनीय है—वह सखियों से किस प्रकार अपने पति के गुणों का वर्णन करती है और उसके विदेश-यात्रा को युक्तिसंगत ठहराती है, यह सब उसके अटल पातिव्रत धर्म का अखंड प्रमाण है। उसके चारित्रिक गुणों का उत्कर्ष उस समय अपनी सीमा पर पहुँच जाता है जब वह उस क्रूर और लम्पट अत्याचारी गोरे के हृदय में भी माता की ममता जगा कर उसे आत्मकृत्यों पर पश्चात्ताप करने और आत्मग्लानि में डूबने के लिए बाध्य कर देती है।

'ड्राइवर' एक छोटी-सी रोचक कहानी है जिसका सौन्दर्य उसकी चरम सीमा में है। ड्राइवर को कार की गति की तीव्रता के साथ ही साथ कथा भी अपनी चरमस्थिति को तीव्र से तीव्रतम रूप में आगे बढ़ती है। कार की तीव्र गति का वर्णन पढ़ कर ऐसा लगता है मानो अब दुर्घटना हुई, अब जान गई। सचमुच ऐसा ही होता भी है। करीम की स्वामी-

भक्ति ही एक ऐसा भाव है जिसे लेकर कहानीकार एक घटना गढ़ लेता है। करीम ने अपनी योग्यता और बात की सच्चाई का परिचय भर करा दिया, यही समस्त कहानी का मूल विषय है। श्रीमती हिजाब इम्तियाज़ अली की इस छोटी कथाकृति में भावी गल्पकार की प्रतिभा निहित है।

"कला का मूल्य" शीर्षक कहानी के लेखक पहले एक कलाकार हैं फिर और कुछ उसके भाषा की रंगीनी और शैली की विशिष्टता कलाकारों में अपनी चमक अलग रखती है। यह कहानी एक चूड़ीवाली से संबंधित है जो एक नर्तकी-कन्या है। वेश्याओं की समस्या को लेकर चलने वाली यह कहानी समस्या-प्रधान कहलाएगी। नर्तनकला व्यवसाय है किन्तु उसे व्यभिचारपूर्ण विलास की सामग्री के रूप में ग्रहण करना समाज का अपराध है, यही प्रसादजी का दृष्टिकोण समझ पड़ता है। समाज में आज नैतिक पतन की सीमा नहीं, इसके फलस्वरूप पहले की नर्तकियाँ जो नृत्यगान आदि कलाओं में कुशल होती थीं वे अब नहीं रह गई। इसका प्रमुख कारण यही है कि अब उनकी कला का आदर करने वाले प्राणी नहीं रहे।

प्रसाद जी ने इस कहानी में चूड़ीवाली नायिका को लेकर उसके अन्दर सात्विक प्रेम की ज्योति को जगाया है और यह भी दिखलाया है कि किस प्रकार वेश्यावृति को छोड़कर गार्हस्थ्य जीवन को अपनाने के लिए लालायित है।

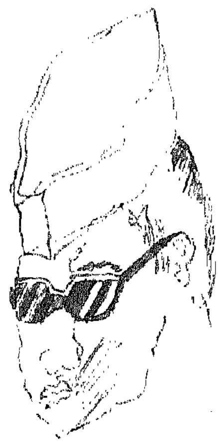
इस कहानी में दो-चार शब्दों में पान खाती हुई और मुस्करा कर कनखियों से देखती हुई चुड़िहारिन की जो मनोहर मूर्ति कलाकार ने चित्रित कर दी है वह पाठकों के मन पर अमिट ही है।

(संग्रह)

विस्तार-भय से इस संग्रह की अन्य कहानियों की अलोचना यहाँ प्रस्तुत नहीं की जा रही है। आज का युग कहानी कला का विकास का माना जाता है। सौभाग्य से हिन्दी में भी कहानी लेखकों की वृद्धि हो रही है। आशा है यह लेखक अपनी सुन्दर कृतियों से हिन्दी के कथा-साहित्य के भाण्डार को भरेंगे।

—उदय नारायण तिवारी

५. ७. ५०



डोरा

[डॉक्टर धनीराम 'प्रेम']

भारतवासियों में स्वास्थ्य-सुधार के लिए विलायत आना फ़ैशन हो गया है। मैं धनवान् हूँ, कुछ लम्बा-चौड़ा कार्य भी नहीं करता। तबियत कवियों की-सी पाई है। कुछ समय से शरीर ठीक न रहता था; अतः जब मित्रों ने विलायत जाने की सम्मति दी, तब मैंने पी० एण्ड ओ० को एक सीट के लिए लिख दिया।

मैं लन्दन पहुँच गया। परन्तु दो मास रहने के पश्चात् मुझे तो समझ नहीं पड़ा कि भारतीय धनिक लन्दन में 'स्वास्थ्य' के लिए आकर क्यों रहते हैं। वास्तव में उनका मुख्य उद्देश्य 'आधुनिक मनोरञ्जन' होता है और कदाचित् उस मनोरञ्जन में ही वे अपने रोग को भूल जाते हैं; परन्तु मेरा स्वास्थ्य यहाँ तनिक भी नहीं सुधर रहा था। अतः मैंने स्कॉटलैण्ड के हाईलैण्ड्र्स में जाकर रहने का निश्चय कर लिया।

स्कॉटलैण्ड में प्रकृति का सबसे सुन्दर दृश्य 'ट्रोमास तथा 'लौख़ लोमॉण्ड' (एक झील) में देखने को मिलता है। मनोरम हरी-भरी घाटियाँ नेत्रों को अत्यन्त प्रिय लगती हैं। इन्हीं घाटियों के एक ग्राम में मैंने अपना निवास-स्थान बनाया। महान् अन्तर ! एक दूसरा संसार !! कहाँ लन्दन का कृत्रिम जीवन और कहाँ इस ग्राम का प्राकृतिक,

साधारण तथा सत्यता का जीवन। जिससे वार्तालाप करो, सच्चाई तथा प्रेम से पूरित। प्रकृति के दिए हुए सारे गुण इन ग्रामीणों में उपस्थित हैं, परन्तु नगरों के सभ्यता-जन्य दोष इन से दूर हैं।

इस देश में गर्मी में दिन बहुत लम्बे होते हैं। रात्रि को ग्यारह बजे तक प्रकाश रहता है। मैं रात्रि का भोजन करके एक छोटी-सी पहाड़ी पर सैर के लिए चल दिया। सुगन्धित वायु बह रही थी। वृक्षों पर कोमल नवपल्लव नृत्य कर रहे थे। पास एक ऊँचे पत्थर पर बैठ कर मैं ध्यान-मग्न होगया। कुछ लिखना चाहता था; परन्तु विषय न मिलता था। इतने ही में एक ओर से आर्त्तनाद सुनाई पड़ा! मैंने घूम कर देखा, नीचे घाटी में एक युवती एक शिकारी कुत्ते से भिड़ी हुई है मैंने अपना पिस्तौल निकाला और दौड़ कर एक ख़ाली फ़ायर किया। कुत्ता भाग खड़ा हुआ। मैं धीरे-धीरे युवती के पास पहुँच गया।

युवती की आयु बीस के लगभग थी। चेहरा सुडौल था, रङ्ग गोरा था, नाक रक्त-भरी नलियों की-सी। जिस समय मैं पहुँचा, वह युवती भुजा के उस घाव को देख रही थी, जो दुष्ट कुत्ते के कारण हो गया था। उसकी आँखें उठीं। कितनी आकर्षक, कितनी रस-भरी, छेदने वाली; परन्तु इन आँखों में लन्दन की सुन्दरी युवतियों का सा बनावटी हाव-भाव न था, बल्कि था भोलापन; चुलबुलापन न था, सादगी थी। मैंने अपनी टोपी उठा कर अभिवादन किया। उसने आँखें नीची कर लीं। मैं यह भी न देख सका कि बिहारी का 'अमिय हलाहल मद भरे'... यहाँ लागू हो सकता था या नहीं। नीचे ही को दृष्टि करके वह मधुर स्वर में बोली—"महाशय, अनेक धन्यवाद! आप समय पर सहायता न करते,

तो कुशल न थी !" एक-एक शब्द तोल कर बोला गया था। भोलेपन की कुछ सीमा थी ? इङ्गलैण्ड की एक बालिका में इतनी लज्जा, इतना शील ! मैं आश्चर्य में आ गया। मैंने उत्तर में कहा—"यह तो मेरा कर्त्तव्य था। मुझे हर्ष है कि आपके काम आ सका ! चोट गहरी तो नहीं आई ?"

"धन्यवाद ! मुझे अधिक चोट नहीं आई। थोड़ा ख़राश है ; ठीक हो जायगा !"

"क्या घाव को मैं देख न सकूँगा ?"

युवती ने कुछ उत्तर न दिया—केवल अपनी सुन्दर भुजा मेरी ओर कर दी। मैंने देखा, घाव में से थोड़ा माँस भी कट गया था। मैंने अपना रूमाल फाड़ कर उस स्थान पर बाँध दिया। वह कुछ न बोली। मैंने रूमाल बाँध कर उसका हाथ छोड़ दिया। युवती एक बार मेरी ओर देखकर मुस्कुराई और बिना कुछ कहे ग्राम की ओर भाग गई।

कितनी भोली बालिका है, लज्जाशील है, सुन्दरी है। उसे तो भारत में पैदा होना था ! परन्तु उसने यह क्या किया ? पता नहीं दिया, नाम तक नहीं बताया—एक शब्द तक न कहा और भाग गई। पहले तो मुझे क्रोध आया ; परन्तु फिर उसके नेत्रों की वही झलक सामने आ गई। मालूम होने लगा कि वह कह रही है :

मज़ा बरसात का चाहो तो इन आँखों में आ बैठो !
सफ़ेदी है, सियाही है, शफ़क़ है, अब्रे-बाराँ है !!

मैं उसी स्थान पर बैठ गया। मुझे मेरा विषय मिल गया। वहीं पद्य बनाने लगा।

ऊजड़ा था उद्यान, हो चुका था हरियाली का बस अन्त।
तुमने आते ही सरसाया इसमें शोभावान बसन्त॥

३

युवती चली गई थी; परन्तु अपना प्रभाव छोड़ गई थी। यह मेरे जीवन में एक नई बात थी। यूरोप की स्त्रियों के प्रति मेरा बड़ा विलक्षण विचार था। मैं किसी पर विश्वास न कर सकता था। लन्दन की एक से एक सुन्दरी युवती से मिलने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ था। उनके हाव-भाव देखे थे, उनके कटाक्ष देखे थे, उनकी बदमस्त चितवन के इशारे देखे थे, परन्तु उनका कुछ भी प्रभाव मेरे हृदय पर अब तक न हुआ था। एक बार एक युवती बोली—तुम कितने आकर्षक हो, कितने मोहक हो, ऐसा लावण्य कहाँ से लाए?

मैंने उपेक्षा की हँसी हँस कर कहा—'तुम पर मुझे हँसी आती है।' परन्तु इस भोलेपन में कुछ अपूर्व आकर्षण था। मैं 'तेरी भोली चितवन ने जादू डाला' गाता हुआ होटल की ओर चल दिया।

ठीक समय पर नित्य जिस प्रकार मुल्ला नमाज़ पढ़ने जाता है, तथा पुजारी आरती उतारने जाता है, मैं भी नित्य सायङ्काल को उसी वाटी में जाने लगा। सोचा—कदाचित् किसी दिन फिर उसके दर्शन हों। सातवें दिन मैं ध्यान में बैठा हुआ, एक कविता लिख रहा था कि एका-एक वह सामने आकर खड़ी हो गई और बोली..."विघ्न के लिए क्षमा करें।" मैं चौंक पड़ा। टेढ़ा-सीधा अभिवादन करके बोला—"हैं आप यहाँ?"

"आपका रूमाल वापस लाई हूँ। उस दिन के लिए एक बार फिर

धन्यवाद" रूमाल लेकर मैंने देखा, दोनों फटे हुए टुकड़े रेशमी धागे से बड़ी ख़ूबी के साथ सी दिए गए थे। रूमाल धोकर स्त्री किया हुआ था और एक किनारे पर रेशमी धागे से उस पर "D" टाँका हुआ था। मैंने कहा—"आपने मुझ पर बड़ा अत्याचार किया है।"

"मैं अब जाने की आज्ञा चाहती हूँ।"

"तो फिर आप आईं ही क्यों थीं? क्या थोड़ी देर बैठ कर आप अपना नाम-वाम भी न बताएँगी?"

बिना कुछ कहे युवती पास की हरी घास पर बैठ गई। पास ही मैं भी बैठ गया। मैं उसकी ओर देख रहा था और वह पृथ्वी की ओर देख रही थी। दोनों ही नीरव प्रकृति की भाँति शान्त थे। मैंने ही वह समा भङ्ग किया—आपका शुभ-नाम क्या है?

"डौरोथी नैर्था विल्सन"

"इसका अर्थ क्या है?"

"अर्थ पूछ कर क्या करोगे?"—वह मुस्कुरा कर बोली।

"देखना चाहता हूँ, कि जैसी आप हैं वैसा ही आपका नाम भी है या नहीं।"

" 'डौरोथी' का अर्थ है 'ईश्वर का उपहार' तथा 'नैर्था' का अर्थ 'सुन्दर और 'विल्सन' मेरा पैतृक नाम है!"

"वास्तव में आप 'ईश्वर का उपहार' हैं। लोग आपको क्या कह कर पुकारते हैं?

"डोरा।"

"डोरा! बड़ा प्यारा शब्द है, मिस विल्सन"

"आप मुझे डोरा कह कर पुकारिए। मैं तकल्लुफ़ पसन्द नहीं करती। भारतीय तो लन्दन वालों की भाँति तकल्लुफ़बाज़ नहीं हैं। आप में यह अवगुण कहाँ से आ गया ?"

"जो आपकी आज्ञा ! लन्दन ने ही मुझे तकल्लुफ़ सिखाया था।"

"मुझे भी आपसे कुछ पूछने का अधिकार है।"

"शौक से !"

"आपका क्या नाम है ?"

मुझे लोग 'मोहन' कहते हैं।"

"ईश्वर को धन्यवाद है कि यह इतना सरल है ! मैं समझती थी कि बड़ा कठिन होगा ! इसका अर्थ क्या है ?"

"मोहित करने वाला !"

"आप यहाँ स्वास्थ्य के लिए आए हैं या सैर के लिए ?"

"आया तो स्वास्थ्य सुधारने को हूँ, परन्तु एक सप्ताह से एक और रोग मोल ले लिया है।"

"क्या ?"

"क्या आप डॉक्टर हैं ?"

"नहीं तो। परन्तु शायद नर्स का काम कर सकूँ !"

"मेरे बड़े भाग्य। यदि डॉक्टर भी बन सको तो ?"

वह कुछ न बोली, नीचे दृष्टि किए बैठी रही।

"आप चुप क्यों हैं ?"

"अब जाने दीजिए।"—कह कर वह खड़ी हो गई।

"फिर मिलोगी ?"

"शायद !"

"इसी रविवार को ?"

"शायद !"

"इसी स्थल पर ?

"शायद !"

"इसी समय ?"

"शायद !"

मैं और कुछ पूछना चाहता था ; परन्तु वह एक साथ भाग खड़ी हुई। थोड़ी दूर जाकर वह मुड़ी, हाथ हिलाया और दृष्टि से ओझल हो गई ! मैं धीरे-धीरे गाने लगा :

तुम्हीं ने दर्द दिया है, तुम्हीं दवा देना !

४

रविवार को डोरा आई। हमने दिल खोल कर बातें कीं। एक-दूसरे के हृदय को समझने लगे। डोरा एक भोली ग्रामीण बालिका थी; परन्तु उसकी शिक्षा बड़ी उच्च थी। अतः उसके विचार भी समुन्नत थे। उसने इतिहास पढ़ा था ; भूगोल में उसका अच्छा ज्ञान था। वह देहली, आगरा, बम्बई, कलकत्ता आदि नामों को तोते की भाँति गा सकती थी। साहित्य में भी उसकी अच्छी पहुँच थी। शेक्सपियर के कई ड्रामे पढ़ चुकी थी। वर्ड्सवर्थ, गोल्डस्मिथ, कोलेरिज, स्टीवेन्सन आदि ज़बानी सुना सकती थी। साधारण बातों में उपमा-अलङ्कार आदि का प्रयोग करती। इसके अतिरिक्त कुछ लिखने का भी शौक़ था। माता-पिता का हाल ही में देहान्त हो चुका था स्वावलम्बी जीवन व्यतीत

करती थी। उसका सबसे सुन्दर गुण था—उसका विमल चरित्र। उसके इन गुणों ने मुझे उसकी ओर खींच लिया था। मैं समझता था कि हम दोनों का मिलन कठिन है; परन्तु फिर भी उसके अन्दर कोई शक्ति थी, जो सदा मुझे उसकी ओर आकर्षित करती रहती थी। मैं यह भी देखता था कि उसके हृदय में मेरी ओर कुछ झुकाव पैदा हो गया था। इन दिनों में हम लोग कई बार मिले थे। साथ-साथ घाटियों में घूमे थे। घण्टों जङ्गली वृक्षों के नीचे संसार के न जाने कितने विषयों पर वार्तालाप कर चुके थे।

एक रोज़ उसने मुझे चाय के लिए बुलाया। मैं अपना सन्ध्या का सूट पहन कर उसके घर पहुँचा। एक छोटे से बाग़ीचे में एक छोटा सा, परन्तु शोभायमान् बँगला बना हुआ था। एक ओर एक खपरैल के नीचे दो गाएँ बँधी हुई थीं। दूसरी ओर एक छोटी सी लैण्ड्री थी। द्वार पर डोरा हाथ में एक फूल लिए खड़ी थी। मेरे पहुँचते ही उसने अपनी मधुर-मुस्कान के साथ फूल मेरे कोट के छेद में लगा दिया। गायों को देख कर मैं बोला—"डोरा, तुम भी गाएँ रखती हो?"

"तो क्या गाय रखने का ठेका भारतवासियों ने ही ले रक्खा है?"

मैं शर्मा गया। हम लोग ड्रॉइङ्ग-रूम में पहुँच चुके थे। वहाँ एक ३५ वर्ष के महाशय खड़े हुए थे। कपड़े तो धनिकों के से थे, परन्तु शक्ल से उजड्ड-से ही दीख पड़ते थे। डोरा ने हम दोनों का परिचय कराया। आपका नाम था मि० लन। पहले तो आपका नाम सुन कर ही मुझे हँसी आई। फिर आपका भीषण भाषण हुआ। शब्दों का उच्चारण

विलक्षण था। Money को 'मौनी' तथा Country को 'कौन्त्री' बोलते थे। जले भुने-से बातें कर रहे थे। शायद उन्हें हमारी घनिष्ठता खटकती थी।

भोजन पर हम लोग बैठे। डोरा बोली—"मोहन! तुम्हारे लिए मैंने स्वयं कुछ तश्तरियाँ तैयार की हैं। सब खानी पड़ेंगी।" उसने सामने एक प्रकार का सूप (शोरवा) रख दिया। मैंने पूछा—"यह क्या है?"

"नाम पूछने की नहीं ठहरी। पहले खाओ, पीछे बातें करो।"—वह हँस कर बोली! सूप बड़ा स्वादिष्ट था। उसमें लाल-मिर्च भी पड़ी थी। मैं बोला—"डोरा! तुम क्या भारत में भी रही हो?"

"क्यों?"

"यह मिर्चें खाना तुमने कहाँ से सीख लिया?"

"मैं जानती थी कि तुम यह वस्तु पसन्द करते हो, मैंने एडिनबरा से मँगा लीं।"

"अब तो इसका नाम बताओ।"

"इसे स्कॉच-ब्रॉथ कहते हैं। पूरा बनस्पति भोजन है।"

"डोरा! तुम जानती हो, आज तुम कितनी प्यारी लगती हो?"

डोरा इसका उत्तर न दे पाई थी, कि मि० लन की त्योरियों में बल पड़ गए। वे तीव्रता से बोले—"आजकल भारतीय अधिक स्वतन्त्रता दिखाते हैं; परन्तु हैं इङ्गलैण्ड के शासित ही।" मेरा मुख तमतमा गया। मैं क्रोध से बोला—"यहाँ इङ्गलैण्ड के शासन की बात मत करो, मि० लन! कुछ दिनों की बात है।"

डोरा से यह सहन न हो सका। वह मि० लन से बोली—"लन ! तुम्हारा यह व्यवहार मूर्खतापूर्ण है ! तुम्हें शर्म आनी चाहिए !"

मि० लन चुप हो गए। अब हम लोग डोरा के बैठने के कमरे में आए। डोरा ने ग्रामोफ़ोन पर नाच की ट्यून का एक रिकॉर्ड चढ़ा दिया। मैंने नाच के लिए डोरा का हाथ पकड़ा। इतने ही में मि० लन बोल उठे—"मेरा डान्स, डोरा !"

"खेद है, मि० लन ! परन्तु मैं मोहन से प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ !" मि० लन चुपचाप कुर्सी पर बैठ गए। हम लोगों ने कुछ देर नृत्य किया। मि० लन यह सहन न कर सकते थे। उन्होंने कोई बहाना निकाल कर डोरा से विदा ली।

डोरा बोली—"मि० लन के व्यवहार से बुरा न मानना, मोहन !"

"यह महाशय कौन हैं, डोरा ?"

"यह मेरे पिता के एक मित्र हैं। मृत्यु के समय पिता इन्हें कभी-कभी मेरी देख-रेख करने को कह गए थे—परन्तु यह समझते हैं कि यह मेरे मालिक हैं। एक बार मुझसे विवाह तक का प्रस्ताव कर चुके हैं, परन्तु मैंने अस्वीकार कर दिया है !"

"क्यों, क्या तुम विवाह नहीं करना चाहतीं ?"

"विवाह मैं अवश्य करना चाहती हूँ, मोहन ! परन्तु मैं उन सब प्रथाओं के विरुद्ध हूँ, जो आजकल हमारे समाज में प्रचलित हो गई हैं। आजकल की लड़कियाँ बहुत स्वेच्छाचारिणी हो गई हैं। वे बिना सोचे-समझे विवाह करती हैं। उसका अन्त, या तो व्यभिचार है, या तलाक़ ! इङ्गलिश-समाज में घरों की दशा बड़ी शोचनीय है। पति-पत्नी में आपस

में न सच्चा प्रेम है, न विश्वास। वे विवाह को पवित्र बन्धन नहीं, प्रत्युत एक शर्तनामा समझते हैं। मैं एक बार विवाह करूँगी, परन्तु ऐसे मनुष्य से, जिसकी होकर मैं सदा रह सकूँ। आज यहाँ बहुत कम ऐसे मनुष्य हैं!"

"डोरा, मुझे आश्चर्य होता है, तुम्हारा आदर्श एक भारतीय ललना का सा है!"

"क्या कहते हो, मोहन! कितनी बार मैंने चाहा है कि मैं भारत में पैदा होती!"

"यह तो लन्दन में भी बीसियों लड़कियाँ चाहती हैं!"

"परन्तु भिन्न उद्देश्य से वे किसी धनवान् भारतीय को फाँसना चाहती हैं। प्रेम के लिए नहीं, धन के लिए, गौरव के लिए!"

डोरा के लिए मेरे हृदय में और भी श्रद्धा बढ़ गई। मन ही मन में उसकी इन सच्ची बातों की प्रशंसा करने लगा। शब्द साधारण थे, परन्तु कितने मार्मिक, कितने सजीव; कितने उथल-पुथल मचा देने वाले! मैंने पूछा—"डोरा यह इतने उच्च विचार कहाँ से ले आई हो तुम?"

"पुस्तकों से, मोहन! देखते हो, सामने मेरी पुस्तकों का संग्रह।"

एक छोटी सी आलमारी में दो सौ के लगभग पुस्तकें रक्खी थीं। राजनीति; इतिहास, साहित्य—सभी विषय उपस्थित थे। इतिहास के खाने में मैं 'मदर- इण्डिया' देख कर चौंक पड़ा।

डोरा विस्मय से बोली—"क्या हुआ, डीयर?"

"तुमने 'मदर-इण्डिया' पढ़ी है?"

"हाँ!"

"किसलिए ? किस उद्देश्य से !"

"यह जानने के लिए कि एक स्वार्थी व्यक्ति अपनी शक्ति के मद में एक निर्बल तथा पीड़ित राष्ट्र के विरुद्ध कितना असत्य लिख सकता है।"

"तो क्या तुम इसे सत्य नहीं मानती हो ?"

"इसके उत्तर के लिए पास की पुस्तक देखो !"

मैंने पास की पुस्तक उठा कर देखी। हैं ! यह तो लाला लाजपत-राय की Un-happy India (दुःखी-भारत) थी। मैं विस्मय से खड़ा रह गया।

डोरा बोली—"आश्चर्य क्यों करते हो ? मैं भारत के विषय में बहुत पढ़ चुकी हूँ। गाँधी की फ़िलॉसफ़ी को मैं श्रद्धा की दृष्टि से देखती हूँ। रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' के मैं कई पाठ कर चुकी हूँ। इसी-लिए मैंने लाजपतराय की पुस्तक पढ़ी थी। किसी भी पद्दलित देश का नागरिक इससे ज़ोरदार पुस्तक अपनी मातृ-भूमि के लिए नहीं लिख सकता था। हम पश्चिम के लोग इस नवीन सभ्यता में इतने अन्धे हो रहे हैं, कि दूसरे के गुण भी हमें दोष प्रतीत होते हैं। जो समाज गाँधी, रवीन्द्र तथा मेरे मोहन-जैसे व्यक्ति पैदा कर सकता है, वह दोषों से भरा हुआ समाज कदापि नहीं है। अमेरिकन समाज के माथे व्यभिचार का भारी कलङ्क लगा हुआ है। फ़्रान्स तथा इङ्गलैण्ड के समाज के आचार-विचार भी रसातल को जा चुके हैं। भारत की रस्म रिवाजें हमें हास्यजनक प्रतीत भले ही हों, परन्तु उन्होंने भारतीयों के चरित्र की काफ़ी रक्षा की है।"

उसके मुख पर एक अपूर्व प्रतिभा की झलक दीख रही थी। मैंने

उसके हाथ पकड़ कर कहा—"तुम स्वर्ग की देवी हो मेरी डोरा ! यदि संसार के सारे प्राणियों के यही विचार हों, तो विश्व में कितनी शान्ति हो जाय !" उसने दृष्टि नीचे को कर ली। फिर वह एक भोली बालिका बन गई। कौन कह सकता था, कि इस ग्रामीण बालिका के हृदय में इतने विशाल भाव भरे थे।

कुछ देर तक शान्ति रही। वह कुछ बोल न सकी, मेरे पास भी कुछ बोलने को न रहा। उसके ओष्ट हिले, शान्ति भङ्ग हुई। वह बोली—"मैंने कुछ लाइनें लिखी हैं।"

"पियानो पर गाकर सुनाना होगा।"

""वैसे ही सुन लो !"

"तो मैं नहीं सुनता।" वह पियानो पर गाने लगी—

No rose in all the world, until you came;
No Star, until you shone upon Life's sea.
No song in all the world, until you spoke—
No hope, until you gave your heart to me

भावार्थ—

जब तक तू आया न, पुष्प था खिला न बन में।
चमका था नक्षत्र, न मेरे जीवन-घन में॥
तू बोला, सङ्गीत-सुधा की वर्षा आई।
आशा-रश्मि, हृदय देकर तूने झलकाई॥

५

सूर्य भगवान् अस्त हो गए थे। रात्रि अन्धकार का आवरण पहने

अपने आगमन की सूचना दे रही थी। मैं उसी घाटी में घास पर पड़ा था, जहाँ डोरा का प्रथम दर्शन हुआ था। तब में और अब में कई मास का अन्तर हो गया था और इस बीच में मैंने इस ग्राम में बैठे हुए अपने विचारों में अनेकों परिवर्त्तन किए थे। समय किधर मुझे ले जायगा? डोरा के उस प्रेम-नाटक का क्या अन्त होगा? जिस प्रकार नाट्य-मन्दिर में बैठे हुए दर्शक एक पहेली वाले नाटक का अन्त जानने को आतुर हो उठते हैं, वही दशा मेरी थी। मैं ही उस नाटक का नायक हूँ और मुझी को उसके अन्त का कुछ ज्ञान न हो! रह-रह कर मेरा चित्त व्याकुल हो उठता था। क्या डोरा पर अपना प्रेम प्रगट कर दूँ? परन्तु क्या मैं उससे विवाह कर सकूँगा? क्यों, आपत्ति ही क्या है? मैं तो अन्तर्जातीय विवाह का पक्षपाती हूँ। समाज उँगली उठाएगा, उठाया करे। क्या सच्चा प्रेम उस पर बलिदान कर दूँ? परन्तु क्या डोरा इस विवाह के लिए सहमत होगी? उसके हृदय में मेरे लिए कितना प्रेम है, कितनी श्रद्धा है! परन्तु कदाचित् पीछे से कुछ × × × परन्तु छिः! उस देवी से ऐसी आशा? यदि मैंने उसका प्रेम स्वीकार न किया, तो उसका हृदय टूट जायगा। वह इसे सहन न कर सकेगी! यही विचार मेरे हृदय में उथल-पुथल मचा रहे थे, कि मुझे किसी के आने का शब्द सुनाई दिया। मैंने समझा, वह डोरा है। परन्तु उठ कर देखा तो मि० लन सामने से आ रहे थे। मैं अपना हाथ आगे बढ़ा कर बोला—"हैलो! मि० लन, इस समय इधर कैसे आना हुआ?

लन तड़क कर बोले—"मैं तुमसे हाथ मिलाने नहीं आया, लड़के? तुम्हें सावधान करने आया हूँ!"

"कहिए, क्या हुआ ?"

"तुम डोरा तथा मेरे बीच में आकर अच्छा नहीं कर रहे हो।"

"इसका अर्थ ?"

"तुम डोरा से प्रेम करते हो ?"

"हाँ, परन्तु आपसे उसका सम्बन्ध ?"

"सुनो, डोरा मेरी है। जब तक मैं जीवित हूँ, तब तक कोई उसे अपनी बनाने की चेष्टा भी नहीं कर सकता। ईसा के नाम पर मैं कहता हूँ कि जो मेरे मार्ग में आएगा, उसे मेरी छुरी अपना भोजन बना लेगी।"

"महाशय, छुरी पर इतना भरोसा न करो। कहीं आप ही को उसका भोजन न बनना पड़े। डोरा का नाम आप भूल जाइए, वह आपसे घृणा करती है!"

लन एक विकट हँसी हँस कर बोला—"मुझसे घृणा करती है और एक काले आदमी को प्यार करती है! अहा, लड़के! मैं एक हिन्दुस्तानी को अपने ऊपर विजयी न होने दूँगा!"

क्रोध से मेरे नथुने फूल गए। मेरा देश परतन्त्र है, ठीक है; परन्तु हम लोगों ने राष्ट्रीय गौरव तथा सम्मान को अभी तिलाञ्जलि नहीं दे दी। मैंने लन का कॉलर पकड़ कर कहा—"बेहूदे, अपनी जिह्वा को वश में करके बात कर, नहीं तो सारी सफ़ेद चमड़ी को धूल में मिला दूँगा!"

लन लाल होकर बोला—"कॉलर छोड़ दे, यू इण्डियन डॉग!"

उसका वाक्य पूरा भी न हो पाया था, कि मैंने उसको दो घूँसे

लगा कर पृथ्वी पर गिरा दिया और उसकी छाती पर बैठ कर मैं उसका कण्ठ दबाने लगा। लन धीरे-धीरे बोला—"क्षमा करो मोहन ! मेरा अर्थ अपमान करना न था। ईर्ष्या से मैंने ऐसा किया !" मैंने उसे उठा कर कहा—"जा, यह तेरा मार्ग पड़ा है। अब किसी भारतीय से इस प्रकार छेड़-छाड़ न करना !"

६

लन अपना टोप उठा कर अपना गाल सुहलाता हुआ चला गया !!

दूसरे दिन मैं डोरा से मिलने गया। उसे रात्रि की घटना का कुछ पता न था। मेरा मन खिन्न था, परन्तु ऊपर से मैं प्रसन्न था। कुछ देर मेरी ओर देख कर डोरा बोली—"तुम्हारे मुखपर आज अनुपम तेज झलक रहा है, मोहन !"

"तुम तो पगली हो, डोरा !"

"मैं पगली हूँ सही; परन्तु तुममें बहुत परिवर्तन हो गया है। यदि कुछ दिन इसी प्रकार स्कॉच ब्रॉथ तथा स्कॉच पॉरिज खाओ, तो स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो जायगा।"

"परन्तु यह वस्तुएँ अब अधिक दिनों तक खाने को न मिल सकेंगी डोरा !" डोरा का मुख निस्तेज हो गया, मुख की मुस्कान मुख ही में रह गई। वह धीमे स्वर से बोली—"क्यों ?"

"मैं शीघ्र ही लन्दन जा रहा हूँ!"

"इसका अर्थ है वियोग ?"

"शायद !"

"क्या स्कॉटलैण्ड से जी ऊब गया ?"

"जिस स्कॉटलैण्ड की शोभा डोरा बढ़ा रही हो, उससे किसी का भी जी नहीं ऊब सकता !"

"तब क्या डोरा से कुछ अपराध हो गया ?"

"डोरा-जैसी पवित्र आत्मा अपराधी नहीं हो सकती। अपराधी मैं ही हूँ। अच्छा होता, यदि मैं यहाँ न आता। मैं तुम्हारे तथा किसी अन्य प्राणी के बीच में आ रहा हूँ !"

डोरा मेरा हाथ पकड़ कर पृथ्वी पर झुक गई। उसके नेत्रों में आँसू आ गए थे। मद के स्थान में करुणा थी। रोते-रोते वह बोली—तुम नहीं देखते, डीयरेस्ट, मैं तुमसे प्रेम करती हूँ !

"मैं इसे जानता हूँ डोरा, इसीलिए तो मैं अपराधी हूँ। मैं एक परदेशी हूँ। मैं तुम्हारे प्रेम के योग्य हूँ, इसमें सन्देह है। हम दोनों के जीवन में काफ़ी अन्तर है और रहेगा !"

"तुमने प्रेम को क्या समझा है मोहन ? क्या प्रेम देश, जाति, धर्म आदि का अन्तर देखता है ? हम सब उसी जगदीश्वर की सन्तान हैं। फिर यदि दो हृदय एक होकर सुखी होना चाहते हैं, तो जीवन के छोटे-छोटे मतभेद उस सुख में क्योंकर बाधा डाल सकते हैं ? क्या तुम मुझ पर विश्वास नहीं करते ? क्या मैं तुम्हारे जीवन की छाया बन कर तुम्हारे साथ नहीं रह सकती ?"

"डोरा ! मुझे शान्ति से जाने दो ! तुम्हारे प्रेम के योग्य अनेकों मनुष्य हैं।"

"अच्छा मोहन, जाओ ! मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा न डालूँगी ; परन्तु तुम यह न समझना, कि मैं दूसरे की हो सकती हूँ। जिसकी

मूर्त्ति हृदय में बैठाई है, उसी की स्मृति में जीवन व्यतीत हो जायगा ?"

मेरे हृदय में उथल-पुथल हो रहा था। मैं एक ओर एक कोच पर बैठ गया पियानो पास रक्खा था। डोरा उस पर सिर रख कर रोने लगी। कुछ देर बाद उसकी उँगलियाँ पियानो पर चलने लगीं। पियानो रोती हुई ट्यून निकाल रहा था ! थोड़ी देर में डोरा का मर्म भरा स्वर उसके साथ मिलने लगा ! वह गा रही थी :

By the parting of our ways,
You took all my happy days
And left me lonely nights.

मैं धीरे-धीरे उठा तथा उसके पीछे जाकर खड़ा हो गया। वह गाने में मस्त थी :

Morning never comes too soon,
I can face the afternoon,
But Oh, those lonely nights;
I feel your arms around my neck,
Your kisses linger yet,
You taught me how to love you,
Now teach me how to forget !!

मैंने उसके हाथ पर हाथ रख दिया। वह मेरी ओर मुड़ी। मैंने कहा—"मेरी डोरा, मैं लन्दन नहीं जा रहा हूँ ! मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।" उसके नेत्र चमक उठे। पियानो छोड़ कर वह मेरे सम्मुख आ

खड़ी हुई और बोली—"नहीं, मोहन ! तुम मुझे भुलावा दे रहे हो ! क्या मैं इतनी भाग्यशालिनी हो सकती हूँ ? एक बार फिर कह दो—'तुम्हें प्रेम करता हूँ', ओह, मोहन, प्रियतम !"

"डोरा, डार्लिङ्ग ! तुम मेरे हृदय की रानी हो, तुम्हें विलग नहीं कर सकता !" डोरा ने अपनी भुजाएँ मेरे गले में डाल दीं। इतने ही में एकाएक द्वार खुला और मि० लन ने प्रवेश किया। डोरा उन्हें देख कर क्रोध में भर कर बोली—"मि० लन, इस समय तुम यहाँ क्या कर रहे हो ?"

"डोरा, तुम यह उचित कार्य नहीं कर रही हो ?"

"तुम अपना काम देखो, मैं उचित-अनुचित सब समझती हूँ।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा। अच्छा, गुड-बाई ?"

डोरा की ओर से लन मेरी ओर आया तथा मेरा हाथ पकड़ कर कहने लगा—तनिक खिड़की तक आइएगा, आपसे कुछ कहना है ?

मैं उसके साथ खिड़की तक गया। डोरा वहीं खड़ी रही। मेरा ध्यान खिड़की के बाहर वाले खेत की ओर था, कि डोरा चीख़ पड़ी—"मोहन, मोहन !" मैं हकाबका होकर देखने लगा—लन की छुरी मेरे हृदय की ओर वेग से आ रही थी। मैं कुछ कर भी न पाया, कि डोरा मेरे तथा लन के बीच में विद्युत् की भाँति आ खड़ी हुई तथा एक सेकेण्ड के उपरान्त कटे वृक्ष की भाँति पृथ्वी पर गिर पड़ी। सर्वनाश हो गया ! लन की छुरी उसके हृदय के पार हो गई थी। मैंने नीचे झुक कर देखा, चोट घातक थी। मुख निस्तेज हो गया था। शरीर मुरझाए फूल की भाँति पड़ा था। टकटकी मेरी ओर लग रही थी। मैंने डोरा को उठा

कर कोच पर लिटाया और बच्चे की भाँति रोने लगा। वह बोली, प्रतीत होता था कि वह शब्द एक अन्धकूप से आ रहे हैं। मैंने सुना—"मोहन!" मैंने उसका शिर अपनी गोद में रख लिया। वह फिर बोली—"क्यों रोते हो, प्यारे! आज हमारे प्रेम का दिन है—अनन्त प्रेम का दिन! मैं बड़ी भाग्यशालिनी हूँ, जो तुम्हारे लिए मर रही हूँ तथा तुम्हारे मुख से यह सुनने के अनन्तर, कि तुम मुझसे प्रेम करते हो! अब मेरे तुम हो। कभी, किसी जीवन में पुनर्मिलन होगा! मेरा सोच न करना। समझना कि एक स्वप्न था, बीत गया! छाया थी, मिट गई। तुमने देखा, भारत के आदर्श को सामने रखने वाली नारियाँ इङ्गलैण्ड में भी हैं! मुझे अपना हाथ दो!"

मैं रोते-रोते बोला—"डोरा हृदयेश्वरी! तुम मेरे योग्य नहीं थीं। नहीं-नहीं, इस संसार के योग्य नहीं थीं। जाओ, वहाँ तुम सम्राज्ञी होकर विराजोगी। आज तुम्हारे सम्मुख प्रण करता हूँ कि जीवन के शेष दिन तुम्हारी स्मृति में व्यतीत होंगे!" वह अवसर ऐसा था, जब भाव अनेकों थे; परन्तु उनके लिए शब्द न मिल सकते थे। मुझसे अधिक न बोला गया। हम दोनों ने एक-दूसरे का अन्तिम चुम्बन किया। वह शहद से भी मधुर था, शान्ति से भी नीरव था, मृत्यु से भी भयङ्कर था।

कुछ घण्टों के उपरान्त अस्पताल में डोरा उड़ गई। लन पुलिस के हवाले हुआ।

भारत से टूटा हुआ शरीर लेकर गया था, विलायत से हृदय भी तोड़

लाया। जब डोरा की याद आती है, उस रेशमी रूमाल को देख कर रो लेता हूँ। उसकी स्मृति का वही शेष चिह्न है। जब वह थी, फटा हुआ रूमाल जोड़ कर ले आई थी। आज हृदय टूटा हुआ पड़ा है, परन्तु उसके जोड़ने के लिए डोरा कहाँ है?

तौबा मेरी

[श्री० अहमद नदीम क़ासिमी]

खों...खों..."ऐ खों,... खों, तौबा मेरी, खों...खों। ज़रा बाहर आना बुढ़िया...बु...बुढ़िया! वह लुटिया इधर सरका दे री। तौबा मेरी, ...खों...खों खों। करीम तो अब अच्छा है? तू किधर जा कर मर गई है, तौबा मेरी।"

चूने की-सी सफ़ेद दाढ़ी, गंजा सिर, लटकी हुई नाक, अन्दर घुसे हुए होंठ, सिलवटें पड़ा चेहरा! मानों कोई लाश बैठी खाँस रही हो! देहलीज़ के बाहर एक खटोले पर बैठा, फेफड़ों के सिमटने फैलने के झटकों से, घुटनों में सिर दिए झुक-झुक जाता था। पास की दीवाल बलग़म से पटी पड़ी थी। दो बैल दूर खड़े, सूखे तिनकों पर मुँह मार रहे थे। उस पार पनिहारियाँ पानी भरी गागरों से लदी छाती ताने एक गली में घुसी जा रही थीं।

कुबड़ी बुढ़िया अन्दर से हाँफती हुई निकली—"अरे, क्या शोर मचा रक्खा है तूने, घड़ी भर के लिए अन्दर जाती हूँ, कि तुझे गोली लग जाती है। हाथ बढ़ा कर लुटिया खसका ली होती।"

बूढ़ा खाँसते हुए बोला—"ऐ, इतना गुस्सा न दिखा, घूँट-भर पानी पिला दे, मेरा गला सूख रहा है!"

"तुझे क्या मालूम, कि अन्दर तेरे लाल पर क्या बीत रही है? साँस लेना भी कठिन है उसे। अब फिर फटी-फटी आँखों से देखने लगा है, हाथ-पैर पटकता और बेमतलब ऊट-पटाँग बातें करता है। एक बार तो पथरा गई थीं, उसकी आँखें!"

बूढ़े ने लुटिया ले कर वहीं धर दी और खटोले पर से अपनी सूखी लकड़ी-जैसी टाँगें लटका कर बोला—"ले, ज़रा मुझे थाम के ले चल मैं समझा मौसिमी बुख़ार है, उतर जायगा, तूने तो बड़ी बहकी बात कह दी, कलेजा दहला दिया मेरा! ले, ज़रा थाम मेरा हाथ, खींच मुझे, तौबा मेरी।"

खसकते हुए दोनों अन्दर गए। फटे-पुराने बिस्तर पर एक नवयुवक पड़ा कराह रहा था। गरदन को इस व्याकुलता से हिला रहा था, जैसे उसके सिर में लपटें उठ रही हों। पाँव इस प्रकार पटकता था, मानों तपते लोहे पर चल रहा हो। होंठ ऊपर चढ़ गए थे। बत्तीस के बत्तीस पीले दाँत मसूड़ों सहित दिखाई पड़ रहे थे।

बूढ़ा उसकी खाट के पास पहुँच कर क़रीब-क़रीब गिर पड़ा। "ऐ, करीम ख़ाँ, करीम बेटा, बेटा करीम, ऐ करीमू, ऐ, बात तो सुन मेरी! सुन रहा है; क्या? खों...खों...खों......ऐ......ऐ...तौबा मेरी ......ऐ सुनता है कुछ, तेरा बूढ़ा बाप तेरे सामने बैठा है। क्या खाएगा ......पानी पिएगा?......पियास है? नहीं है?......तौबा मेरी ......! अरी देख, सिर हिला रहा है, तेरा लाल......पियास नहीं है इसे, क्या खाएगा? सुबह वाली खिचड़ी गर्म कर ला बुढ़िया। ऐ, सुनती है!......करीम बेटा! तुम बोलते क्यों नहीं? तौबा......।"

करीम की व्याकुल लाल आँखें बूढ़े के पीले चेहरे पर जम गईं और पपड़ियाँ जमे होंठों में ज़रा-सी जुम्बिश हुई। उसने धीरे से कहा—"मेरे दिल पर बहुत बोझ है, अब्बा! मैं बहुत परेशान हूँ।"

"यह बुख़ार कमबख़्त इसी तेज़ी से चढ़ता है, और उतरता भी पल में है—बस चुटकी बजाते।"—बूढ़े ने अपनी कमज़ोर भद्दी उँगलियों से चुटकी बजाना चाहा, किन्तु असफल रहा।

नवयुवक फिर उसी क्षीण और करुण स्वर में बोला—"कल मौलवी साहब कह रहे थे, कि मैंने बूढ़े नीम के नीचे पेशाब कर दिया, इसलिए नीम की पुरानी डायन मेरा कलेजा निकाल कर खा गई। कलेजे वाली जगह मुझे ख़ाली जान भी पड़ती है।"—कहते हुए उसने छाती पर हाथ फेरा!

बूढ़ा भी दहल गया। मगर ढाढ़स देते हुए बोला—"आज इसीलिए तो बहुत-सी घुघरियाँ बाँटी थीं, तुम्हारी अम्मा ने, मुट्ठी-मुट्ठी भर मासूम बच्चों को देती गईं, और वे तुम्हारे अच्छे होने के लिए दुआएँ माँगते रहे। शक्कर मिला कर मौलवी साहब के यहाँ भी भिजवा दी थीं और कोरे बरतन में डाल कर बुढ़िया नीम तले भी बिखेर आई थी। अब तू अच्छा हो जायगा।?" 'ले आई खिचड़ी?' बूढ़े ने हाथ टेक कर मुड़ते हुए कहा—"रख दे इधर, उठा अपने लाल को, खा ले मेरे बच्चे, दो-चार दाने निगल ले, ताक़त आ जायगी, परेशानी मिट जायगी। न खाए तो वहीं हँडिया में डाल आ री, बाहर रहने से ख़राब हो जायगी, शाम को काम आएगी। बच्चे को सोने की कोशिश...खों...खों-खों-खों आख...आख'''आख थू।"

बूढ़ा ज़मीन पर झुक गया और फिर दोनों आँखें कपड़े से रगड़ते हुए बोला—"तौबा मेरी!"

कुबड़ी बुढ़िया हाँफती हुई आई और बच्चे के सिरहाने बैठ कर उसके माथे को धीरे-धीरे सहलाने लगी। बूढ़ा खाट के एक बाज़ू पर कोहनियाँ धरे करीम की उभड़ती और बैठती छाती को टकटकी बाँधे घूरने लगा। करीम अब इतना व्याकुल न दीखता था। बुढ़िया धीरे-धीरे फटी-फटी आवाज़ में गुनगुनाने लगी—"अलहमदोलिल्लाह रब्बुल आलमीन......!"

बूढ़े के होंठ हिलने लगे और आँखों में पानी भर आया। फिर एक साथ दोनों ने करीम के माथे पर 'छू' की। करीम की आँखें खुल गईं और बूढ़ा प्रसन्नता से काँपने लगा। जैसे उसने अपने लाल को अमृत का एक मटका पिला दिया हो।

करीम की आँख लग गई। बुढ़िया धीरे-से उठ कर देहलीज़ पर आ बैठी और बूढ़ा पीछे खसकता हुआ दीवाल से लग कर ऊँघने लगा।

२

दो साल से बूढ़ा कोई काम नहीं कर सकता था। तभी से उसका नौजवान लड़का छकड़ा चलाता था। गाँव से क़स्बे तक उसे चवन्नी मिल जाती थी। और फिर हफ़्ते में दो तीन बार,तो क़स्बे के सेठ उसे ज़रूर बुला लेते थे। महीने भर से बूढ़े माता-पिता को करीम के विवाह की चिन्ता हो गई थी, इसलिए खाने के बजाय बचाने में उन्हें मज़ा आने लगा। माँ-बाप का यह नया शौक़ देख कर करीम भी लम्बी-लम्बी यात्रा पर जाने के लिए तैयार हो जाता। बुढ़िया परसों गिरती-पड़ती गाँव की एक

लड़की के विषय में बात भी कर आई थी और उसे लड़की की माँ और दूसरे सम्बन्धियों की बातों से बहुत कुछ आशा भी बँध गई थी। क्योंकि जब वह वापस आई, और बूढ़े ने उसका हाथ पकड़ कर पूछा—"ले अब बता भी, मुँह उठाए किधर भागी जा रही है?"

बुढ़िया थूक निगलते हुए बोली—"मैं दो नफ़ल शुकराने के पढ़ लूँ, फिर बताऊँगी सारा हाल।"

बूढ़े को प्रसन्नता के आवेग में खाँसी आने लगी, और वह ज़मीन पर ज़ोर-ज़ोर से थूकते हुए बोला—"तौबा मेरी, ऐ तौबा...शुक्र है...मेरे मालिक...आख थू! शुक्र है, तौबा मेरी।"

कल शाम से करीम को बुख़ार आ रहा था। सारे गाँव में यह रोग फैला हुआ था। हर घर से बनफ़्शे के काढ़े की बू आती थी, और लोगों को चाय की चुटकियाँ देते-देते ज़ैलदार तङ्ग आ गया था। दूकानदारों ने सौंफ़ और गुलक़न्द का भाव चढ़ा दिया था। बूढ़े ने भी पुराने मैले चिथड़ों में बँधी हुई जड़ी-बूटियों को खोल कर फक्की बनाई और करीम को खिला दी। मगर उसको ऐसा ज्वर चढ़ा था; कि उसका शरीर गरम तवे की तरह जल रहा था। पहिले तो पागल हो गए दोनों। बेमतलब एक जगह से दूसरी जगह गिरते-पड़ते रेंगने लगते, और बड़बड़ाते जाते—"अब क्या होगा? नाड़ी कैसी चल रही है? साँस कैसी आ रही है? माथे पर पसीना आ गया क्या? पाँव ठण्डे हो गए? जी मतला रहा है उसका? अब क्या होगा?"

आधी रात को करीम का बुख़ार हलका हुआ, तो जान में जान आई

मगर नींद न आई। बूढ़ा खाँसते-खाँसते बेहाल हो गया। किसी ने अचानक ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाया। करीम की आँख लग रही थी, घबड़ा कर उठ बैठा और फटी-फटी आँखों से सामने घूरने लगा। बूढ़ा चिल्ला कर बोला—"ऐ, कौन है, इस वक्त? क्या काम है? दहला दिया मेरे बच्चे को।"

बाहर से एक कड़ी आवाज़ आई—"ऐ बूढ़े, मलिक जी कह रहे हैं, आज सोओगे भी, या यों ही खाँसते और खखारते रहोगे। तेरी खाँसी ने मोहल्ले-भर की नींद हराम कर रक्खी है। मलिक जी शाम से करवटें बदल रहे हैं। कहते हैं—बूढ़े को कहो, इतनी ज़ोर से न खाँसे।"

"मजाल है हुज़ूर, मजाल है मेरी, खों-खों-ख...ख (मुँह में कपड़ा ठूँस कर) मजाल है, मुझ गुलाम की, ऐ तौबा...।"

करीम ने पूछा—"क्या बात है, कौन था?"

"मलिक जी ने तुम्हारे बारे में पूछा था।"

करीम ने दो-एक बार आँखें झपकाईं और बन्द कर लीं।

मलिक जी उनके पड़ौस में रहते थे। क़स्बे में उनका बहुत बड़ा कार-बार था। ज़रा अहङ्कारी और बद-मिज़ाज थे। एक बार साहब बहादुर दौरे पर थे। मलिक साहब ने बूढ़े को बुला कर कहा—"जल्द लगान अदा करो नहीं तो साहब के सामने तुम्हें पेश कर देंगे।"

बूढ़े ने हाथ जोड़ कर कहा—"बालिश्त भर ज़मीन पर उगता ख़ाक नहीं, लगान कहाँ से अदा करूँ?"

लेकिन उन्होंने यही रट लगा रक्खी, कि साहब बहादुर के सामने पेश करूँगा। वह हवालात में बन्द करके निकाल लेंगे पैसे, तेरी गड़ी

हुई तिजोरी से। सरकार अपनी एक कौड़ी भी नहीं छोड़ सकती, तू तो सठिया गया है। और सचमुच मलिक जी ने साहब बहादुर के सामने बूढ़े-बुढ़िया को पेश कर दिया। साहब बहादुर को भी बूढ़े ने वही जवाब दिया, तो उन्होंने अपनी पतली छड़ी से बुढ़िया की बालियाँ छूते हुए कहा—"वेल, इन्हें बेच डालो, सरकार पैसा नहीं छोड़ेगा। सरकार का पैसा तुम नहीं रोको। सरकार जेल भेज डेगा। समझा तुम लोग, एं?"

साहब बहादुर ने बुढ़िया की बालियाँ क्या छुईं, बूढ़े के कलेजे पर अङ्गारा धर दिया। बूढ़ा मछली की तरह तड़प गया। बुढ़िया को इशारा किया। उसने बालियाँ नोच कर साहब बहादुर के पैरों पर डाल दीं और दोनों घर चल दिए।

"बड़ा वाहियाट है यह ओल्डमैन!"—साहब बहादुर सिगार को उँगलियों से घुमाते हुए बोले।

लेकिन बूढ़े के दिल में मानों किसी ने पिघला हुआ सीसा भर दिया था। चल खाता जा रहा था और बड़बड़ाता जा रहा था—"बड़ा आया साहब बहादुर बन कर वहाँ से, गाँव भर के सामने बालियों पर छड़ी फेरने लगा! हाकिम था, नहीं तो कमबख़्त की यों गरदन ऐंठता, कि साहब बहादुरी हवा हो जाती। पैसे की ख़ातिर मेरी इज़्ज़त पर हाथ फेरता है, उँह!" बुढ़िया बेचारी ने भी वह रात रोते-रोते बिताई।

मलिक जी ने उस दिन से उस घर से एकदम सम्बन्ध तोड़ लिया था। मगर अब इतनी दया करते थे, कि कभी-कभी करीम को बुलाने आ निकलते थे और वह दिन भर सिर पटक कर चवन्नी कमा लाता था।

आज पौ फटे करीम पर ज्वर ने फिर आक्रमण किया। एक बार दर्द की भी शिकायत हुई। मगर बूढ़े की फक्की आड़े आ गई। दोपहर को ज्वर कुछ हलका हुआ, तो बूढ़ा बाहर आ बैठा था, मगर बुढ़िया के कहने पर फिर अन्दर जाना पड़ा।

अब करीम सो रहा था। बूढ़ा दीवाल का सहारा लेता बुढ़िया के पास जा बैठा और बोला—"कितनी रक़म हो गई? हँसली बन जायगी? कड़े भी तो बनवाने हैं। और सुना है हमारी बहू सिलवार पहिनती है घेरेदार। कोई अच्छा-सा भड़कीला कपड़ा ख़रीद लें सिलवार के लिए। ये जो नए-नए कपड़े निकले हैं, इन्हीं में से छाँटना। देखो, आँच न आए मेरे लाल की जवानी पर। इसी की कमाई है; इसी पर ख़र्च हो। तुम्हें दर्द क्या? हमें तो ख़ुशी है, हमें दो वक्त के खाने से मतलब है। सो कुछ कमी नहीं, अल्लाह का फ़ज़ल है।"

बुढ़िया बोली—"साढ़े बारह रुपए हो गए थे, डेढ़ रुपए दवा-दारू और घुँघरियों में ख़र्च हुआ। पाँच आने की शकर भी लाई थी। अच्छा हो कर और कमा लायगा मेरा लाल। इधर मलिक जी से कुछ माँगा होता?"

"उलटा जूता दिखाते हैं, मलिक जी, लगान वाली बात याद है?"

बुढ़िया के कानों की लवें काँप गईं, जिनमें खुले छेद मानों पुरानी स्मृतियों को ताज़ी कर रहे थे।

कुछ देर के बाद ढ़िया अन्दर गई और फिर हाथ नचाती बाहर आ कर बोली—"उतर गया बुख़ार! चेहरे पर रौनक़ आ रही है, अब अच्छा हो जायगा!"

बूढ़ा उकड़ूँ बैठकर थूकते हुए बोला—"फक्की की करामात का मुझे यक़ीन था। तीन दिन हुए, नूरे के ऊँट के पेट में मरोड़ उठ रहा था। गुड़ में मिला कर यह फक्की खिलाई, तो उठ कर उसी समय भागने और डकराने लगा। बड़े-बूढ़ों की चुटकियाँ अकसीर होती हैं।"

दोनों अन्दर करीम के पास चले गए। करीम अब चारपाई पर उठ कर बैठ गया, और उसकी माँ बहुत देर तक उसकी पीठ और कन्धे सहलाती रही। चिराग़ जले मलिक जी आ धमके। तीनों के दिल धक् से रह गए! बूढ़े ने मुँह में कपड़ा ठूँस लिया, कि खाँस न सके। बुढ़िया परेशानी में हाथ मलने लगी, और करीम चारपाई पर से उठने की चेष्टा करने लगा।

मलिक जी बोले—"क्यों क्या है? ख़ैरियत तो है?"

"बुख़ार हो गया है इसे।"—बुढ़िया बोली।

"अब कैसा है?"

"जी, अच्छा हूँ अब तो।" करीम ने धीमी आवाज़ में कहा।

"अब अच्छा है जी।"—बूढ़ा मुँह से कपड़ा निकालते हुए बोला—"अब अच्छा है, नहीं तो हम तो निराश हो बैठे थे। क़ुरान शरीफ़ के ख़तम के इरादे कर रहे थे, हम तो।"

मालिक जी बोले—"लड़ाई की वजह से गेहूँ का भाव चढ़ गया है? मैं आज सौ बोरियाँ क़स्बे में भिजवाना चाहता हूँ। सुबह-सुबह वहाँ ज़रूर पहुँच जानी चाहिएँ। करीम अगर आ सके, तो आज रात छः आने मिलेंगे।"

"तौबा।" बूढ़ा बोला—"यह कैसे जा सकता है जी, यह तो खाट पर से मुश्किल से उठा है।"

बुढ़िया बिलबिला उठी—"साँस लेना भी दूभर है इसे। बहुत कमज़ोर है जी।"

"मैं अच्छा हूँ।" करीम बोला—"मैं चलूँगा क़स्बे को। किस वक़्त चलना होगा?"

मलिक जी ने कहा—"दूसरे छकड़े वाले तो लाद भी चुके होंगे!"

"तो मैं आया।"

मलिक जी चल दिए। बूढ़े और बुढ़िया ने करीम की खुशामद की, कि इस हालत में छः आने के लिए ठण्डी रात में सफ़र करना ख़तरे से ख़ाली नहीं है। करीम ने कहा—"कम्बल ओढ़ लूँगा।" आख़िर हम लोग ज़रा-ज़रा-सी बातों पर यूँ आराम करने लगें, तो पेट कैसे भरेगा, और हँसुलियाँ, कड़े और सिलवारें कैसे बनेंगी। मैं "सुबह लौट आऊँगा घर को। चाय भी ले आऊँगा क़स्बे से, और जिस चीज़ की ज़रूरत होगी?"

करीम उठा। वृद्ध दम्पति परेशान और चकित उसे देखते रहे। करीम ने कम्बल ओढ़ा, चेहरे पर पगड़ी का एक पल्ला फैला दिया और बाहर आ कर छकड़े के आगे बैल लगा दिए!

बूढ़ा बोला—"देख रही है री, शादी की ख़ुशी में जान की परवाह नहीं करता!"

"हाँ, कल कह रहा था, मैं कौड़ी-कौड़ी इकट्ठा करूँगा, मगर तुम्हें दम भर के लिए भी किसी का मुहताज न होने दूँगा। उसे अपने ब्याह की इतनी फ़िक्र नहीं, जितनी हमारी फ़िक्र है।"

"ऐ, तू क्या जाने ?" बूढ़ा बोला—"तू नहीं जानती, देख वह चल दिया, इलाही ख़ैर।"

"अल्लाह को सौंपा उफ़ कितनी सर्दी।"

"तौबा मेरी।"

छकड़ों की क़तार कच्ची सड़क पर चरचराती हुई चली, तो एक के बाद दूसरे, सब छकड़े वाले करीम को कोसने लगे।

"ऐ, बाग (लगाम) हिला नहीं, तो पीछे हट आ, हमें रास्ता तो दे, क्या टख-टख लगाए जा रहा है। सो रहे हैं तेरे बैल ? पीछे हट आ।"

इस तरह पीछे हटते-हटते करीम क़तार के आख़िरी सिरे पर पहुँच गया। सब छकड़े वाले, करीम सहित बोरियों पर लेटे चले जा रहे थे और अँधेरी रात पहियों की भयानक चीख़ों से गूँज रही थी।

सुबह को दिन चढ़े मलिक जी क्रोध में लाल-पीले हो कर बूढ़े के पास आए और कहने लगे—"किधर गया वह तुम्हारा लाड़ला, कहाँ फेंक आया मेरी बोरियाँ ? उसके साथी क़स्बे से हो कर आ भी गए कब के और वह अभी तक यहाँ नहीं पहुँचा। घर में तो सब कुछ नहीं डाल गया ?"—फिर मलिक जी अन्दर आ कर चारपाइयों के नीचे झाँकने लगे। "किधर मर रहा है, वह बदमाश ?"

बूढ़ा काँपते हुए बोला—"वह जी बस रात को निकला था, सबके साथ, फिर वापस नहीं आया अब तक।"

बुढ़िया बोली—"उसे सौदा ख़रीदना था क़स्बे में। अभी वापस आ जायगा।"

"मगर मेरी बोरियाँ क्या हुईं ? मलिक जी ज़ोर से पाँव को फ़र्श पर पटकते हुए गरजे !

सहसा बूढ़ा चिल्ला उठा—"वह रहा हमारा छकड़ा !"

"बोरियों सहित ।" बुढ़िया बोली ।

"और बादशाह सलामत सो रहे हैं ऊपर, ख़ुदा जाने कहाँ-कहाँ के चक्कर काट कर आ रहे हैं बैल !"—मलिक जी बोले ।

लोग छकड़े की ओर झपटे । बूढ़ा-बुढ़िया भी उनके पीछे रेंगते हुए चलने लगे ।

"ऐ हुज़ूर आली, ऐ मलिक करीम ख़ाँ, उठो जी !" मलिक जी करीम का ढका हुआ हाथ हिला-हिला कर बोले ।

उनका एक नौकर आगे बढ़ा, और करीम के चेहरे से कम्बल खींच कर पुकारा—"ऐ करीमू ! उठो भी, ऐसी भी क्या नींद हुई कि......"

"ऐ ज़रा देखना ऊपर चढ़ कर ।" मलिक जी बोले—"क्या हो गया है इसे ।"

एक आदमी छकड़े पर चढ़ गया । करीम की पुतलियाँ ऊपर चढ़ गई थीं, और पथराई हुई आँखें हड्डी के पुराने बटनों की तरह निस्तेज थीं ।

मलिक जी नाक पर रूमाल फैलाते एक तरफ़ हो कर बोले—"मर गया है !"

दूर, बूढ़ा बुढ़िया का हाथ थामे आ रहा था और पुकार रहा था—"ऐ ज़रा तेज़ चल ! तेरी आवाज़ से जाग उठेगा । क़दम तक नहीं उठा सकती तू ! नौबा मेरी......!"

शूद्रा

[स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचन्द]

माँ और बेटी एक झोंपड़ी में गाँव के उस सिरे पर रहती थीं। बेटी बाग़ से पत्तियाँ बटोर लाती, माँ भाड़ झोंकती। यही उनकी जीविका थी। सेर दो सेर अनाज मिल जाता था, खाकर पड़ रहती थीं। माता विधवा थी, बेटी क्वारी, घर में और कोई आदमी न था। माँ का नाम गंगा था, बेटी का गौरा।

गंगा को कई साल से यह चिन्ता लगी हुई थी कि कहीं गौरा की सगाई हो जाय, लेकिन कहीं बात पक्की न होती थी। अपने पति के मर जाने के बाद गंगा ने कोई दूसरा घर न किया था, न कोई दूसरा धंधा करती थी, इससे लोगों को सन्देह हो गया था कि आखिर इसका गुज़र कैसे होता है? और लोग तो छाती फाड़-फाड़ कर काम करते हैं, फिर भी पेट भर अन्न मयस्सर नहीं होता। यह स्त्री कोई धंधा नहीं करती, फिर भी माँ बेटी आराम से रहती हैं, किसी के सामने हाथ नहीं फैलातीं। इस में कुछ न कुछ रहस्य है। धीरे धीरे यह सन्देह और भी दृढ़ हो गया, और वह अब तक जीवित था। बिरादरी में कोई गौरा से सगाई करने पर राज़ी न होता था शूद्रों की बिरादरी बहुत छोटी होती है। दस पाँच कोस से

अधिक उसका क्षेत्र नहीं होता। इसलिये एक दूसरे के गुण दोष किसी से छिपे नहीं रहते, न उन पर परदा ही डाला जा सकता है।

इस भ्रान्ति को शान्त करने के लिये माँ ने बेटी के साथ कई तीर्थ यात्राएँ कीं। उड़ीसा तक हो आई, लेकिन संदेह न मिटा। गौरा युवती थी, सुन्दरी थी, पर उसे किसी ने कुएँ पर या खेतों में हँसते बोलते नहीं देखा। उसकी निगाह भी ऊपर उठती ही न थी। लेकिन यह बातें भी संदेह को और पुष्ट करती थीं। अवश्य कोई न कोई रहस्य है। कोई युवती इतनी निष्ठुर, इतनी सती नहीं हो सकती। कुछ गुप-चुप की बात अवश्य है।

यों ही दिन गुज़रते जाते थे। बुढ़िया दिन-दिन चिन्ता से घुल रही थी। उधर सुन्दरी की मुख-छबि दिन-दिन निखरती जाती थी। कली खिल कर फूल हो रही थी।

२

एक दिन एक परदेसी गाँव से होकर निकला। दस बारह कोस से आ रहा था। नौकरी की खोज में कलकत्ते जा रहा था। रात हो गई। किसी कहार का घर पूछता हुआ गंगा के घर आया। गंगा ने उसका ख़ूब आदर-सत्कार किया, उसके लिये गेहूँ का आटा लाई, घर से बरतन निकाल कर दिये। कहार ने पकाया, खाया, लेटा, बातें होने लगीं। सगाई की चर्चा छिड़ गई। कहार जवान था, गौरा पर निगाह पड़ी, उसका रंग-ढंग देखा, उसकी सलज्ज छबि आँखों में खुब गई। सगाई करने पर राज़ी हो गया। लौट कर घर चला गया, दो चार गहने अपनी बहन के यहाँ से लाया, गाँव के बज़ाज़ से कपड़े लिये और दो-चार भाई-बंदों के साथ सगाई करने आ

पहुँचा। सगाई हो गई, यहीं रहने लगा। गंगा बेटी और दामाद को आँखों से दूर न कर सकती थी।

किन्तु दस ही पाँच दिनों में मँगरू के कानों में इधर-उधर की बातें पड़ने लगीं। बिरादरी ही के नहीं, अन्य जाति वाले भी उसके कान भरने लगे। ये बातें सुन-सुन कर मँगरू पछताता था कि नाहक़ यहाँ फँसा। पर गौरा को छोड़ने का ख़्याल करके उसका दिल काँप उठता था।

एक महीने के बाद मँगरू अपनी बहन के गहने लौटाने गया। खाना खाने के समय उसका बहनोई उसके साथ भोजन करने न बैठा। मँगरू को कुछ संदेह हुआ, बहनोई से बोला— तुम क्यों नहीं आते?

बहनोई ने कहा—तुम खा लो, मैं फिर खाऊँगा।

मँगरू—बात क्या है? तुम खाने क्यों नहीं उठते?

बहनोई—जब तक पंचाइत न होगी मैं तुम्हारे साथ कैसे खा सकता हूँ। तुम्हारे लिये बिरादरी तो न छोड़ दूँगा। किसी से पूछा न गूछा जाकर एक हरजाई से सगाई कर ली।

मँगरू चौके पर से उठ आया, मिर्ज़ई पहनी और ससुराल चला आया। बहन खड़ी रोती रह गई!

उसी रात को वह किसी से कुछ कहे सुने बग़ैर, गौरा को छोड़ कर कहीं चला गया। गौरा नींद में मग्न थी। उसे क्या ख़बर थी कि वह रत्न जो मैंने इतनी तपस्या के बाद पाया है, मुझे सदा के लिये छोड़े चला जा रहा है!

३

कई साल बीत गए। मँगरू का कुछ पता न चला। कोई पत्र तक

न आया, पर गौरा बहुत प्रसन्न थी। वह माँग में सेंदूर डालती रंग-बिरंग के कपड़े पहनती और अधरों पर मिस्सी के धड़े जमाती। मँगरू भजनों की एक पुरानी किताब छोड़ गया था। उसे कभी कभी पढ़ती और गाती। मँगरू ने उसे हिन्दी सिखा दी थी। टटोल-टटोल कर भजन पढ़ लेती थी।

पहले वह अकेली बैठी रहती थी। गाँव की और स्त्रियों के साथ बोलने-चालने उसे शर्म आ आती थी। उसके पास वह वस्तु न थी जिस पर दूसरी स्त्रियाँ गर्व करती थीं। सभी अपने-अपने पति की चर्चा करतीं। गौरा का पति कहाँ था? वह किस की बातें करती? अब उसके भी पति था। अब वह अन्य स्त्रियों के साथ इस विषय पर बात-चीत करने की अधिकारिणी थी। वह भी मँगरू की चर्चा करती, मँगरू कितना स्नेहशील है, कितना सज्जन, कितना वीर! पति-चर्चा से उसे कभी तृप्ति ही न होती थी।

स्त्रियाँ पूछतीं—मँगरू तुझे छोड़ कर क्यों चले गए?

गौरा कहती—क्या करते! मर्द कभी ससुराल में पड़ा रहता है, देश-परदेश में निकल कर चार पैसे कमाना ही तो मर्दों का काम है, नहीं तो मान-मरजाद का निबाह कैसे हो?

जब कोई पूछता चिट्ठी पत्री क्यों नहीं भेजते? तो हँस कर कहती—अपना पता ठिकाना बताते डरते हैं। जानते हैं न कि गौरा आकर सिर पर सवार हो जायगी। सच कहती हूँ उनका पता ठिकाना मालूम हो जाय तो यहाँ मुझ से एक दिन भी न रहा जाय। वह बहुत अच्छा करते हैं कि मेरे पास चिट्ठी पत्री नहीं भेजते। बिचारे परदेश में कहाँ पर गिरस्ती सँभालते फिरेंगे।

एक दिन किसी सहेली ने कहा—हम न मानेंगे, तुझसे ज़रूर मँगरू से झगड़ा हो गया, नहीं तो बिना कुछ कहे सुने क्यों चले जाते।

गौरा ने हँसकर कहा—बहन अपने देवता से भी कोई झगड़ा करता है। वह मेरे मालिक हैं, भला मैं उनसे झगड़ा करूँगी। जिस दिन झगड़े की नौबत आएगी कहीं डूब मरूँगी। मुझ से कह के जाने पाते? मैं उनके पैरों से लिपट न जाती।

४

एक दिन कलकत्ते से एक आदमी आकर गंगा के घर ठहरा। पास ही के किसी गाँव में अपना घर बताया। कलकत्ते में वह मँगरू के पड़ोस ही में रहता था। मँगरू ने उस से गौरा को अपने साथ लाने को कहा था। दो साड़ियाँ और राह खर्च के लिए कुछ रुपए भी भेजे थे। गौरा फूली न समाई। बूढ़े ब्राह्मण के साथ चलने को तैयार हो गई। चलते वक्त वह गाँव की सब औरतों से गले मिली। गंगा उसे स्टेशन तक पहुँचाने गई। सब कहते थे बिचारी लड़की के भाग जाग गए, नहीं तो यहाँ कुढ़ कुढ़ कर मर जाती।

रास्ते भर गौरा सोचती जाती थी—न जाने वह कैसे हो गए होंगे। अब तो मूछें अच्छी तरह निकल आई होंगी। परदेस में आदमी सुख से रहता है। देह भर आई होगी। बाबू साहब हो गए होंगे। मैं पहले दो तीन दिन उन से बोलूँगी ही नहीं। फिर पूछूँगी तुम मुझे छोड़ कर क्यों चले गए? अगर किसी ने मेरे बारे में कुछ बुरा भला कहा ही था तो तुमने उसका विश्वास क्यों कर लिया। तुम अपनी आँखों से न देख कर दूसरों के कहने पर क्यों गए? मैं भली हूँ, या बुरी हूँ, हूँ तो तुम्हारी,

तुमने मुझे इतने दिनों रुलाया क्यों ? तुम्हारे बारे में अगर इसी तरह कोई मुझसे कहता तो क्या मैं तुम को छोड़ देती ? जब तुमने मेरी बाँह पकड़ ली तो तुम मेरे हो गए। फिर तुम में लाख ऐब हों मेरी बला से, चाहे तुम तुर्क ही क्यों न हो जाओ, मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकती, तुम क्यों मुझे छोड़ कर भागे ? क्या समझते थे भागना सहज है ? आखिर झक मार कर बुलाया कि नहीं ? कैसे न बुलाते ? मैं ने तो तुम्हारे ऊपर दया की कि चली आई, नहीं कह देती कि मैं ऐसे निर्दई के पास नहीं जाती, तो तुम आप दौड़ आते। तप करने से तो देवता भी मिल जाते हैं, आकर सामने खड़े हो जाते हैं, तुम कैसे न आते ? वह बार-बार उद्विग्न हो हो कर बूढ़े ब्राह्मण से पूछती अब कितनी दूर है ? क्या धरती के ओर पर रहते हैं क्या ? और भी कितनी ही बातें वह पूछना चाहती थी लेकिन संकोच वश न पूछ सकती थी। मन ही मन अनुमान करके अपने को संतुष्ट कर लेती थी। उनका मकान बड़ा सा होगा, शहर में लोग पक्के घरों में रहते हैं। जब उनका साहब इतना मानता है तो नौकर भी होगा। मैं नौकर को भगा दूँगी। मैं दिन भर पड़े-पड़े क्या किया करूँगी ?

बीच-बीच में उसे घर की याद भी आ जाती थी। बिचारी अम्माँ रोती होंगी। अब उन्हें घर का सारा काम आप ही करना पड़ेगा। न जाने बकरियों को चराने ले जाती हैं या नहीं। बिचारी दिन भर-में करती होंगी। मैं अपनी बकरियों के लिये महीने महीने रुपए भेजूँगी। जब कलकत्ते से लौटूँगी तो सब के लिए साड़ियाँ लाऊँगी। तब मैं इस तरह थोड़े ही लौटूँगी। मेरे साथ बहुत सा असबाब होगा। सब के

लिए कोई न कोई सौगात लाऊँगी तब तक तो बहुत सी बकरियाँ हो जायँगी।

यही सुख-स्वप्न देखते-देखते गौरा ने सारा रास्ता काट दिया। पगली क्या जानती थी कि मेरे मन कुछ और है, कर्ता के मन कुछ और। क्या जानती थी कि बूढ़े ब्राह्मणों के भेष में भी पिशाच होते हैं। मन की मिठाई खाने में मगन थी!

५

तीसरे दिन गाड़ी कलकत्ते पहुँची। गौरा की छाती धड़धड़ करने लगी। वह यहीं कहीं खड़े होंगे। अब आते ही होंगे। यह सोच कर उसने घूँघट निकाल लिया और सँभल बैठी। मगर मँगरू वहाँ न दिखाई दिया। बूढ़ा ब्राह्मण बोला—मँगरू तो यहाँ नहीं दिखाई देता, मैं चारों ओर छान आया। शायद किसी काम में लग गया होगा, आने की छुट्टी न मिली होगी। मालूम भी तो नहीं कि हम लोग किस गाड़ी से आ रहे हैं। उनकी राह क्यों देखें चलो डेरे पर चलें।

दोनों गाड़ी पर बैठ कर चले। गौरा कभी ताँगे पर न सवार हुई थी। उसे गर्व हो रहा था कि कितने ही बाबू लोग पैदल जा रहे हैं, मैं ताँगे पर बैठी हूँ।

एक क्षण में गाड़ी मँगरू के डेरे पर पहुँच गई। एक विशाल भवन था, अहाता साफ़-सुथरा, सायबान में फूलों के गमले रखे हुए थे। ऊपर चढ़ने के लिये संगमरमर की सीढ़ी थी। गौरा ब्राह्मण के साथ ऊपर चढ़ने लगी। विस्मय, आनन्द और आशा से उसे अपनी सुधि ही न थी। सीढ़ियों पर चढ़ते चढ़ते पैर दुखने लगे। यह सारा महल उनका

है ? केराया बहुत देना पड़ता होगा। रुपए को तो कुछ समझते ही नहीं। उसका हृदय धड़क रहा था कि कहीं मँगरू ऊपर से उतरते आ न रहे हों। सीढ़ी पर भेंट हो गई तो मैं क्या करूँगी। भगवान करे वह सोते हों तब मैं जगाऊँ और वह मुझे देखते ही हड़बड़ा कर उठ बैठें। आखिर सीढ़ियों का अंत हुआ। ऊपर एक कमरे में गौरा को लेजा कर ब्राह्मण देवता ने बिठा दिया। यही मँगरू का डेरा था। मगर मँगरू यहाँ भी नदारद! कोठरी में केवल एक खाट पड़ी हुई थी। एक किनारे दो चार बरतन रक्खे हुए थे। यही उनकी कोठरी है! तो मकान किसी दूसरे का है, उन्होंने यह कोठरी केराए पर ली होगी। देखती हूँ चूल्हा ठंडा पड़ा हुआ है, मालूम होता है रात को बज़ार में पूरियाँ खाकर सो रहे होंगे। यही उनके सोनेकी खाट है। एक किनारे घड़ा रक्खा हुआ था। गौरा का मारे प्यास के तालू सूख रहा था। घड़े से पानी उँडेल कर पिया। एक किनारे एक झाड़ू रक्खा हुआ था। गौरा रास्ते की थकी थी, पर प्रेमोल्लास में थकन कहाँ! उसने कोठरी में झाड़ू लगाया, बरतनों को धो-धो कर एक जगह रक्खा। कोठरी की एक-एक वस्तु, यहाँ तक कि उसकी फ़र्श और दीवारों में उसे आत्मीयता की झलक दिखाई देती थी। उस घर में भी, जहाँ उसने अपने जीवन के २५ वर्ष काटे थे, उसे अधिकार का ऐसा गौरवयुक्त आनन्द न प्राप्त हुआ था।

मगर उस कोठरी में बैठे-बैठे उसे संध्या हो गई और मँगरू का कहीं पता नहीं। अब छुट्टी मिली होगी। साँझ को सब जगह छुट्टी होती है। अब वह आ रहे होंगे। मगर बूढ़े बाबा ने उनसे कह तो दिया

ही होगा, क्या वह अपने साहब से थोड़ी देर की छुट्टी न ले सकते थे? कोई बात होगी, तभी तो नहीं आए।

अँधेरा हो गया। कोठरी में दीपक न था। गौरा द्वार पर खड़ी पति की बाट देख रही थी। ज़ीने पर बहुत से आदमियों के चढ़ने उतरने की की आहट मिलती थी, बार बार गौरा को मालूम होता था वह आ रहे हैं, पर इधर कोई न आता था।

९ बजे बूढ़े बाबा आए। गौरा ने समझा मँगरू हैं झपट कर कोठरी के बाहर निकल आई। देखा तो ब्राह्मण। बोली—वह कहाँ रह गए?

बूढ़ा—उनकी तो यहाँ से बदली हो गई। दफ़्तर में गया था तो मालूम हुआ कि वह कल अपने साहब के साथ यहाँ से कोई ८ दिन की राह पर चले गए। उन्होंने साहब से बहुत कुछ हाथ पैर जोड़े कि मुझे १० दिन की मुहलत दे दीजिए, लेकिन साहब ने एक न मानी। मँगरू यहाँ लोगों से कह गए हैं कि घर के लोग आएँ तो मेरे पास भेज देना। अपना पता दे गए हैं। कल मैं तुम्हें यहाँ से जहाज़ पर बैठा दूँगा। उस जहाज़ पर हमारे देश के और भी बहुत से आदमी होंगे, इस लिए मार्ग में कोई कष्ट न होगा।

गौरा ने पूछा—के दिन में जहाज़ पहुँचेगा?

बूढ़ा ८, १० दिन से कम न लगेंगे, मगर घबराने की कोई बात नहीं। तुम्हें किसी बात की तकलीफ़ न होगी।

३

अब तक गौरा को अपने गाँव लौटने की आशा थी। कभी न कभी वह अपने पति को वहाँ अवश्य खींच ले जायगी। लेकिन जहाज़ पर बैठ

कर उसे ऐसा मालूम हुआ कि अब फिर माता को न देखूँगी, फिर गाँव के दर्शन न होंगे, देश से सदा के लिये नाता टूट रहा है। वह देर तक घाट पर खड़ी रोती रही, जहाज़ और समुद्र देख कर उसे भय हो रहा था, हृदय दहला जाता था।

शाम को जहाज़ खुला। उस समय गौरा का हृदय एक अलक्ष्य भय से चंचल हो उठा। थोड़ी देर के लिये नैराश्य ने उस पर अपना आतंक जमा दिया। न जाने किस देश जा रही हूँ, उनसे वहाँ भेंट भी होगी या नहीं। उन्हें कहाँ खोजती फिरूँगी कोई पता ठिकाना भी तो नहीं मालूम। बार बार पछताती कि एक दिन पहले क्यों न चली आई। कलकत्ते में भेंट हो जाती तो मैं उन्हें वहाँ कभी न जाने देती।

जहाज़ पर और भी कितने ही मुसाफ़िर थे। कुछ स्त्रियाँ भी थीं उनमें बराबर गाली-गलौज होती रहती थी, इसलिये गौरा को उनसे बातें करने की इच्छा न होती थी। केवल एक स्त्री उदास दिखाई देती थी। रंग-ढंग से वह किसी भले घरकी स्त्री मालूम होती थी। गौरा ने उस से पूछा—तुम कहाँ जाती हो बहन ?

उस स्त्रीकी बड़ी-बड़ी आँखे सजल हो गईं। बोली—कहाँ बताऊँ बहन, कहाँ जा रही हूँ। जहाँ भाग्य लिये जाता है वहीं जा रही हूँ। जहाँ जाने की स्वप्न में भी कल्पना न थी वहीं जा रही हूँ। तुम कहाँ जाती हो ?

गौरा—मैं तो अपने मालिक के पास जा रही हूँ। जहाँ यह जहाज़ रुकेगा वहीं वह नौकर हैं। मैं कल आ जाती तो उन से कलकत्ते में भेंट हो जाती। आने में देर हो गई। क्या जानती थी कि वह इतनी दूर चले जायँगे नहीं क्यों देर करती !

स्त्री—अरे बहन, कहीं तुम्हें भी तो कोई बहका कर नहीं लाया है ? तुम घर से किसके साथ आई हो ?

गौरा—मेरे मालिक ने तो कलकत्ता से आदमी भेज कर मुझे बुलाया था।

स्त्री—वह आदमी तुम्हारी जान-पहचान का था ?

गौरा—नहीं, उसी तरफ़ का एक बूढ़ा ब्राह्मण था।

स्त्री—वही लम्बा सा, दुबला-पतला लक-लक बुड्ढा, जिसकी एक आँख में फूली पड़ी हुई है ?

गौरा—हाँ हाँ वही, क्या तुम उसे जानती हो ?

स्त्री—उसी दुष्ट ने तो मेरा भी सर्वनाश किया है। ईश्वर करे उसकी सातों पुश्तें नरक भोगें, उसका निर्वंश हो जाय, कोई पानी देनेवाला न रहे, कोढ़ी हो कर मरे। मैं अपना वृत्तान्त सुनाऊँ तो तुम समझोगी झूठी है। किसी को विश्वास न आएगा। क्या कहूँ, बस यही समझ लो कि इसके कारण मैं न घर की रह गई न घाट की। किसी को मुँह नहीं दिखा सकती। मगर जान तो बड़ी प्यारी होती है। मिरिच के देश जा रही हूँ कि वहीं मेहनत मजूरी करके जीवन के दिन काटूँ।

गौरा के प्राण नहों में समा गए। मालूम हुआ जहाज़ अथाह जल में डूबा जा रहा है। समझ गई कि बूढ़े ब्राह्मण ने दगा की। अपने गाँव में सुना करती थी कि ग़रीब लोग मिरिच में भरती होने जाया करते हैं। मगर जो वहाँ जाता है फिर नहीं लौटता। हा भगवान तुम ने मुझे किस पाप का यह दण्ड दिया ? बोली—बहन यह तब क्यों लोगों को इस तरह छल कर मिरिच भेजते हैं ?

स्त्री—रुपए के लोभ से, और किस लिए। सुनती हूँ आदमी पीछे इन सभों को कुछ रुपए मिलते हैं।

गौरा—तो बहन वहाँ हमें क्या करना पड़ेगा?

स्त्री—मजूरी।

गौरा सोचने लगी अब क्या करूँ। वह आशा-नौका, जिस पर बैठी हुई वह चली जा रही थी, टूट गई थी, और अब समुद्र की लहरों के सिवा उसकी रक्षा करने वाला कोई न था। जिस आधार पर उसने अपना जीवन-भवन बनाया था वह जल-मग्न हो गया। अब उसके लिये जल के सिवा और कहाँ आश्रय है। उसको अपनी माता की, अपने घर की, अपने गाँव की, सहेलियों की याद आई और ऐसी घोर मर्म वेदना होने लगी मानों कोई सर्प अंतस्तल में बैठा हुआ बार-बार डस रहा हो। भगवान! अगर मुझे यही यातना देनी थी तो तुमने मुझे जन्म ही क्यों दिया था। तुम्हें दुखियों पर दया नहीं आती! जो पिसे हुए हैं उन्हीं को पीसते हो! करुणा स्वर से बोली—तो अब क्या करना होगा बहन?

स्त्री—यह तो वहाँ पहुँच कर मालूम होगा। अगर मजूरी ही करनी पड़े तो कोई बात नहीं, लेकिन अगर किसी ने कुदृष्टि से देखा तो मैंने निश्चय कर लिया है कि या तो उसी के प्राण ले लूँगी या अपने ही प्राण दे दूँगी।

यह कहते-कहते उसे अपना वृतान्त सुनाने की वह उत्कृष्ट इच्छा हुई, जो दुखियों को हुआ करती है। बोली—मैं बड़े घरकी बेटी और उससे भी बड़े घर की बहू हूँ पर अभागिनी? विवाह के तीसरे ही साल पति देव का देहान्त हो गया। चित्त की कुछ ऐसी दशा हो गई कि

नित्य मालूम होता, वह मुझे बुला रहे हैं। पहले तो आँख झपकते ही उनकी मूर्ति सामने आ जाती थी, लेकिन फिर तो यह दशा हो गई कि जाग्रत दशा में भी रह-रह कर उनके दर्शन होने लगे। बस यही जान पड़ता कि वह साक्षात खड़े बुला रहे हैं। किसी से शर्म के मारे कहती न थी, पर मन में यह शंका होती थी कि अब उनका देहावसान हो गया है तो वह मुझे दिखाई कैसे देते हैं? मैं इसे भ्रान्ति समझ कर चित्त को शांत न कर सकती थी। मन कहता था जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है, वह मिल क्यों नहीं सकती। केवल वह ज्ञान चाहिए। साधु महात्माओं के सिवा ज्ञान और कौन दे सकता है? मेरा तो अब भी विश्वास है कि ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनसे हम मरे हुए प्राणियों से बात-चीत कर सकते हैं, उनको स्थूल रूप में देख सकते हैं। महात्माओं की खोज में रहने लगी। मेरे यहाँ अकसर साधु-संत आते रहते थे, उनसे इस विषय पर एकान्त में बातें किया करती थी, पर वे लोग सदुपदेश देकर मुझे टाल देते थे। मुझे सदुपदेशों की ज़रूरत न थी। मैं वैधव्य-धर्म खूब जानती थी। मैं तो वह ज्ञान चाहती थी जो जीवन और मरण के बीच का परदा उठा दे। तीन साल तक मैं इसी खोज में लगी रही। दो महीने होते हैं, वही बूढ़ा ब्राह्मण सन्यासी बना हुआ मेरे यहाँ जा पहुँचा। मैंने इससे भी वही भिक्षा माँगी। इस धूर्त ने कुछ ऐसा मायाजाल फैलाया कि मैं आँखें रहते हुए भी, फँस गई। अब सोचती हूँ तो अपने ही ऊपर आश्चर्य होता है कि मुझे उसकी बातों पर इतना विश्वास हुआ। मैं पति-दर्शन के लिए सब कुछ झेलने को, सब कुछ करने को, तैयार थी। इसने मुझे रात को अपने पास बुलाया। मैं

घर वालों से पड़ोसिन के घर जाने का बहाना करके इसके पास गई। एक पीपल के नीचे इसकी धूईं जल रही थी। उस विमल चाँदनी में यह धूर्त जटाधारी ज्ञान और योग का देवता सा मालूम होता था। मैं आकर धुईं के पास खड़ी हो गई। उस समय यदि बाबा जी मुझे आग में कूद पड़ने की आज्ञा देते तो मैं तुरंत कूद पड़ती। इसने मुझे बड़े प्रेम से बैठाया और मेरे सिर पर हाथ रख कर न जाने क्या कर दिया कि मैं बेसुध हो गई। फिर मुझे कुछ नहीं मालूम कि मैं कहाँ गई, क्या हुआ। जब मुझे होश आया तो मैं रेल पर सवार थी। जी में आया चिल्लाऊँ पर यह सोच कर कि अब अगर गाड़ी रुक भी गई, और मैं उतर भी पड़ी तो घर में घुसने न पाऊँगी, मैं चुप-चाप बैठी रह गई। मैं परमात्मा की दृष्टि में निर्दोष थी, पर संसार की दृष्टि में तो कलंकित हो चुकी थी। रात को किसी युवती का घर से निकल जाना कलंकित करने के लिये काफ़ी था। जब मालूम हो गया कि अब मुझे मिर्च के टापू में भेज रहे हैं तो मैंने ज़रा भी आपत्ति नहीं की। मेरे लिए अब सारा संसार एक सा है। जिसका संसार में कोई न हो उसके लिये देश-परदेश दोनों बराबर हैं। हाँ यह पक्का निश्चय कर चुकी हूँ कि मरते दम तक अपने सत की रक्षा करूँगी। विधि के हाथ में मृत्यु से बढ़ कर कोई यातना नहीं। विधवा के लिये मृत्यु का क्या भय। उसका तो जीना और मरना दोनों बराबर है। बल्कि मर जाने से जीवन की विपत्तियों का तो अंत हो जाएगा।

गौरा ने सोचा इस स्त्री में कितना धैर्य्य और साहस है। फिर मैं क्यों इतनी कातर और निराश हो रही हूँ। जब जीवन की अभिलाषाओं

का अंत हो गया तो जीवन के अंत का क्या डर। बोली—बहन हम और तुम एक ही जगह रहेंगी। मुझे तो अब तुम्हारा ही भरोसा है।

स्त्री ने कहा—ईश्वर पर भरोसा रक्खो और मरने से मत डरो।

सघन अन्धकार छाया हुआ था। ऊपर काला आकाश था, नीचे काला जल। गौरा आकाश की ओर ताक रही थी, उसकी संगिनी जल की ओर। उसके सामने आकाश के कुसुम थे, इसके सामने अनन्त, अखंड, अपार अन्धकार था!

जहाज़ से उतरते ही एक आदमी ने यात्रियों के नाम लिखने शुरू किए। उसका पहनावा तो अँग्रेज़ी था पर वह बात-चीत से हिन्दुस्तानी मालूम होता था। गौरा सिर झुकाए अपनी संगिनी के पीछे खड़ी थी। उस आदमी की आवाज़ सुन कर वह चौंक पड़ी। उसने दबी आँखों से उसकी ओर देखा। उसके समस्त शरीर में सनसनी दौड़ गई। क्या स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ? आँखों पर विश्वास न आया; फिर उस पर निगाह डाली। उसकी छाती वेग से धड़कने लगी। पैर थर-थर काँपने लगे। ऐसा मालूम हुआ मानो चारों ओर जल ही जल है, और मैं उसमें बही जा रही हूँ। उसने अपनी संगिनी का हाथ पकड़ लिया, नहीं तो ज़मीन पर गिर पड़ती। उसके सम्मुख वही पुरुष खड़ा था जो उसका प्राणाधार था और जिस से इस जीवन में भेंट होने की उसे लेश मात्र भी आशा न थी। यह मँगरू था, इसमें ज़रा भी सन्देह न था। हाँ उसकी सूरत बदल गई थी। यौवन काल का वह कान्तिमय साहस, सदय छवि, नाम को भी न थी। बाल खिचड़ी हो गए थे, गाल चिपके हुए, लाल आँखों से कुवासना और कठोरता झलक रही थी। पर था

वह मँगरु। गौरा के जी में प्रबल इच्छा हुई कि स्वामी के पैरों में लिपट जाऊँ, चिल्लाने को जी चाहा, पर सङ्कोच ने मन को रोका। बूढ़े ब्राह्मण ने बहुत ठीक कहा था। स्वामी ने अवश्य मुझे बुलाया था और मेरे आने से पहले यहाँ चले आए। उसने अपनी सङ्गिनी के कान में कहा—बहन, तुम उस ब्राह्मण को व्यर्थ ही बुरा कह रही थीं। वह तो यह हैं जो जात्रियों के नाम लिख रहे हैं।

स्त्री—सच, ख़ूब पहचानती हो।

गौरा—बहन, क्या इसमें भी धोखा हो सकता है?

स्त्री—तब तो तुम्हारे भाग जाग गए। मेरी भी सुध लेना।

गौरा—भला बहन ऐसा भी हो सकता है, कि यहाँ तुम्हें छोड़ दूँ।

मँगरू यात्रियों से बात-बात पर बिगड़ पड़ता, बात-बात पर गालियाँ देता था, कई आदमियों को ठोकरें मारीं और कई को केवल अपने गाँव का ज़िला न बता सकने के कारण धक्का देकर गिरा दिया। गौरा मन ही मन गड़ी जाती थी। साथ ही अपने स्वामी के अधिकार पर उसे गर्व भी हो रहा था। आख़िर मँगरू उसके सामने आकर खड़ा हो गया और कुचेष्टापूर्ण नेत्रों से देख कर बोला—तुम्हारा क्या नाम है?

गौरा ने कहा—गौरा।

मँगरू चौंक पड़ा; फिर बोला—घर कहाँ है?

गौरा ने कहा—मदनपुर, ज़िला बनारस।

यह कहते-कहते-उसे हँसी आ गई। मँगरू ने अब की उसकी ओर ध्यान से देखा, तब लपक कर उसका हाथ पकड़ लिया और बोला—गौरा! तुम यहाँ कहाँ? मुझे पहचानती हो?

गौरा रो रही थी, मुँह से बात न निकली।

मँगरू फिर बोला—तुम यहाँ कैसे आईं?

गौरा खड़ी हो गई, आँसू पोंछ डाले और मँगरू की ओर देख कर बोली—तुम्हीं ने तो बुला भेजा था।

मँगरू—मैंने! मैं तो सात साल से यहाँ हूँ।

गौरा—तुमने उस बूढ़े ब्राह्मण से मुझे लाने को नहीं कहा था।

मँगरू—कह तो रहा हूँ मैं सात साल से यहाँ हूँ और मरने पर ही यहाँ से जाऊँगा। भला तुम्हें क्यों बुलाता।

गौरा को मँगरू से इस निष्ठुरता की आशा न थी। उसने सोचा अगर यह सत्य भी हो कि इन्होंने मुझे नहीं बुलाया, तो भी इन्हें मेरा यों अपमान न करना चाहिए था। क्या यह समझते हैं कि मैं इनकी रोटियों पर आई हूँ। यह तो इतने ओछे स्वभाव के न थे। शायद दरजा पाकर इन्हें मद हो गया है। नारि-सुलभ अभिमान से गर्दन उठाकर उसने कहा—तुम्हारी इच्छा हो तो अब भी लौट जाऊँ! तुम्हारे ऊपर भार बनना नहीं चाहती।

मँगरू कुछ लज्जित होकर बोला—अब तुम यहाँ से लौट नहीं सकतीं गौरा! यहाँ आकर बिरला ही कोई लौटता है।

यह कह कर वह कुछ देर चिन्ता में मग्न खड़ा रहा, मानों संकट में पड़ा हुआ हो कि क्या करना चाहिए। उसकी कठोर मुखाकृति पर

दीनता का रङ्ग झलक पड़ा। तब कातर स्वर से बोला, जब आ गई हो तो रहो। जैसी कुछ पड़ेगी देखी जायगी।

गौरा—जहाज़ फिर कब लौटेगा?

मँगरू—तुम यहाँ से पाँच बरस के पहले नहीं जा सकतीं।

गौरा—क्यों क्या कुछ ज़बरदस्ती है।

मँगरू—हाँ, यहाँ का यही हुक्म है।

गौरा—तो फिर मैं अलग मजूरी करके अपना पेट पालूँगी।

मँगरू ने सजल नेत्र होकर कहा—जब तक मैं जीता हूँ, तुम मुझ से अलग नहीं रह सकतीं।

गौरा—तुम्हारे ऊपर भार बन कर न रहूँगी।

मँगरू—मैं तुम्हें भार नहीं समझता गौरा, लेकिन यह जगह तुम-जैसी देवियों के रहने लायक़ नहीं है, नहीं तो अब तक मैंने तुम्हें कब का बुला लिया होता। वही बूढ़ा आदमी जिसने तुम्हें बहकाया, मुझे घर से आते समय पटने में मिल गया और झाँसे देकर मुझे यहाँ भरती करा दिया। तब से यहीं पड़ा हुआ हूँ। चलो मेरे घर में रहो, वहाँ बातें होंगी। यह दूसरी औरत कौन है?

गौरा—यह मेरी सखी हैं। इन्हें भी वही बूढ़ा बहका लाया है।

मँगरू—यह तो किसी कोठी में जाएँगी। इन सब आदमियों की बाँट होगी। जिसके हिस्से में जितने आदमी आएँगे उतने हरेक कोठी में भेजे जाएँगे।

गौरा—यह तो मेरे साथ रहना चाहती हैं।

मँगरू—अच्छी बात है, इन्हें भी लेती चलो।

यात्रियों के नाम तो लिखे ही जा चुके थे, मँगरू ने उन्हें एक चपरासी को सौंप कर दोनों औरतों के साथ घर की राह ली। दोनों ओर सघन वृक्षों की क़तारें थीं। जहाँ तक निगाह जाती थी, ऊख ही ऊख दिखाई देती थी। समुद्र की ओर से शीतल, निर्मल वायु के झोंके आ रहे थे। अत्यन्त सुरम्य दृश्य था। पर मँगरू की निगाह उस ओर न थी। वह भूमि की ओर ताकता, सिर झुकाए संदिग्ध चाल से चला जा रहा था। मानों मन ही मन कोई समस्या हल कर रहा है।

थोड़ी दूर गए थे कि सामने से दो आदमी आते हुए दिखाई दिए। समीप आकर दोनों रुक गए और एक ने हँसकर कहा—मँगरू इनमें से एक हमारी है।

मँगरू ने कुछ जवाब न दिया मानों उसने बात ही न सुनी। उस आदमी ने फिर कहा—सुनते हो कि नहीं कि इनमें से एक हमारी है।

दूसरा बोला—और दूसरी मेरी।

मँगरू का चेहरा तमतमा उठा। भीषण क्रोध से काँपता हुआ बोला—यह दोनों मेरे घर की औरतें हैं। समझ गए?

इस पर दोनों ने ज़ोर से क़हक़हा मारा और एक ने गौरा के समीप आकर उसका हाथ पकड़ने की चेष्टा करके कहा—यह मेरी है, चाहे तुम्हारे घर की हो चाहे बाहर की। बचा हमें चकमा देते हो।

मँगरू—क़ासिम इन्हें मत छेड़ो नहीं तो अच्छा न होगा। मैंने कह दिया, मेरे घर की औरतें हैं।

मँगरू की आँखों से अग्नि ज्वाला-सी निकल रही थी। वह मानो उसके मुख का भाव देखकर कुछ सहम गया और समझ लेने की धमकी

देकर दोनों आगे बढ़े। किन्तु मँगरू के आघात क्षेत्र से बाहर पहुँचते ही एक ने पीछे से ललकार कर कहा, देखें कहाँ लेके जाते हो।

मँगरू ने उधर ध्यान न दिया। ज़रा क़दम बढ़ा कर चलने लगा, जैसे संध्या के एकान्त में हम क़बरिस्तान के पास से गुज़रते हैं, हमें पग-पग पर यह शङ्का होती है कि कोई शब्द कान में न पड़ जाय, कोई सामने आकर खड़ा न हो जाय, कोई ज़मीन के नीचे से कफ़न ओढ़े उठ खड़ा न हो।

गौरा ने कहा—यह दोनों बड़े सोहदे थे।

मँगरू—और मैं किस लिए कह रहा था कि यह जगह तुम-जैसी स्त्रियों के रहने लायक़ नहीं है।

सहसा दाहनी तरफ़ से एक अङ्गरेज़ घोड़ा दौड़ाता हुआ आ पहुँचा—वेल जमादार यह दोनों औरतें हमारे कोठी में रहेगा। हमारे कोठी में कोई औरत नहीं है।

मँगरू ने दोनों औरतों को अपने पीछे कर लिया और सामने खड़ा होकर बोला—साहब यह दोनों हमारे घर की औरतें हैं।

साहब—ओ हो! तुम झूठा आदमी। हमारे कोठी में कोई औरत नहीं और तुम दो ले जायगा। ऐसा नहीं हो सकता। (गौरा की ओर इशारा करके) इसको हमारे कोठी पर पहुँचा दो।

मँगरू—हम कह रहे हैं, कि यह दोनों हमारे घर की औरतें हैं।

साहब—कुछ परवा नहीं, हमारे कोठी में पहुँचा दो। मँगरू ने सिर से पैर तक काँपते हुए कहा—ऐसा नहीं हो सकता।

मगर साहब आगे बढ़ गया था, उसके कान में बात न पहुँची। उसने हुक्म दे दिया था और उसकी तामील करना जमादार का काम था।

शेष मार्ग निर्विघ्न समाप्त हुआ। आगे मजूरों के रहने के मिट्टी के घर थे। द्वारों पर स्त्री-पुरुष जहाँ-तहाँ बैठे हुए थे। सभी इन दोनों स्त्रियों की ओर घूरते थे और आपस में इशारे करके हँसते थे। गौरा ने देखा उनको छोटे-बड़े का लिहाज़ नहीं है और न किसी की आँख में शर्म है।

एक भद्दी औरत ने हाथ पर चिलम पीते हुए अपनी पड़ोसिन से कहा—चार दिन की चाँदनी फिर अँधेरा पाख।

दूसरी अपनी चोटी गूँथती हुई बोली—कलोर हैं न!

८

मँगरू दिन भर द्वार पर बैठा रहा मानों कोई किसान अपने मटर के खेत की रखवाली कर रहा हो। कोठरी में दोनों स्त्रियाँ बैठीं अपने नसीबों को रो रही थीं। इतनी ही देर में दोनों को यहाँ की दशा का परिचय हो गया था, दोनों भूखी प्यासी बैठी थीं। यहाँ का रंग देख कर भूख-प्यास सब भाग गई थी।

रात के १० बजे होंगे कि एक सिपाही ने आकर मँगरू से कहा—चलो तुम्हें एजेन्ट साहब बुला रहे हैं।

मँगरू ने बैठे-बैठे कहा—देखो नब्बी, तुम भी हमारे देश के आदमी हो। कोई मौक़ा पड़े तो हमारी मदद करोगे न? जाकर साहब से कह दो मँगरू कहीं गया है। बहुत होगा जुरबाना कर देंगे।

नब्बी—न भैया, गुस्से में भरा बैठा है, पिए हुए है, कहीं मार चले तो बस, यहाँ चमड़ा इतना मज़बूत नहीं है।

मँगरू—अच्छा तो जाकर कह दो नहीं आता।

नब्बी—मुझे क्या, जाकर कह दूँगा, पर तुम्हारी ख़ैरियत नहीं है।

मँगरू ने ज़रा देर सोच कर लकड़ी उठाई और नब्बी के साथ साहब के बँगले पर चला। यह वही साहब थे जिनसे आज मँगरू की भेंट हुई थी। मँगरू जानता था कि साहब से बिगाड़ करके यहाँ एक क्षण भी निर्वाह नहीं हो सकता। जाकर साहब के सामने खड़ा हो गया।

मँगरू—हुज़ूर वह मेरी ब्याहता औरत है।

साहब—अच्छा वह दूसरा कौन है?

मँगरू—मेरी सगी बहन है हुज़ूर।

साहब—हम कुछ नहीं जानता। तुम को लाना पड़ेगा। दो में कोई, दो में कोई!

मँगरू—एजेण्ट के पैरों पर गिर पड़ा और रो-रो कर अपनी सारी राम-कहानी सुना गया। पर साहब ज़रा भी न पसीजे। अन्त में वह बोला—हुज़ूर वह दूसरी औरतों की तरह नहीं हैं। अगर यहाँ आ भी गई तो प्राण दे देंगी।

साहब ने हँसकर कहा—ओ जान देना इतना आसान है?

नब्बी—मँगरू तुम अपनी दाँव रोते क्यों हो तुम हमारे घर में नहीं घुसे थे। अब भी जब घात पाते हो जा पहुँचते हो, अब रोते क्यों हो?

एजेण्ट—ओ; यह बदमाश है। अभी जाकर लाओ नहीं तो हम तुमको हण्टरों से पीटेगा।

मँगरू—हुज़ूर जितना चाहें पीट लें, मगर मुझसे वह काम करने को न कहें जो मैं जीते-जी नहीं कर सकता।

एजेण्ट—हम एक सौ हण्टर मारेगा।

मँगरू—हुज़ूर, एक हज़ार हण्टर मार लें, लेकिन मेरी घर की औरतों से न बोलें।

एजेण्ट नशे में चूर था। हण्टर लेकर मँगरू पर पिल पड़ा और लगा सड़ासड़ जमाने। दस-बारह कोड़े तो मँगरू ने धैर्य के साथ सहे, फिर हाय-हाय करने लगा। देह की खाल छट गई थी और माँस पर जब चाबुक पड़ती थी तो बहुत ज़ब्त करने पर भी आर्त-ध्वनि निकल आती थी और अभी एक सौ में कुल पन्द्रह चाबुक पड़े थे।

रात के दस बज गए थे। चारों ओर सन्नाटा छाया था और उस नीरव अँधकार में मँगरू का करूण विलाप किसी पक्षी की भाँति आकाश में मँडरा रहा था। वृक्षों के समूह भी हत्-बुद्धि-से खड़े मौन रोदन की मूर्ति बने हुए थे। यह पाषाण हृदय, लम्पट, विवेक-शून्य जमादार इस समय एक अपरिचित स्त्री के सतीत्व की रक्षा के लिए अपने प्राण तक देने पर तैयार था। केवल इस नाते, कि यह उसके पत्नी की सङ्गिनी थी। यह समस्त संसार की नज़रों में गिरना गवारा कर सकता था पर अपनी पत्नी की भक्ति पर अखण्ड राज्य करना चाहता था। इसमें अणुमात्र की कमी भी उसके लिए असह्य थी। उस अलौकिक भक्ति के सामने उसके जीवन का क्या मूल्य था?

ब्राह्मणी तो ज़मीन पर ही सो गई थी पर गौरा पति की बाट जोह रही थी। अभी तक वह उससे कोई बात न कह सकी थी। सात वर्षों की विपत्ति कथा कहने और सुनने के लिए बहुत समय की ज़रूरत थी, और रात के सिवा वह समय फिर कब मिल सकता था। उसे उस ब्राह्मणी पर कुछ क्रोध-सा आ रहा था कि यह क्यों हार हुई। इसी के कारण तो वह घर में नहीं आ रहे हैं!

यकायक वह किसी का रोना सुन कर चौंक पड़ी। भगवान, इतनी रात गए कौन दुख का मारा रो रहा है। अवश्य कोई कहीं मर गया है। वह उठकर द्वार पर आई और यह अनुमान करके कि मँगरू यहाँ बैठा हुआ है, बोली—यह कौन रो रहा है? ज़रा जाकर देखो तो।

लेकिन जब कोई जवाब न मिला तो वह स्वयं कान लगा कर सुनने लगी। सहसा उसका कलेजा धक से हो गया। वह तो उन्हीं की आवाज़ है। अब आवाज़ साफ़ सुनाई दे रही थी। मँगरू की आवाज़ थी। वह द्वार के बाहर निकल आई। सामने एक गोली के टप्पे पर एजेण्ट का बँगला था। उसी तरफ़ से आवाज़ आ रही थी। कोई उन्हें मार रहा है। आदमी मार पड़ने ही पर इस तरह रोता है। मालूम होता है वही साहब उन्हें मार रहा है। वह वहाँ खड़ी न रह सकी, पूरी शक्ति से उस बँगले की ओर दौड़ी, रास्ता साफ़ था। एक क्षण में वह फाटक पर पहुँच गई। फाटक बंद था। उसने ज़ोर से फाटक पर धक्का दिया लेकिन जब फाटक न खुला और कई बार ज़ोर-ज़ोर से पुकारने पर भी कोई बाहर न निकला तो वह फाटक के जँगलों पर पैर रख के भीतर कूद पड़ी और उस पार जाते ही उसने एक रोमाञ्चकारी दृश्य देखा। मँगरू नंगे बदन

बरामदे में खड़ा था और एक अङ्गरेज़ उसे हण्टरों से मार रहा था। गौरा की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। वह एक छलाँग में साहब के सामने जा कर खड़ी हो गई और मँगरू को अपने अक्षय-प्रेम-सबल हाथों से ढक कर बोली—सरकार, दया करो, इनके बदले मुझे जितना चाहो मार लो पर इनको छोड़ दो।

एजेंट ने हाथ रोक लिया और उन्मत्त की भाँति गौरा की ओर कई क़दम आकर बोला—हम इसको छोड़ दें तो तुम यहाँ मेरे पास रहेगा।

मँगरू के नथने फड़कने लगे। यह पामर, नीच अङ्गरेज़ मेरी पत्नि से इस तरह की बातें कर रहा है! अब तक वह जिस अमूल्य रत्न की रक्षा के लिये इतनी यातनाएँ सह रहा था, वही वस्तु साहब के हाथ में चली जा रही है, यह असह्य था। उसने चाहा कि लपक कर साहब की गरदन पर चढ़ बैठूँ, जो कुछ होना है हो जाय, यह अपमान सहने के बाद जीकर ही क्या करूँगा लेकिन नब्बी ने उसे तुरन्त पकड़ लिया और कई आदमियों को बुलाकर उसके हाथ-पाँव बाँध दिए। मँगरू भूमि पर छटपटाने लगा!!

गौरा रोती हुई साहब के पैरों पर गिर पड़ी और बोली—हज़ूर, इन्हें छोड़ दें, मुझ पर दया करें।

एजेंट—तुम हमारे पास रहेगा?

गौरा ने ख़ून का घूँट पीकर कहा—हाँ रहूँगी।

६

बाहर मँगरू बरामदे में पड़ा कराह रहा था। उसकी देह में सूजन थी और घावों मे जलन, सारे अंग जकड़ गए थे। हिलने की भी शक्ति न थी। हवा घावों में शर के समान चुभती थी, लेकिन यह सारी व्यथा वह सह सकता था। असह्य यह था, कि साहब गौरा के साथ इसी घर में विहार कर रहा है और मैं कुछ नहीं कर सकता। उसे अपनी पीड़ा भूल-सी गई थी, कान लगाए सुन रहा था कि उनकी बातों की भनक कान में पड़ जाय, देखूँ क्या बातें हो रही हैं। गौरा अवश्य चिल्ला कर भागेगी और साहब उसके पीछे दौड़ेगा। अगर मुझ से उठा जाता तो उस वक्त बचा को खोद कर गाड़ ही देता। लेकिन बड़ी देर हो गई, न तो गौरा चिल्लाई न बँगले से निकल कर भागी। वह उस सजे-सजाए कमरे में साहब के साथ बैठी सोच रही थी, क्या इसमें तनिक भी दया नहीं है। मँगरू की पीड़ा-क्रन्दन सुन-सुन कर उसके हृदय के टुकड़े हुए जाते थे। क्या इसके अपने भाई-बन्द, माँ-बहन नहीं हैं? माता यहाँ होती तो इसे इतना अत्याचार न करने देती। मेरी अम्माँ लड़कों पर कितना बिगड़ती थीं, जब वह किसी को पेड़ पर ढेले चलाते देखती थी। पेड़ में भी प्राण होते हैं। क्या इसकी माता इसे एक आदमी के प्राण लेते देख कर भी इसे मना न करतीं। साहब शराब पी रहा था और गौरा गोश्त काटने का छुरा हाथ में लिये खेल रही थी।

सहसा गौरा की निगाह एक चित्र की ओर गई। उसमें एक माता बैठी हुई थी। गौरा ने पूछा—साहब, यह किसकी तसवीर है? साहब ने

शराब का गिलास मेज़ पर रख कर कहा—ओ, यह हमारे ख़ुदा की माँ मरियम है।

गौरा—बड़ी अच्छी तसवीर है। क्यों साहब तुम्हारी माँ जीती हैं न?

साहब—वह मर गया। हम जब यहाँ आया तो वह बीमार हो गया। हम उसको देख भी नहीं सका।

साहब के मुख-मण्डल पर करुणा की झलक दिखाई दी।

गौरा बोली, तब तो उन्हें बड़ा दुख हुआ होगा। तुम्हें अपनी माता का भी प्यार नहीं था। वह रो-रो कर मर गईं और तुम देखने भी न गए। तभी तुम्हारा दिल इतना कड़ा है।

साहब—नहीं-नहीं, हम अपनी मामा को बहुत चाहता था। वैसा औरत दुनिया में न होगा। हमारा बाप हम को बहुत छोटा सा छोड़ कर मर गया था। मामा ने कोयले की खान में मजूरी करके हम को पाला।

गौरा—तब तो वह देवी थीं। इतनी ग़रीबी का दुख सह कर भी तुम्हें दूसरों पर तरस नहीं आता। क्या वह दया की देवी तुम्हारी बेदरदी देख कर दुखी न होती होंगी। उनकी कोई तसवीर तुम्हारे पास है?

साहब—ओ, हमारे पास उनकी कई फ़ोटो हैं। देखो वह उन्हीं की तस्वीर है, वह दीवाल पर!

गौरा ने समीप जाकर तस्वीर देखी और आकर करुण स्वर में बोली—सचमुच देवी थीं, जान पड़ता है दया की देवी हैं। वह तुम्हें कभी मारती थीं कि नहीं? मैं तो जानती हूँ, वह कभी किसी पर न बिगड़ती रही होंगी! बिलकुल दया की मूर्ति हैं।

साहब—ओ, मामा हमको कभी नहीं मारता था। वह बहुत ग़रीब था, पर अपनी कमाई में कुछ न कुछ ज़रूर ख़ैरात करता था। किसी बे-बाप के बालक को देख कर उसकी आँखों में आँसू भर आता था। वह बहुत ही दयावान था।

गौरा ने तिरस्कार के स्वर में कहा—और उसी देवी के पुत्र होकर तुम इतने निर्दयी हो! क्या वह होतीं तो तुम्हें किसी को इस तरह हत्यारों की भाँति मारने देतीं? वह सरग में रो रही होंगी। सरग-नरक तो तुम्हारे यहाँ भी होगा। ऐसी देवी के पुत्र तुम कैसे हो गए?

गौरा को ये बातें कहते हुए ज़रा भी भय न होता था। उसने मन में एक दृढ़ संकल्प कर लिया था और अब उसे किसी प्रकार का भय न था। जान से हाथ धो लेने का निश्चय कर लेने के बाद भय की छाया भी नहीं रह जाती। किन्तु वह हृदय-शून्य अङ्गरेज़ इन तिरस्कारों पर आग हो जाने के बदले और भी नम्र होता जाता था। गौरा मानवी भावों से कितनी ही अनभिज्ञ हो, पर इतना जानती थी कि अपनी जननी के लिये प्रत्येक हृदय में, चाहे वह साधु का हो या क़साई का, आदर और प्रेम का एक कोना सुरक्षित रहता है। ऐसा भी कोई अभागा प्राणी है जिसे मातृ-स्नेह की स्मृति थोड़ी देर के लिये रुला न देती हो, उसके हृदय के कोमल भावों को जगा न देती हो?

साहब की आँखें डबडबा गई थीं। सिर झुकाए बैठा रहा। गौरा ने फिर उसी ध्वनि में कहा—तुमने उनकी सारी तपस्या धूल में मिला दी। जिस देवी ने मर-मर कर तुम्हारा पालन किया, उसी को मरने के पीछे तुम इतना कष्ट दे रहे हो? क्या इसीलिये माता अपने पुत्र को

अपना रक्त पिला-पिला कर पालती है ? अगर वह बोल सकतीं तो क्या चुप बैठी रहतीं, तुम्हारे हाथ पकड़ सकतीं तो न पकड़तीं ? मैं तो समझती हूँ वह जीती होतीं तो इस वक्त विष खा कर मर जातीं।

साहब अब ज़ब्त न कर सके। नशे में क्रोध की भाँति ग्लानि का वेग भी सहज ही में उठ आता है। दोनों हाथों से मुँह छिपा कर साहब ने रोना शुरू किया और इतना रोया कि हिचकी बँध गई। माता के चित्र के सम्मुख जाकर वह कुछ देर तक खड़ा रहा मानों माता से क्षमा माँग रहा हो। तब आकर आर्द्र-कण्ठ से बोला—हमारे मामा को अब कैसे शांति मिलेगा! हाय-हाय! हमारे सबब से उसको स्वर्ग में भी सुख नहीं मिला, हम कितना अभागा है।

गौरा—अभी ज़रा देर में तुमारा मन बदल जायगा और तुम फिर दूसरों पर यही अत्याचार करने लगोगे।

साहब—नईं नईं अब हम मामा को कभी दुख नहीं देगा। हम अभी मँगरू को अस्पताल भेजता है।

रात ही को मँगरू अस्पताल पहुँचा दिया गया। एजेण्ट ख़ुद उसको पहुँचाने गया; गौरा भी उसके साथ थी। मँगरू को ज्वर हो आया था, बेहोश पड़ा हुआ था।

मँगरू ने तीन दिन आँखें न खोलीं और गौरा तीनों दिन उसके पास बैठी रही। एक क्षण के लिये भी वहाँ से न हटी। एजेन्ट भी कई कई बार हाल-चाल पूछने आ जाता और हर मरतबा गौरा से क्षमा माँगता।

चौथे दिन मँगरू ने आँखें खोलीं तो देखा गौरा सामने बैठी हुई है। गौरा उसे आँखें खोलते देख कर पास आ खड़ी हुई और बोली—अब कैसा जी है?

मँगरू ने कहा—तुम यहाँ कब आईं?

गौरा—मैं तो तुम्हारे साथ ही यहाँ आई थी, तब से यहीं हूँ।

मँगरू—साहब के बँगले में क्या जगह नहीं है?

गौरा—अगर बँगले की चाह होती तो सात समुद्र पार तुम्हारे पास क्यों आती।

मँगरू—आकर कौन-सा सुख दे दिया। तुम्हें यही करना था तो मुझे मर क्यों न जाने दिया।

गौरा ने झुंझलाकर कहा—तुम इस तरह की बातें मुझसे न करो। ऐसी बातों से मेरी देह में आग लग जाती है!

मँगरू ने मुँह फेर लिया, मानों उसे गौरा की बात पर विश्वास नहीं आया।

दिन भर गौरा मँगरू के पास बे-दाना-पानी खड़ी रही और दिन भर मँगरू उसकी ओर से मुँह फेरे पड़ा रहा। गौरा ने कई बार उसे बुलाया लेकिन वह चुप्पी साधे रह गया। यह संदेह-युक्त निरादर कोमल-हृदया गौरा के लिये असह्य था। जिस पुरुष को वह देवतुल्य समझती थी, उसके प्रेम से वंचित होकर वह कैसे जीवित रह सकती थी! यही प्रेम उसके जीवन का आधार था। उसे खोकर अब वह अपना सर्वस्व खो चुकी थी।

आधी रात से अधिक बीत चुकी थी। मँगरू बेखबर सोया हुआ था। शायद वह कोई स्वप्न देख रहा था। गौरा ने उसके चरणों पर सिर रक्खा और अस्पताल से निकली। मँगरू ने उसे परित्याग कर दिया था। वह भी उसका परित्याग करने जा रही थी!

अस्पताल के पूर्व दिशा में एक फ़र्लाङ्ग पर एक छोटी सी नदी बहती थी। गौरा उसके कगार पर खड़ी हो गई। अभी कई दिन पहले वह अपने गाँव में आराम से पड़ी हुई थी। उसे क्या मालूम था कि जो वस्तु इतनी मुश्किल से मिल सकती है, वह इतनी आसानी से खोई भी जा सकती है। उसे अपनी माँ की, अपने घर की, अपनी सहेलियों की, अपने बकरी के बच्चों की याद आई। वह सब सुख छोड़ कर इसीलिए यहाँ आई थी! पति के ये शब्द—"क्या साहब के बँगले में जगह नहीं है"—उसके मर्म-स्थान में वाणों के समान चुभे हुए थे। यह सब मेरे ही कारण तो हुआ? मैं न रहूँगी तो वह फिर आराम से रहेंगे। सहसा उसे ब्राह्मणी की याद आ गई। उस दुखिया के दिन यहाँ कैसे कटेंगे। चल कर साहब से कह दूँ कि उसे या तो उसके घर भेज दें या किसी पाठशाला में काम दिला दें।

वह लौटा ही चाहती थी कि किसी ने पुकारा गौरा! गौरा! वह मँगरू का करुण-कम्पित स्वर था। वह चुपचाप खड़ी होगई। मँगरू ने फिर पुकारा—गौरा! गौरा! तुम कहाँ हो, मैं ईश्वर से कहता हूँ कि...

गौरा ने और कुछ न सुना। वह धम से नदी में कूद पड़ी। बिना अपने जीवन का अन्त किए वह स्वामी की विपत्ति का अन्त न कर सकती थी!

धमाके की आवाज़ सुनते ही मँगरू भी नदी में कूदा। वह अच्छा तैराक था। मगर कई बार गोते मारने पर भी गौरा का कहीं पता न चला।

प्रातःकाल दोनों लाशें साथ-साथ नदी में तैर रही थीं। जीवन यात्रा में उन्हें यह चिर-संग कभी न मिला था। स्वर्ग-यात्रा में दोनों साथ-साथ जा रहे थे !!



ड्राइवर

[श्रीमती हिजाब इम्तियाज़ अली]

सुबह-तड़के ही मुझे एक आवश्यक काम से शोरी जाना था।

शोरी छोटा-सा स्थान है। वहाँ ट्रेन नहीं रुकती, अतएव मैं वहाँ सदा कार ही में जाया करती हूँ।

मेरा पुराना ड्राइवर, करीम, तीन दिन की छुट्टी ले कर अपने घर गया हुआ था। उसे मालूम था, कि कल सुबह मुझे शोरी जाना है। वह यह वादा करके घर गया था, कि मुझे शोरी पहुँचाने के लिए वह ठीक समय पर लौट आएगा।

रात के भोजन के बाद मैं ज़ुनाश की सहायता से कुछ आवश्यक काग़ज़ सफ़री-बेग में रख रही थी, कि मैंने कहा—"ज़ुनाश, करीम अब तक नहीं आया, और मुझे सुबह-तड़के ही रवाना होना है।"

"सारी रात पड़ी है, देवी रूही! निश्चिन्त रहिए, वह पहुँच जायगा। वह अपनी बात का बड़ा सच्चा है।" हब्शिन ने बेग बन्द करते हुए उत्तर दिया।

"सच्चा तो है।" मैंने कहा—"मगर क्या पता, कोई ऐसा संयोग हो जाए, कि वह न पहुँच सके। मेरे विचार में तुम एहतियातन ज़ुल्फ़ो

को फ़ोन कर के कह दो, कि वे एक दिन के लिए अपना ड्राइवर भेज दें।"

"बहुत अच्छा! पर मेरा ख़याल है, कि इसकी आवश्यकता न पड़ेगी। करीम अपनी बात का ऐसा पक्का है, कि जिस तरह भी होगा समय से पहिले पहुँच जायगा।"

"तुम टेलिफ़ोन तो कर दो!"

साढ़े ग्यारह बजे मैंने बिजली की बत्ती बुझा दी और अपने बिस्तर पर लेट कर दूसरे दिन के आवश्यक कामों की सूची मन ही मन बनाने लगी।

दिसम्बर की रात थी। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। बाँस और सुनोबर के ऊँचे-ऊँचे वृक्षों पर वायु साँय-साँय कर रही थी।

मैं नारङ्गी रङ्ग के एक लिहाफ़ में बिल्ली की भाँति दुबकी-दुबकाई पड़ी थी। अँगीठी में चिटखने वाली सुनोबर की लकड़ियों की लपटें कमरे की अँधेरी दीवारों पर इस प्रकार काँप रही थीं, मानो किसी पुराने सुनसान मार्ग पर भूत-प्रेत दबे पाँव चल-फिर रहे हों।

अचानक दीवार में लगी घड़ी ने बारह बजाए, और मैंने सोने के लिए आँखें मूँद लीं।

कुछ ही क्षण बीते थे, कि अकस्मात् दरवाज़े पर किसी की दस्तक ने मुझे चौंका दिया।

"कौन है?"

"ड्राइवर करीम हूँ, हुज़ूर!"

मैंने कुछ चकित हो कर पूछा—"करीम तुम आ पहुँचे!"

"सुबह आपको शोरी जाना था न।"

" मैं लिहाफ़ में लेटे-लेटे बोली—"तुमने व्यर्थ कष्ट किया। मैंने सुबह के लिए श्रीमती ज़ुल्फ़ी के ड्राइवर को बुला लिया है। सोचा था, लौटते समय शोरी से तुम्हें भी साथ लेती आऊँगी। तुम्हारा घर कहीं उसी देहात के आस-पास है न ?"

"जी !"

"अच्छी बात है। स्मरण रहे, सुबह-तड़के नमाज़ के बाद तुरन्त ही रवाना हो जाना है।"

२

जाड़े की उदास और अँधेरी सुबह में मैंने नमाज़ पढ़ी। ज़ूनाश ने गर्म-गर्म कॉफ़ी पिलाई, फिर मैं शाल में लिपटी-लिपटाई बाहर निकली, तो कार तैयार मिली। यहाँ तक, कि करीम स्टीयरिंग पर हाथ रक्खे आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा था।

मेरे सवार होते ही कार चल पड़ी। शीतल वायु के झोंके शरीर में सूइयाँ चुभो रहे थे। मैंने शीशे चढ़ा लिए और सिकुड़ कर एक कोने में बैठ गई। बैठे-बैठे उकताई, तो बेग खोल कर 'पीरी लुई' का 'जङ्गल' निकाल लिया और पश्चिमीय अफ़्रीका के फ़्रेञ्च उपनिवेश के रहस्यमय और जादू-भरे दृश्य मेरी कल्पना की आँख के आगे फिरने लगे!

मैं देर तक अध्ययन में व्यस्त रही, फिर दृष्टि उठाई, तो देखा, कि समय काफ़ी बीत चुका है। जाड़े के रूखे-फीके आकाश पर रोगी-सा

सूर्य उदास चेहरे से चमकने की चेष्टा कर रहा था, और सफ़ेद धूप कोहरे को चीर कर मैदान में उतर रही थी।

मैंने पुस्तक बन्द की। इधर-उधर अन्यमनस्क ढङ्ग से देखा, जँभाई ली और बोली—"तुम, पहिले इसी मार्ग से जा चुके हो न ? निकट के रास्ते से चलना, क्योंकि मेरा वहाँ एक बजे तक पहुँचना बहुत आवश्यक है।"

"हुज़ूर, मैं बारह बजे आपको वहाँ पहुँचा दूँगा।"

"यह तो और भी अच्छी बात है, इसके मानी यह, कि मैं एक घण्टा आराम भी कर सकूँगी। मगर देखो, बहुत तेज़ न चलो कहीं टक्कर न लग जाय। एक घण्टा देर में पहुँचना उससे कहीं अच्छा है, कि हम किसी पहाड़ या पेड़ से टकरा जायँ और कभी न पहुँच सकें।"—यह कह कर मैंने पुस्तक खोल ली और फिर अध्ययन में व्यस्त हो गई।

अचानक मैं अपनी सीट पर उछल पड़ी, और पुस्तक मेरे हाथ से छूट कर नीचे पैरों में जा पड़ी।

मैंने ग़ुस्से से करीम की ओर देखा—"यह तुम क्या कर रहे हो ? देखते नहीं, कार फ़ी घण्टा साठ मील जा रही है !"

"देख रहा हूँ, हुज़ूर ! मगर बारह बजे शोरी पहुँचना आवश्यक है न।"

"कोई ज़रूरी नहीं।"—मैंने ग़ुस्से को दबा कर कहा।

मुझे प्रति क्षण कार की चाल में और तेज़ी महसूस होने लगी। मैंने देखा, कि उसने चाल सत्तर मील कर दी है। चारों ओर के दृश्य

बड़ी तेज़ी से पिछड़े जा रहे थे। सड़क के कङ्कड़ उड़-उड़ कर कार के शीशों पर लग रहे थे, और कार के पीछे के शीशे में से गर्द-गुबार के बवण्डर उड़ते दिखाई पड़ रहे थे।

"कार रोको।"—मैंने अत्यन्त क्रोध के साथ आदेश दिया।

"कार नहीं रुकेगी देवी रूही, बारह बजते-बजते शोरी पहुँचना आवश्यक है।"

"आवश्यक है! क्यों?"

"क्योंकि बारह बजने के बाद...!"

"बारह बजने के बाद क्या होगा?"...मैंने चकित होकर पूछा।

"आप पहुँच न सकेंगी।"

"क्यों?"

"जनाज़ा पहुँच जायगा।"

"जनाज़ा!" मैंने काँप कर कहा—"किसका?"

उसने कार की गति और तीव्र कर दी। कार सावधानी और नियन्त्रण की उपेक्षा करती हुई एक स्वाधीन पागलपन में बढ़ी जा रही थी।

मैं बदहवास हो गई। चिल्ला पड़ी—"रोकते हो या नहीं?"

"नहीं!"

मेरा रक्त शरीर में जम गया, हाथ-पाँव ठण्डे पड़ गए! मुझे विश्वास हो गया, कि यह आदमी एक भयानक पागल है, या किसी तीव्र रोग

से ग्रसित है। वह मेरे पास छः वर्ष से था। मेरी सब कारों का वही निरीक्षक था और बड़ी सावधानी से काम करता था, ऐसा गुस्ताख़ तो कभी नहीं था।

मैं काँप गई। 'जनाज़े' का शब्द मेरे कानों में गूँज रहा था, पीछे गर्द का तूफ़ान, सामने कङ्कड़ियों की वर्षा और दरवाज़े के शीशों के टूटने का हर समय ख़तरा! मेरा हृदय धक-धक कर रहा था। मैं ख़ुदा से दुआ माँग रही थी, कि जल्दी से जल्दी कोई दुर्घटना हो जाय और यह भयानक स्थिति समाप्त हो जाय!

मैंने डरते-डरते करीम पर दृष्टि डाली और अपने को हचकोलों से सुरक्षित रखने के लिए खिड़की के निकट के रेशमी डोरे को दोनों हाथों से थाम लिया। फिर घबरा कर चिल्लाई—"करीम, तुम बीमार तो नहीं हो?"

"अब अच्छा हूँ।"

"यानी बीमार थे?"

"हाँ!"

"तो फिर आए क्यों? तुम्हें आराम की आवश्यकता थी।"

"आपको शोरी जो पहुँचाना था।"

भय के मारे मेरे गले से अब शब्द न निकलता था। वह क्षण-प्रति-क्षण गति तीव्र कर रहा था—और तीव्र, और तीव्र! सुई ऊपर को चढ़ती जा रही थी—चढ़ती जा रही थी!! सत्तर से ऊपर—अस्सी, अस्सी से ऊपर नब्बे! और फिर नब्बे से ऊपर सौ! बाहर की कोई

चीज़ दिखाई नहीं दे रही थी। ख़ुदा! मेरे ख़ुदा!! एक भीषण बवण्डर चीत्कार करता हुआ मुझे मृत्यु की ओर लिए जा रहा था।

मैंने चिल्लाते हुए कहा—"मूर्ख, यह क्या कर रहा है? आह! आह!! ख़ुदा के लिए कार रोक दो। देखो, मेरे साथ तुम भी मर जाओगे! कहाँ जा रहे हो? कहाँ? लो शोरी पहुँच गए, अब तो रोको, यह शोरी का क़ब्रस्तान सामने आ गया,...आ गया!'

मैंने पागलों की-सी एक चीख़ मार कर दोनों हाथों से अपना चेहरा छिपा लिया।

कार अपने वेग में एक मिट्टी के टीले पर चढ़ गई थी और फिर...? और फिर बड़े ज़ोर से मानों मृत्यु के गढ़े में गिर पड़ी एक धमाके के साथ, जैसे आकाश से गरजने वाले समुद्र में बिजली गिरती है।

जब आँख खुली, तो सूर्य क़ब्रस्तान पर अपनी किरणें फेंक रहा था। मैं टूटी हुई कार की छाँव में मृत-शव की भाँति पड़ी थी।

क़ब्रस्तान का दरवाज़ा खुला, और लोगों की, भीड़ की आवाज़ आई। मैंने दृष्टि उठाई, तो देखा, कि लोग एक जनाज़ा लिए अन्दर प्रवेश कर रहे हैं।

पूछने पर पता चला, कि गत रात बारह बजे के क़रीब करीम ड्राइवर की हैज़े से मृत्यु हो गई थी। इस समय बारह बजे उसे दफ़न करने के लिए इस क़ब्रस्तान में ले आए हैं!!

प-र-दा

[स्वर्गीय श्री० अज़ीम बेग चग़ताई]

मैं और रहमत दोनों ड्रॉइङ्गरूम के कोने में बैठे चाय पीते थे कि बराबर का परदा हिला।

कहा—"कौन...है......मोती ?......आओ ......मोती आते-आते रुक गई।

रहमत ने चाय की प्याली रखते हुए कहा—"हैं...अरे ! इनसे परदा करेगी। अरे ! अन्धी कहीं की...... आओ....भाई से परदा !" और एक फूल-सा मुस्कुराता हुआ खिलकर रह गया। मुझे सलाम कहा। मैंने कहा—"अच्छी हो ? पाँच साल-बाद मिलीं।......रहमत ! जब तो यह छोटी-सी थी।" मैंने देखा कि मोती के ख़ूबसूरत चेहरे पर फूल-से बरसने लगे। हम इस प्यारी सूरत को देखते रहे। दिल में सोचा, कि जल्दी से बी० ए० पास करके नौकर हो जायँ, फिर देखा जायगा। जी हाँ, देखा जायगा।

२

हम दोनों बोर्डिङ्ग के एक ही कमरे में रहते थे। डाकिया ने लाकर रहमत को ख़त दिया। रहमत ने ख़त पढ़ कर कहा—"अरे यार ग़ज़ब हो गया ! डेंडस के साथ मोती की शादी हो रही है।" और मेरे ऊपर

बिजली-सी गिरी ! यह ढेंढस रहमत का बहुत दूर का रिश्तेदार था। एफ़० ए० में तीन दफ़ा फ़ेल हो गया। फिर आवारा घूमने लगा। कोई पूछे तो कह देता, विलायत जाऊँगा। किसी से कह दिया, प्राइवेट इम्तहान दूँगा। सूरत ऐसी घिनौनी, कि जैसे सूअर। मोटा, भद्दा, काला मगर रुपए वाला।

रहमत ने कहा—"यह शादी हम हर्गिज़ न होने देंगे।"

मैं दिल में बहुत खुश हुआ। हम ढेंढस की सूरत से जलते थे। हमेशा हमसे लड़ता। हमने उसकी घिनौनी सूरत की वजह से उसका नाम 'ढेंढस' रख दिया था।

३

रहमत ने कहा—"अब क्या हो ?" मैंने कहा—"जब्र"। कहने लगे —"हरगिज़ नहीं।" मैंने पूछा—"फिर क्या करोगे ?" बोले—"ज़नाने में घुसकर खुद मोती से मिलेंगे।

"फिर क्या होगा ?" मैंने पूछा, तो बोले—"उससे कह देंगे कि जब निकाह के वक्त लोग पूछें, तो इन्कार कर देना। 'हाँ' के बदले 'नहीं' कह दे और जान छुटती है।"

मैंने कहा—"ज़नाने में कैसे घुस चलोगे ? परदा है। सैकड़ों मेहमान..." रहमत ने कहा—"तुम मेरे साथ चलो, हम घुस चलेंगे।"

४

हम दोनों ने किवाड़ों को ज़ोर देते हुए कहा—"हम तोड़ डालेंगे।" जवाब में अन्दर से लड़कियों के हँसने की आवाज़ आई।

छः सात थीं, सब ने ज़ोर लगाया। हम हारे और उन्होंने चटखनी लगा दी।

रहमत ने दिवार के पास कुर्सी रक्खी और चढ़ गया और मैं भी चढ़ गया। झट से अन्दर दोनों कूद पड़े, और लपके जो लड़कियों की तरफ़, तो एक औरत ने बढ़कर कहा—"अरे उधर 'परदा' है।" मगर हम कमरे में घुस गए और दूसरे दरवाज़े से परदे वाली लड़कियाँ भाग गईं। लपक कर हम सामने वाले कमरे में घुसना ही चाहते थे, कि एक कशीदा, क़ामत, सरो-क़द, नौ-उम्र लड़की ने दरवाज़ा रोक लिया। एक बिजली-सी चमक गई। बिजली की रोशनी में वह चमकी हुई तसवीर! चेहरे पर ज़रा ख़फ़गी, मगर जैसे चाँदनी खिली हो। इस नक़्शो-निगार को हम देखते ही रह गए। चौंके—

रहमत ने कहा—"आप कौन हैं?"

वह बोली—"आप कहाँ जाते हैं?"

रहमत ने कहा—"मोती के पास।"

"नहीं जा सकते।"

"क्यों?"

"मैं आपको रोकने आई हूँ।"

"क्यों?"

"इसलिये, कि मोती आपसे मिलना नहीं चाहती।"

"बिल्कुल ग़लत।"

"बिल्कुल सही। आप अपने वालदैन का कहना नहीं मानेंगे?"

"उन्होंने कह दिया कि तुम जानो।"

"और जो यह शादी ख़ुद उसे पसन्द हो ?"

"किसे ?"

"मोती को" मुस्कुराकर वह बोली। आँखों में कैसी चमक, चेहरे पर कैसा नूर ! मैं तो उस दिलकश तसवीर को देखता ही रह गया।

"मगर" रहमत ने कहा—"क्यों न हो। . . . आप हैं कौन ?"

"आपकी एक बहन। आप मुझे ख़ूब जानते हैं, मगर कभी देखा नहीं था।"

"फिर भी।"

"आपकी बहन की बहन; आपकी नहीं।"

"तो रास्ता छोड़िए।" झल्लाकर रहमत ने कहा।

"हर्गिज़ नहीं"

रहमत ने मेरी तरफ़ देखकर कहा—"यह यों नहीं मानेंगी।"

मैंने कहा—"फिर ?"

"यह बहन है ना ?"

बोली—"जी हाँ।"

रहमत ने उनसे मेरी तरफ़ उँगली करके पूछा—"आप इनको जानती हैं ?"

मुस्कुरा कर बोलीं—"ख़ूब अच्छी तरह।"

"देखो जी" रहमत ने मुझसे कहा—"यह बहन ही तो हैं, जैसे मोती, वैसे यह . . . ."

बात काटकर वह चमक कर बोली—"और क्या ?"

"तो इनको गले लगा लो" रहमत ने कहा।

मैं तो मुन्तज़िर ही था और पकड़ा जो मैंने उन्हें, तो चमक कर वह गईं और मेरे मुँह से निकल गया—"चमकती हुई।"

रस्ता साफ़ और हम दोनों मोती के कमरे में घुस गए। दुल्हन का कमरा। वहाँ यह दूसरी तरफ़ से आकर मौजूद थीं। बहुत ख़फ़ा मगर बेहद ख़ूबसूरत। पहले मुझे माफ़ी माँगनी पड़ी कि "चमकती हुई" क्यों कहा। मैंने अपनी ग़लती मान ली और कहा कि मुँह से निकल गया, माफ़ कीजिए। मगर मैंने आपको नहीं कहा था।

ख़ामोशी के साथ नीचे देखने लगीं।

५

मोती ने अपना मुँह दोनों हाथों में छिपा लिया था और रोए चली जाती थी हमारी किसी बात को सुना, तो जवाब नदारद। कोई जवाब नहीं। हर तरह समझाया "अन्धी हो गई। ऐसे गधे से शादी हुई जाती है।"—रहमत ने कहा। मगर वह उसी तरह थी, कि उन्होंने कहा—"उसे गधा ही पसन्द है।"

रहमत ने कहा—"नामुमकिन।"

उन्होंने मोती से डाँटकर कहा—"कह क्यों नहीं देती साफ़-साफ़ कि मेरी मरज़ी की शादी हो चुकी।"

वह चुप रही।

उन्होंने फिर झिड़क कर कहा—"कम्बख़्त कह दे साफ़ कि जाओ।"

और मोती ने उसी तरह मुँह छिपाए कहा—"आप रहने दीजिए।"

"तेरी मरज़ी की है ना?" वह बोली।

रहमत ने कहा—"मोती बोलो।"

"जी......" मोती ने आहिस्ता से कहा।

हम दोनों पर एक बिजली-सी गिरी और उन्होंने मुस्कुराकर कहा—"कहिए।.... अब आप दोनों सूरमा यहाँ से जायँ"

मैंने कहा—"आपका नाम ?"

मुस्कुराकर बोलीं—"आपको मालूम है, ख़ूब जानते हैं।"

"तो बताओ तो।"

"बताऊँ कैसे ?" उन्होंने अपनी ख़ूबसूरत आँखों को चमकाकर मुस्कुराते हुए कहा—"मेरा आपका 'परदा' है"

६

दो साल बाद।

कपड़ों की चमक! ख़ुशबू! महक! कमरे में कोई और नहीं था। बिजली की तेज़ रोशनी में ... मैंने ख़ुशी के लहज़े में पुराना जुमला दोहराया—"चमकती हुई।"

पहले तो मैंने ज़ोर से उँगली से गुदगुदाया। फिर मुँह खोलते हुए कहा—"मेरा-आपका परदा नहीं है।"

७

चार महीने बाद।

सबने कहा, जवान और सोहागिन की लाश पर बनारसी दोशाला डालो।

क़ब्रस्तान का मन्ज़र। .... टूटी फूटी क़ब्रें। झुके हुए और टूटे हुए पत्थर। मैंने ख़ामोशी से आँसू बहाते हुए बाईं तरफ़ देखा। एक क़ब्र में सूराख़ था और उसमें से कोई जानवर झाँक रहा था कि ग़ायब हो गया मैं लरज़ गया।

जनाज़ा क़ब्र में रख दिया गया और क़ब्र को ढँकने से पहले रिश्तेदार आगे बढ़े कि आख़िरी दीदार कर लें। मैं भी आगे बढ़ा कि एक बुड्ढे रिश्तेदार ने मुहब्बत से मुझे रोका और बोले—"वह तुम्हारी कोई नहीं, तुम्हारा और उसका 'परदा' है!

एक दोस्त अरसे बाद मिले। कहने लगे—"सुना था तुम्हारी शादी हुई, बीबी कहाँ है?"

मैंने कहा—" 'परदे' में।"

और दो आँसू चुपके से मेरी आँखों से निकले थे जैसे चोर, कि मैंने उनको ....



कला का मूल्य

[स्वर्गीय श्री० जयशङ्कर प्रसादजी]

"अभी तो पहना गई हो।"

"बहू जी! बड़ी अच्छी चूड़ियाँ हैं, सीधे बम्बई से पारसल मँगाया है। सरकार का हुक्म है, इसलिए नई चूड़ियाँ आते ही चली आती हूँ।"

"तो जाओ सरकार को ही पहनाओ, मैं नहीं पहनती।"

"बहू! जी! देख तो लीजिए"—कहती और मुस्कराती हुई ढीठ चूड़ी वाली अपना बॉक्स खोलने लगी। वह पचीस बरस की एक गोरी छरहरी स्त्री थी। उसकी कलाई सचमुच चूड़ी पहनाने के लिए ढली थी। पान से लाल पतले-पतले ओठ दो-तीन वक्रताओं में अपना रहस्य छिपाए थे। उसे देखने का मन करता था, देखने पर उन सलोने अधरों से कुछ बुलवाने को जी चाहता, बोलने पर हँसाने की इच्छा होती और उस हँसी में शैशव का अल्हड़पन, यौवन की तरावट और प्रौढ़ा की सी गम्भीरता बिजलियों के समान लड़ जातीं।

बहू जी को उसकी हँसी बहुत बुरी लगती, पर जब पञ्जों में आधी चूड़ी चढ़ा कर, सङ्कट में फँसा कर, वह हँसते हुए कहती—"एक पान मिले बिना यह चूड़ी नहीं चढ़ती" तब बहु जी को क्रोध के साथ हँसी आ जाती और उसकी तरल हँसी की तरी लेने में तन्मय हो जातीं!

कुछ ही दिनों से यह चूड़ी वाली आने लगी है। कभी-कभी तो बिना बुलाए ही चली आती और ऐसे ढङ्ग फैलाती कि बिना सरकार के आए निबटारा न होता। यह बहू जी को असह्य हो जाता। आज उसे चूड़ी फैलाते हुए देख कर बहू जी झल्ला कर बोलीं—"आजकल दुकान पर ग्राहक कम आते हैं क्या ?"

"बहू जी ! आजकल ख़रीदने की धुन में हूँ, बेचती हूँ कम।" इतने में कई दर्जन चूड़ियाँ बाहर सजा दी गईं। स्लीपरों के शब्द सुनाई पड़े। बहू जी ने कपड़े सँभाले, पर वह ढीठ चूड़ी वाली बालिकाओं के समान सिर टेढ़ा करके "यह जर्मनी की है, यह फ़रान्सीसी है, यह जापानी है" कहती जाती थी। सरकार खड़े मुस्करा रहे थे।

"क्या रोज़ नई चूड़ी पहनाने के लिए इन्हें हुक्म मिला है ?"—बहू जी ने गर्व से पूछा।

सरकार ने कहा—"पहन भी लो, बुरा क्या है !"

"बुरा तो कुछ नहीं, चूड़ी चढ़ाते हुए कलाई दुखती होगी।"—चूड़ी वाली ने सिर नीचा किए, कनखियों से देखते हुए कहा।

एक हलकी-सी लाली आँखों की कोर से कपोलों को तर करती हुई दौड़ जाती थी। सरकार ने देखा, एक लालसा-भरी युवती व्यङ्ग कर रही है। हृदय में हलचल हो गई। घबरा कर बोले—"ऐसा है तो न पहनो।"

"भगवान् करें रोज़ पहनें।"—चूड़ी वाली आशीर्वाद देने के गम्भीर स्वर में प्रौढ़ा के समान बोली।

"अच्छा, तुम अभी जाओ"—सरकार और चूड़ी वाली दोनों की ओर देखते हुए बहू जी ने कहा।

"तो क्या मैं लौट जाऊँ? आप तो कहती थीं न, सरकार ही को पहनने के लिए कह दीजिए।"

"निकलो मेरे यहाँ से"—कहते हुए बहू जी की आँखें तिलमिला उठीं और सरकार भी धीरे से खिसक गए। अपराधी के समान सिर नीचा किए चूड़ी वाली अपनी चूड़ियाँ बटोर कर उठी। हृदय की धड़कन और अपना रहस्यपूर्ण निश्वास छोड़ती हुई बेचारी चली गई।

— २ —

चूड़ी वाली का नाम था विलासिनी। वह नगर की एक प्रसिद्ध नर्तकी कन्या थी। उसके रूप और सङ्गीत-कला की सुख्याति थी। वैभव भी कम न था, विलास और प्रमोद के पर्याप्त सम्भार मिलने पर भी उसे सन्तोष न था, हृदय में कोई अभाव खटकता था। वास्तव में उसकी मनोवृत्ति उसके व्यवसाय के प्रतिकूल थी।

कुल-वधू बनने की अभिलाषा हृदय में, और दाम्पत्य-सुख का स्वर्गीय स्वप्न उसकी आँखों में समाया था। स्वच्छन्द प्रणय का व्यापार अरुचिकर हो गया। परन्तु समाज उससे हिंसक पशु के समान सशङ्क था। आश्रय मिलना असम्भव जान कर विलासिनी ने छल के द्वारा वही सुख लेना चाहा। यह उसकी सरल आवश्यकता थी, क्योंकि अपने व्यवसाय में उसी का प्रेम क्रय करने के लिये बहुत से लोग आते थे; पर विलासिनी अपना हृदय खोल कर किसी से प्रेम न कर सकती थी।

उन्हीं दिनों सरकार के रूप यौवन और चारित्र्य ने उसे प्रलोभन दिया। नगर के समीप बाबू विजयकृष्ण को अपनी ही जमींदारी में बड़ी सुन्दर अट्टालिका थी, वहीं रहते थे। उनके अनुचर और उनकी प्रजा उन्हें 'सरकार' कह कर पुकारती थी। विलासिनी की आँखें विजय-कृष्ण पर गड़ गईं। अपना चिर-सञ्चित मनोरथ पूर्ण करने के लिए वह कुछ दिन के लिए चूड़ी वाली बन गई थी। सरकार चूड़ी वाली को जानते हुए भी अनजान बने रहे। अमीरी का एक कौतुक था, एक खिलवाड़ समझ कर उसके आने-जाने में बाधा न देते, क्योंकि विलासिनी के कलापूर्ण सौन्दर्य ने जो कुछ प्रभाव उनके मन पर डाला था, उसके लिए उनके सुरुचिपूर्ण मन ने अच्छा बहाना खोज लिया था। वह सोचते कि बहू जी का कुल-बधू जनोचित सौन्दर्य और वैभव की मर्यादा देख कर चूड़ी वाली स्वयं पराजय स्वीकार कर लेगी और अपना निष्फल-प्रयत्न छोड़ देगी।

चूड़ी वाली विलासिनी अपने कौतुहलपूर्ण कौशल में सफल न हो सकी थी; परन्तु बहू जी के आज के दुर्व्यवहार ने प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी और चोट खाकर उसने सरकार को घायल कर दिया।

— ३ —

अब सरकार खुल कर उसके यहाँ आने-जाने लगे। विलास-रजनी का प्रभात भी चूड़ी वाली के उपवन में कटता। कुल-मर्यादा, लोक-लाज और जमींदारी सब एक ओर और चूड़ी वाली अकेली दूसरी ओर थी। दालान में कुर्सियों पर सरकार और चूड़ी वाली बैठ कर रात्रि-जागरण का खेद मिटा रहे थे। पास ही अनार का वृक्ष था, उसमें फूल खिले

थे। एक बहुत ही छोटी काली चिड़िया आकर उन फूलों में चोंच डाल कर मकरन्द पान करती और कुछ केशर खाती, फिर हृदय-विमोहन कलनाद करती हुई उड़ जाती। सरकार बड़ी देर से कौतुक देख रहे थे। बोले इसे पकड़कर पालतू बनाया जाय तो कैसा?

"उहूँ, यह फुलसुंघी है। पिंजरे में जी नहीं सकती। इसे फूलों का प्रदेश ही जिला सकता है, स्वर्ण-पिञ्जर नहीं। इसे खाने के लिए फूलों की केशर का चारा और पीने के लिए मकरन्द-मदिरा कौन जुटावेगा!"

पर इसकी सुन्दर बोली सङ्गीत-कला की चरम सीमा है। वीणा में भी कोई ही मीड़ ऐसी निकलती होगी! इसे अवश्य पकड़ना चाहिए।"

"जिसमें बाधा नहीं, बन्धन नहीं, जिसका सौन्दर्य स्वच्छन्द है, उस असाधारण प्राकृत-कला का मूल्य क्या बन्धन है? कुरुचि के द्वारा वह कलङ्कित भले ही हो जाय परन्तु पुरस्कृत नहीं हो सकती। उसे आप पिञ्जरे में बन्द करके पुरस्कार देंगे या दण्ड?"—कहते हुए विलासिनी ने विजय की एक व्यङ्ग-भरी मुस्कान छोड़ी।

अब इसी वन-विहङ्गनी को पकड़ने की लालसा बलवती हो उठी। सरकार ने कहा—"जाने भी दो, वह तुमसे अच्छी कला नहीं जानती।"

प्रसङ्ग बदल गया, नित्य का साधारण विनोदपूर्ण क्रम चला।

चूड़ी वाली अपने अभ्यास के अनुसार समझती कि यदि बहू जी की अपार प्रणय-सम्पत्ति में से कुछ अंश मैं भी ले लेती हूँ तो हानि क्या; परन्तु बहू जी को अपने प्रणय के एकाधिपत्य पर पूर्ण विश्वास था। वह निष्क्रिय प्रतिरोध करने लगीं। राजयक्ष्मा के भयानक

आक्रमण से वह घुलने लगीं और सरकार वन-विहङ्गिनी विलासिनी को स्वायत्त करने में दत्त चित्त हुए। रोगी की शुश्रूषा और सेवा में कोई कमी नहीं थी; परन्तु एक बड़े मुक़दमे में सरकार का उधर सर्वस्व स्वाहा हुआ, इधर बहू जी चल बसीं! × × ×

चूड़ी वाली ने समझा कि उसकी पूर्ण विजय हुई, पर बात कुछ दूसरी थी। विजयकृष्ण का वह एक विनोद था। जब सब कुछ चला गया, तब विनोद लेकर क्या होगा। एक दिन उन्हें स्मरण हुआ कि अब मेरा कुछ नहीं है, उसी दिन से चूड़ी वाली से छुट्टी माँगी। उसने कहा—"कमी किस बात की है, मैं तुम्हारी ही हूँ और सब वैभव भी तुम्हारा है।"

विजयकृष्ण ने कहा—"मैं वेश्या की दी हुई जीविका से पेट पालने में असमर्थ हूँ।"

चूड़ी वाली बिलखने लगी, विनय किया; रोई-गिड़गिड़ाई, पर विजयकृष्ण चले ही गए। वह सोचने लगी कि अपना व्यवसाय और विजय की गृहस्थी बिगाड़ कर जो सुख ख़रीदा था उसका कोई मूल्य नहीं, मैं कुल-वधू होने के उपयुक्त नहीं। क्या समाज के पास कोई प्रतिकार नहीं, इतनी तपस्या और इतना स्वार्थ-त्याग व्यर्थ है? मैं वेश्या ही रही?

परन्तु विलासिनी यह न जानती थी कि स्त्री और पुरुष सम्बन्धी समस्त अन्तिम निर्णय करने में समाज कितना ही उदार क्यों न हो, दोनों पक्ष को सर्वथा सन्तुष्ट नहीं कर सका और न करने की आशा ही है। यह रहस्य सृष्टि को उलझा रखने की कुंजी है।

—४—

विलासिनी ने बहुत सोच समझ कर अपनी जीवन-चर्या बदल डाली। सरकार से मिली हुई जो कुछ सम्पत्ति थी, उसे बेच कर पास के ही एक गाँव में खेती करने के लिए भूमि लेकर आदर्श हिन्दू-गृहस्थ की-सी तपस्या करने में अपना बिखरा हुआ मन उसने लगा दिया। उसके कच्चे मकान के पास एक विशाल वट-वृक्ष और निर्मल जल का सरोवर था। वहीं रह कर चूड़ी वाली ने पथिकों की सेवा करने का सङ्कल्प किया। थोड़े ही दिनों में अच्छी खेती होने लगी और अन्न से उसका घर भरा रहने लगा। भिखारियों को अन्न देकर उन्हें खिला देने में उसे अकथनीय सुख मिलता। धीरे-धीरे दिन ढलने लगा, चूड़ी वाली को सहेली बनाने के लिए यौवन का तीसरा पहर करुणा और शान्ति को पकड़ ले आया। उस पथ से चलने वाले पथिकों को दूर से किसी कला-कुशल कण्ठ की तान सुनाई पड़ती :

"अबलों नसानी अब न नसैहों !"

वट-वृक्ष के नीचे एक अनाथ बालक नन्हू को चना और गुड़ की दूकान चूड़ी वाली ने करा दी है। जिन पथिकों के पास पैसे न होते उनका मूल्य वह स्वयं देकर नन्हू की दूकान में घाटा न होने देती, और कोई पथिक भी बिना विश्राम किए उस तालाब से न जाता। कुछ ही दिनों में चूड़ी वाली का तालाब विख्यात हो गया।

सन्ध्या हो चली थी, पखेरुओं का बसेरे की ओर लौटने का कोलाहल मचा और वट-वृक्ष में चहल-पहल हो गई। दालान में दीपक जल रहा था। अन्धकार उसके घर में और मन में बरजोरी घुस रहा था। कोलाहल शून्य जीवन में भी चूड़ी वाली को शान्ति मिली, ऐसा

विश्वास नहीं होता था। पास ही उसकी पिण्डलियों से सिर रगड़ता हुआ कलुआ दुम हिला रहा था। सुखिया उसके लिए घर में जो कुछ खाने को ले आई और कलुआ उधर न देख कर अपनी स्वामिनी से स्नेह जता रहा था। चूड़ी वाली ने हँसते हुए कहा—"चल तेरा दुलार हो चुका, जा खा ले!"

चूड़ी वाली ने मन में सोचा—कङ्गाल मनुष्य स्नेह के लिए क्यों भीख माँगता है, वह स्वयं नहीं करता, नहीं तो तृण, वीरुध तथा पशु पक्षी भी तो स्नेह करने के लिए प्रस्तुत हैं। × × ×

इतने में नन्हू ने आकर कहा—"माँ, एक बटोही बहुत थका हुआ अभी आया है, भूख के मारे जैसे शिथिल हो गया है।

"तूने क्यों नहीं दे दिया?"

"लेता ही नहीं, कहता है तू बड़ा ग़रीब लड़का है, तुझसे न लूँगा।"

चूड़ी वाली वट-वृक्ष की ओर चल पड़ी। अँधेरा हो गया था, पथिक जड़ की ढासना लगाए लेटा था। चूड़ी वाली ने हाथ जोड़ कर कहा—"महाराज! आप कुछ भोजन कीजिए।"

"तुम कौन हो?"

"पहले की एक वेश्या।"

"छिः! मुझे पड़े रहने दो, मैं नहीं चाहता कि तुम मुझसे बोलो भी! क्योंकि तुम्हारा व्यवसाय कितने ही सुखी घरों को उजाड़ कर श्मशान बना देता है।"

"महाराज ! हम लोग तो कला के व्यवसायी हैं, यह अपराध कला का मूल्य लगाने वालों की कुरुचि और कुत्सित इच्छा का है। संसार में बहुत से निर्लज्ज, स्वार्थपूर्ण व्यवसाय चलते हैं। फिर भी, इसी पर इतना क्रोध क्यों ?"

"क्योंकि यह उन सभों में अधम और निकृष्ट व्यवसाय है।"

"परन्तु वेश्या का व्यवसाय करके भी मैंने एक ही व्यक्ति से प्रेम किया था। मैं और धर्म नहीं जानती, पर सरकार से जो कुछ मुझे मिला उसे मैं लोक सेवा में लगाती हूँ। मेरे तालाब पर कोई भूखा रहने नहीं पाता। मेरी जीविका चाहे जो रही हो, मेरे अतिथि-धर्म में बाधा न दीजिए !"

पथिक एक बार ही उठ कर बैठ गया और आँख गड़ा कर अँधेरे में देखने लगा, सहसा बोल उठा—चूड़ी वाली ?

"कौन, सरकार !"

"हाँ तुमने मेरा शोक हर लिया। मेरे अपराधजनक तामस त्याग में पुण्य का भी भाग था—यह मैं नहीं जानता था।"

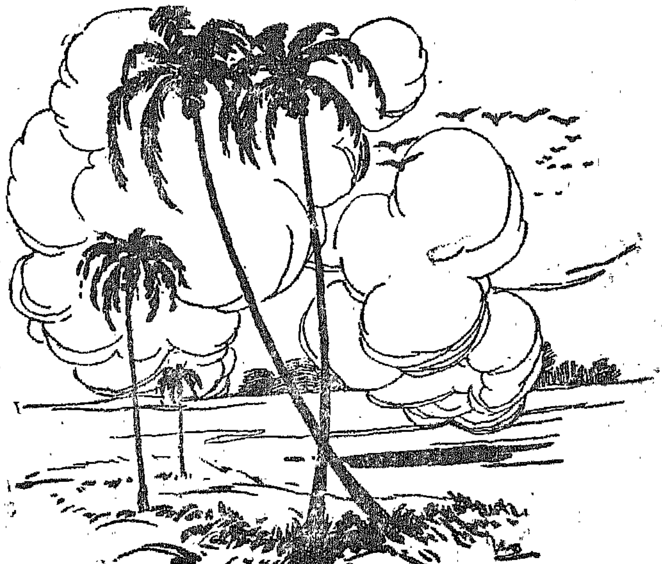
"सरकार ! मैंने गृहस्थ-कुल-बधू होने के लिए कठोर तपस्या की है। इन चार बरसों में मुझे विश्वास हो गया है कि कुल-बधू होने में जो महत्व है, वह सेवा का है, न कि विलास का।"

"सेवा ही नहीं चूड़ी वाली ! उसमें विलास का अनन्त यौवन है, क्योंकि केवल स्त्री-पुरुष के शारीरिक बन्धन में वह पर्यवसित नहीं, बाह्य साधनों के विकृत हो जाने तक ही उसकी सीमा नहीं, गार्हस्थ्य जीवन उस के लिए प्रचुर उपकरणों की परम्परा प्रस्तुत करता है, इसीलिए

वह प्रेय भी है और श्रेय भी है। मुझे विश्वास है कि तुम अब सफल होओगी।"

"मेरी सफलता आपकी कृपा पर है। विश्वास है कि अब इतने निर्दय न होंगे"—कहते-कहते चूड़ी वाली ने सरकार के पैर पकड़ लिए।

"नहीं अब मुझे कोई तुमसे अलग नहीं कर सकता।"



ईरानी परी

[श्री० सय्यद क़ासिमअली 'मीर']

जिन दिनों रेल न थी, समुद्र की छाती पर पुराने ढङ्ग के जहाज़ दौड़ लगाया करते थे और बड़े-बड़े मैदानों, पहाड़ों और मरुस्थलों में ऊँटों की क़तारें चलती दिखाई देती थीं, उन दिनों मिश्र, अरब और ईरान का व्यापार मुसलमानों के हाथों में था। अनेक व्यापारी नगरों में, नैशापुर नाम का एक बड़ा प्रसिद्ध नगर था। नैशापुर का बाज़ार विशेष कर हीरा जवाहिर आदि रत्नों के मिलने के लिए मशहूर था। बड़े-बड़े धनी, रत्न के व्यापारी और जौहरी नैशापुर में रहते थे। इनमें से महमूद नाम का एक खुशनसीब सौदागर भी था! महमूद ने दूर-दूर देशों की यात्रा करके विशेष अनुभव और द्रव्य प्राप्त किया था, और वह नैशापुर के बड़े रईसों में गिना जाता था।

दौलत महमूद की आज्ञाकारिणी दासी की तरह रहती थी। कल्पवृक्ष की भाँति वह उसकी मनमाँगी मुरादें पूरी करने को तैयार रहती थी। नदियों से निकल कर आने वाली नहरें मानो अपनी लहरों में सोना लाकर महमूद के खेतों में डाल जाया करती थीं। लाखों मन गुल्ला महमूद के हाथ प्रति वर्ष आया करता था। दूर-दूर मुल्कों के बड़े-बड़े

बाज़ारों को महमूद के ऊँटों ने मानो नज़र के सामने कर रक्खा था। इस तरह खेती और तिजारत की बढ़ती से दौलत, महमूद के क़दमों से लगी चला करती थी। यह सब था, लेकिन महमूद के घर में उसका अपना कोई न था, जो उसके दुख-दर्द में शरीक होता। धन-कुबेर होने पर भी सम्पत्ति का उपभोग करने वाला कोई न था। काफ़ूरी बत्तियों से प्रकाशित और सुगन्धित महल महमूद को सूना और अन्धकारमय जान पड़ता था। फूलों से भरे, फलों से लदे और नाना प्रकार की मधुर बोली बोलने वाले पक्षियों से भरे शोभायमान बाग़ भी महमूद के हृदय को सच्चे आनन्द का मज़ा न लेने देते थे, एक इशारे पर जाँनिसार करने वाले सैकड़ों ग़ुलाम मौजूद थे, लेकिन वे महमूद को सच्ची राहत न पहुँचा सकते थे। महमूद का दिल न जाने किसकी याद में रहा करता था।

- २ -

कीचड़ में से पैदा होने वाले कमल की तरह एक ग़रीब ख़ानदान में रैहाना का जन्म हुआ था। कमल के विकसित होते ही आस-पास का वायुमण्डल सुगन्धित हो उठता है, मकरन्द के प्यासे भ्रमर चारों तरफ़ से दौड़ लगाने लगते हैं। इसी तरह रैहाना के रुख़सारों के रोशन होते ही सैकड़ों परवाने निसार होने के लिए आ-आ कर गिरने लगे; लेकिन बेचारी रैहाना को इसकी कुछ ख़बर न थी। वह हृदय से सरल, सूरत से भोली और आचरण से पवित्र थी। ग़रीब माता-पिता रैहाना को अपने घर का चिराग़ समझते थे; लेकिन उनकी तङ्गदस्ती उन्हें कभी-कभी चिन्ता के दरिया में ग़र्क़ कर दिया करती थी।

समय आया, इधर-उधर से रैहाना के विवाह-सम्बन्ध के समाचार आने लगे। यों तो उन दिनों पशुओं की तरह मनुष्यों की बिक्री के बाज़ार भरते थे; अगर रैहाना के माता-पिता चाहते तो पहले ही दिन कई हज़ार की थैली लेकर चले आते, लेकिन शराफ़त (कुलीनता) भी कोई चीज़ है। बेटी को बेचना उन्हें पसन्द न था। ख़रीदे हुए लौंडी-ग़ुलाम के साथ पाशविक अत्याचार किए जाते थे। ग़ुलामी-प्रथा के दिनों के इतिहास के पन्ने ग़ुलामों के साथ किए जाने वाले ज़ुल्मों से काले हो रहे हैं। अपनी एकमात्र सन्तान को वह इसीलिए न बेच सके। समय पर रैहाना का सौन्दर्य-समाचार महमूद ने सुना। दौलत ने सहारा दिया। महमूद का उच्च विचारों से भरा उन्नत मस्तक रैहाना के सौन्दर्य के पैरों पर झुक गया। सच है, प्रेम और बुद्धी दोनों एक साथ, एक ही रङ्गभूमि में अभिनय नहीं कर सकते—प्रेम की वेदी पर बुद्धि का बलिदान दे दिया जाता है। महमूद ने ऐसा ही किया। रैहाना के माता-पिता महमूद की ओर से आने वाले विवाह-समाचार से प्रसन्न हुए। रैहाना का सरल हृदय न जाने क्या सोचने लगा। सङ्ग की सहेलियाँ जब विनोद के बहाने कुछ छेड़छाड़ करतीं, तो जवाब देने के बदले रैहाना के मुख पर एक हास्य-रेखा दिखाई देती। आँखें थकी हुई-सी उठतीं, परन्तु शीघ्र ही धरती देखने लगती थीं।

- २ -

धूल भरा हीरा आज जौहरी की दूकान में अपनी चमक-दमक से ख़रीदारों को लुभा रहा है। चाँद बादलों से निकल कर अपनी निर्मल चन्द्रिका से चकोरों के चित्त को जीत रहा है। कल की ग़रीब कन्या

रैहाना आज रईस महमूद के घर रेहाना-बेगम कहलाती है। ज़रीन कपड़ों और रत्नजटित गहनों के कारण उसका हुस्न दूना हो गया है। महमूद उसके शमए-हुस्न का परवाना बन चुका है। रेहाना-बेगम का वक्त अपने प्यारे के साथ हास्य-विनोद में या बनाव सिंगार में गुज़रने लगा। कल जो माता-पिता की दी हुई सूखी रोटियों की मुहताज थी, आज अनेक दासियाँ उसी रैहाना की कृपा की भिखारिनी हैं। दम्पति के दिन ईद बन गए, और रातें शबेबरात बन गईं। लेकिन दोनों प्रकृति के इस अटल सिद्धान्त को भूल गए कि समय पाकर फूल भी झड़ जाते हैं और जलाशय भी सूख जाते हैं।

रैहाना के हुस्न की चर्चा ईरान के शाह मुहम्मद-ताहिर ने सुना और बिना देखे ही उसका आशिक बन गया। 'प्यासा पानी के पास जाता है' इस लोकोक्ति को सत्य सिद्ध कर दिखाने के लिए शाह-ईरान नैशापुर पहुँचा। उसके दिल में जो उमङ्ग थी, वह काँच के पात्र के समान एक ही समाचार के धक्के से चूर-चूर हो गई। उसने बड़े दुख से सुना कि रैहाना नैशापुर के मशहूर सौदागर की बेगम बन चुकी है। मिलने की बात दरकिनार, उसके देखने तक की आशा न रही। उस समय उसकी अजब हालत थी। शाही हुकूमत कहती थी—महमूद को ख़बर दी जाय, वह रैहाना को नज़र कर दे; इन्साफ़ कहता था—ख़ुदा से डर, रिआया तेरे बच्चे हैं, उनकी इज़्ज़त-अस्मत का हमेशा ख़्याल रख। शाही कहती थी—रत्न राजसी शोभा के लिए हैं; इन्साफ़ कहता था—राजसी शोभा रत्नों में नहीं, प्रजा के अपार चैन में है। शाही याद दिलाती थी—ख़ाली हाथ लौटना कायरता है; परन्तु न्याय

कहता था—नहीं, मर्दानगी इसमें है कि दिल पर क़ब्ज़ा किया जाय, और वह बहकने से बचाया जाय।

— ४ —

महमूद के दिन एशोअसरत में कट रहे थे। वह समझता था कि ऐश के दिन की शाम न होगी और न दौलत ही कम होगी। एक दिन दोनों बाग़ की ठण्डी हवा खाकर हौज़ के किनारे बैठे मछलियों की चहल-पहल देख रहे थे। दासी ने लाकर एक बन्द पत्र महमद के हाथ में दिया। लिफ़ाफ़ा खोला और पत्र पढ़ा गया। वृक्ष के टूटे फल की तरह महमूद धरती पर मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। रेहाना ने घबड़ाकर महमद को उठाया। दासी ने दौड़ कर ख़बर दी। विश्वस्त दास-दासियाँ दौड़ कर आ गईं। कोई गुलाब छिड़कने लगा, कोई पङ्खा झलने लगा, कोई ईश्वर से प्रार्थना करने लगा। कुछ देर में महमूद को होश आया। देखा, रेहाना की जाँघ पर उसका सिर है, और वह एक टक उसके मुख को देख रही है। ज्योंही दोनों की आँखें चार हुईं, रेहाना की आँखों ने महमूद के मूर्छा के दूर होने की ख़ुशी में चन्द मोती बिखेर दिए। वे महमूद के रुख़सारों पर पड़कर ढुलक गए। महमूद ने उस समय इतना ही कहा—"प्यारी रेहाना!" रेहाना ने दो-चार मोती और निसार करते हुए अपने आञ्चल से महमूद के माथे का पसीना पोंछा; पर कुछ बोल न सकी।

शाह ईरान का ख़ौफ़ ख़ुदा और शाही तख़्त की इज़्ज़त नैशापुर से वापिस ले आई। लेकिन दिल रेहाना की ख़िदमत में रह गया, जिसकी न तो रेहाना को ख़बर थी, न महमूद को। हर बात की एक हद हुआ

करती है। आख़िर शाह का धैर्य छूट गया। उसने एक पत्र महमूद के नाम लिखा। उसमें केवल इतना लिखा था :

ख़ुशनसीब महमूद !

एक नज़र रैहाना को देखने के लिए जी चाहता है। क्या तुम इजाज़त दोगे ?

तुम्हारा,

—मुहम्मद ताहिर

यही वह पत्र था, जिसने महमूद को मूर्छित कर दिया था। उसे विश्वास हो गया कि रैहाना के सौन्दर्य का शोहरा सारे ईरान में फैल रहा है। शाह-ईरान ने अब उसे देखना चाहा है। रैहाना को उसे दिखाना मानो शेर के सामने बकरी का पेश करना है, जिसका सुरक्षित लौटना असम्भव नहीं तो सम्भव भी नहीं है।

– ५ –

यह सच है, पानी में रह कर मगर से बैर नहीं किया जा सकता। पत्र पाने के दिन से महमूद चिंता की आग में जलने लगा। एक ओर शाह ईरान की आज्ञा का न मानना मृत्यु को आमन्त्रण देने के समान था, दूसरी तरफ़ आज्ञा मानना भी रैहाना के साथ ही साथ जान से हाथ धोने के समान ही था। महमूद का कारोबार शादी होने बाद से ही अच्छी देख-देख न होने से बिगड़ने लगा था, नौकरों के पौं-बारह थे; अब रही-सही देख-रेख भी चली गई। नतीजा यह हुआ कि ख़र्च चलना मुश्किल हो गया। महमूद रैहाना को लेकर किसी अज्ञात स्थान में चला गया।

जो महमूद व्यापार में एक क़ासानी व्यापारी था और खेती में अद्वितीय किसान; जिसके नाम की ईरान में बड़ी शोहरत थी, आज वह एक स्त्री के सौन्दर्य पर अपनी ज़िन्दगी अर्पण कर चुका है। संसार के सुख को ही वह मानव-जीवन का सुख समझ रहा है। रेहाना की तरुणाई खिले हुए फूल की तरह कल मुरझा जायगी, इसकी भी शायद उसे ख़बर न थी। इश्क़ का नशा उसे बर्बाद कर रहा था। रेहाना समझ रही थी कि मेरे कारण महमूद की यह दशा है। लेकिन वह ऐसी व्यवस्था करने से लाचार थी, जिससे उन दोनों की इज़्ज़त भी बच जाय और कारोबार सुरक्षित रह जाय।

जब तक अन्तिम अलङ्कार रेहाना के पास रहा, ख़र्च चलता रहा। अब मुसीबत का सामना आया। दौलत का नशा उतरा। महमूद की आँख खुली। उधर शाह-ईरान के गुप्तचर पता लगाते हुए महमूद के पास दूसरा पत्र लेकर पहुँचे। महमूद ने इसे यम का भेजा मृत्यु-पत्र समझा। डरते-डरते खोला और पढ़ा। उसमें लिखा था :

नासमझ महमूद !

तुम मुझे रेहाना के इश्क़ की आग में जला रहे हो, और तुम मेरे ख़ौफ़ की आग में जल रहे हो। रेहाना एक रत्न है। जब उसके परख करने वाले दोनों जौहरी न रहेंगे, तब उसकी क़द्र कौन करेगा? आओ, हम तुम दोनों मिलकर इस अमर का एक क़तई फ़ैसला कर लें। मैं यह भी कह रखना चाहता हूँ कि अगर मुझे इन्साफ़ का ख़ून करना होता और ख़ौफ़ेख़ुदा न होता, तो ख़त के बदले शमशीर भेजी होती।

तुम्हारा,

—ताहिर

चोट पर चोट लगी, लेकिन अन्तिम पंक्तियों ने मरहम का काम किया। रैहाना ने इस पर इतना ही कहा—"मैं ही इस मुसीबत की जड़ हूँ।"

– ६ –

तेहरान (ईरान की राजधानी) में आज घर-घर एक ही बात हो रही है। हर मर्द-औरत की ज़बान पर एक ही बात है। वह यह कि शाह के मर्ज़ की दवा लेकर नैशापुरी हकीम महमूद आज आ गया है! सल्तनत में फैली हुई बदअमनी और शाही महल में दीखने वाली उदासी अब अमनोअमान, खुशी और रौनक़ के साथ बदल जायगी।

महमूद का दिल शाह का दूसरा ख़त पाकर डरने के बदले कुछ शहज़ोर हुआ। उसे अपने पिछले दिनों की याद आने लगी। मुसीबत के अँधेरे ने ऐशोइशरत के उजेले की याद दिलाई। दिन-दिन रैहाना पर से प्यार की मात्रा कम होने लगी। रैहाना हैरान थी, वह पहले की अपेक्षा और अधिक सेवा करती और अधिक स्नेह दिखलाती; महमूद के दिल को बहलाने की चेष्टा करती; परन्तु सब व्यर्थ। रैहाना इसका कारण न समझ सकी।

शाही बाग़ के एक हवादार खूबसूरत मकान में महमूद और रैहाना ठहराए गए। शाही मेहमानी से महमूद का रहा-सहा अन्देशा काफ़ूर हो गया। उसके हृदय में नवीन बल आ गया। शाह-ईरान का दिल तख्तनशीनी के दिन उतना खुश न हुआ होगा, जितना आज है। उसे ऐसा मालूम होता था, मानो कोई बड़ी फ़तह हासिल की हो। रैहाना के दीदार के लिए वह चञ्चल हो उठा। पहले उसने एक बार रैहाना को

छिप कर देखने का यत्न किया। इत्तिफ़ाक़ की बात है कि रैहाना जिस कमरे में बैठी थी, उसमें सामने ही एक दीर्घाकार दर्पण दीवार में लगा था। रैहाना सहज ही उसमें अपनी छवि देखकर कुछ दिवस पूर्व के दिनों का स्मरण कर रही थी। उस समय उसके मानस-पट पर भूत और वर्त्तमान की दशाओं के चित्र उपस्थित थे। न जाने क्या सोच कर एक बार उसके ओष्ठ मन्द हास्य की आभा से आलोकित हुए। हुस्न का दीवाना शाह-ईरान एक चोर की तरह रैहाना के देखने की ताक में एक खिड़की के पास खड़ा था। वहाँ से रैहाना तो न दीखती थी, लेकिन एक बड़े दर्पण के द्वारा रैहाना की अलौकिक छवि देखकर वह अपने हृदय की तपन को शीतल कर रहा था। उसने रैहाना की इस मन्द मुस्कान को देखा। उसे ऐसा जान पड़ा, मानो उस पर बिजली गिर पड़ी, और वह मूर्च्छित ही हुआ चाहता था कि उसके सौभाग्य से शीघ्र ही रैहाना ने एक ठण्डी साँस ली, जिससे चेहरे का रङ्ग कुछ फीका पड़ गया। शाह-ईरान विस्मय में पड़ गया और अपने को सम्भाल लिया। लड़ाई के मैदान में तोपों की गर्जना जिन वीरों के दिल को दहला नहीं सकती, और तलवारों की चमक आँखों में चकाचौंधी नहीं ला सकती, वे ही वीर स्त्री की चितवन के तीर खाकर अपने हथियार डाल देते हैं, और शरणागत होने के लिए दीनता का सफ़ेद झण्डा उठा देते हैं।

शाह-ईरान ने देखा, रैहाना एक अद्वितीय स्त्री-रत्न है। मेरे महल में इसके न होने से मैं कङ्गाल हूँ। परन्तु इस समय ख़ानाबदोश महमूद धन-कुबेर है। सोचने लगा—यदि माँगू तो शाही शान में बट्टा लगेगा;

छीनूँ तो इन्साफ़ का ख़ून हो जायगा; जाने दूँ तो ज़िन्दगी बेकार है। वह अपना कर्त्तव्य निर्णय न कर सका।

कानों से जिस शाह-ईरान ने रैहाना के सौन्दर्य की ख़बर सुन कर उस पर तन-मन निसार कर रक्खा था, आज नेत्रों ने दर्पण में उसी रैहाना की छवि के दर्शन किए। एक बार मन हाथ से निकल जाने को था, लेकिन धैर्य ने शाह का साथ देकर सच्ची शाही शान की इज़्ज़त रख दी।

सोचने लगा—यदि महमूद रैहाना को प्रसन्नता-पूर्वक तलाक़ देकर बदले में उसकी तौल का सोना ले ले, तो मैं देने को तैयार हूँ। इस तरह से मिली हुई रैहाना को पाकर मैं सुखी होऊँगा और लोकापवाद से बच जाऊँगा। महमूद भी, जो आज दरिद्रता का दास बना हुआ है, प्रसन्न हो जायगा। इस युक्ति ने शाह को शान्त किया।

— ७ —

जिस समय रैहाना ने दर्पण में निज प्रतिबिम्ब को देख कर एक बार अपने आप प्रसन्नता प्रकट की थी और तत्काल की ठण्डी साँस ली थी, उस समय खिन्न-मनस्क महमूद पास ही बैठा था। उसने रैहाना के हृदयस्थ मर्म को जान लिया। वह चाहता था कि उसे गले लगा कर सान्त्वना दे, परन्तु भावी भावना ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। उसके मुख पर विषाद की छाया आ गई। परन्तु रैहाना के हृदय को चोट न लगे, इस भावना से प्रेरित होकर उसने अपना रुख़ दूसरी ओर कर लिया।

पतझड़ के मौसिम का बन एक तो यों ही उदास बन जाता है, इतने पर उसी के गिरे पत्तों में लगी आग उसे जलाकर और भी भयानक बना देती है। परेशान-हाल महमूद उस शाही मकान में ख़ुद को वैसा ही समझ रहा था, जैसा सोने के पिंजड़े में क़ैदी तोता। अभी कुछ फेरते देर न हुई थी कि एक शाही ख़त मिला। उसमें लिखा था:

मेरे महमान महमूद,

आज तुम्हें यहाँ पाकर मुझे तसल्ली हुई है। उम्मीद है, तुम्हें भी अब तसकीन हुई होगी। मुनासिब तो नहीं है कि मैं मेहमान का दिल दुखाने वाला बनूँ, लेकिन यह समझ कर कि तुम तिजारत-पेशा हो, यह कहना मुनासिब समझता हूँ कि अगर रैहाना की मुहब्बत तर्क कर सको, तो मैं बदले में तुम्हें उसकी तौल का सोना देने को तैयार हूँ, और यदि चाहोगे, तो दरबार के ख़ास मुसाहिबों में शामिल कर लिए जाओगे। मैं समझता हूँ कि शाही सरफ़राज़ी को तुम नाराज़ी में तब्दील न करोगे; और मैं समझता हूँ कि तुम आयन्दा रैहाना को और ज़्यादा आराम और इज़्ज़त वाली देखना पसन्द करोगे।

तुम्हारा ख़ैरन्देश,

—ताहिर

पढ़ते ही महमूद लालच और स्नेह के चुम्बकों के बीच का लोहा बन गया। पत्र हाथ से गिर गया, उस पर रैहाना की नज़र पड़ी। पढ़ते ही ऐसा मालूम हुआ कि मानो उस पर बिजली गिर गई हो। कुछ देर तक वह मौन थी। निदान धीरज का बाँध टूट गया और उसका हार्दिक दुःख आँखों की राह से फूट कर बहने लगा। वह फूट-फूट

कर रोने लगी। रोने की आवाज़ शाह ने सुनी। वह और भी ग़ौर से कान लगा कर सुनने लगा।

विपत्ति के सताये महमूद ने सोचा, यदि रैहाना की मुहब्बत का ख़्याल करता हूँ, तो सम्भव है कि मुझ पर कोई आफ़त का पहाड़ टूट पड़े, और शाह की दी इज़्ज़त और दौलत की तरफ़ हाथ बढ़ाता हूँ, तो पवित्र हृदय और अटूट प्रेम वाली रैहाना हाथ से जाती है। अब तो महमूद भी बरदाश्त न कर सका, बेसाख़्ता रो पड़ा। यह देखकर रैहाना उसके गले में लिपट कर फूट-फूटकर रोने लगी। उस वक़्त उस कमरे में सिवाय उस आईने के, जिसके सामने वे बैठे थे, और हवा के जो कमरे में आ-जा रही थी, इनका कोई हमदर्द न था, जो तसल्ली देता। आईना इनकी बेबसी का चित्र शाह की आँखों के लैंस से उसके हृदय-पट पर खींच रहा था, और हवा उनकी दुख-दर्द भरी आवाज़ को शाह के गोश-गुज़ार कर रही थी।

— ८ —

कमज़ोर आदमी रोकर अपना दिल हलका कर लिया करता है। आख़िर रो-धो कर दोनों चुप हुए। कुछ देर तक कमरे में सन्नाटा रहा मानो हवा भी ठहर गई। उस समय दोनों एक-दूसरे को प्रेम, किन्तु उद्वेगजनक दृष्टि से देख रहे थे। सङ्कोच बोलने न देता था। निदान रैहाना का मौन टूटा—उसने अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहा :

"प्यारे! मैं ही तुम्हारे सुख का काँटा हूँ। उचित है कि तुम इसे निकाल कर फेंक दो; और ऐसी जगह फेंक दो कि किसी और निरपराधी को न लगे। मेरे जीवन का जब तक अस्तित्व है, तब तक मैं तुम्हारे

दुख का कारण हूँ। मैं उसे मिटा देने के लिए भी तैयार हूँ, यदि मुझे यह ज्ञान हो जाय कि मेरे विछोह से तुम सुखी हो सकोगे।

"तुमने अपने बाहुबल से लाखों रुपयों की दौलत कमाई, लेकिन आज वह कहाँ है? अगर मेरी तौल के सोने से तुम्हारे दिन फिर सकते हैं, तो फेर लो, लेकिन शाह के हाथ लगा हुआ मेरा बेजान जिस्म किस काम आएगा? मान लो, मैं जीती भी रही, तो क्या मेरा मौजूदा हुस्न सबेरे खिलने वाले फूल की तरह शाम को मुरझा न जायगा? उस समय शाह भी मुझे दूध में से मक्खी की तरह निकाल कर फेंक देंगे।

"मैं विनती करती हूँ कि तुम अपने हृदय को दुखी न करो। रैहाना शाही महल और ऐश-अशरत को तुच्छ दृष्टि से देखती है। मैं तुम्हारे साथ मज़दूरी करूँगी, सूखी रोटियाँ खाऊँगी और तुम्हारी ख़िदमत करूँगी। चलो, यहाँ से निकल चलो।"

महमूद अपने हृदय-स्थित सङ्कुचित विचार पर लज्जित हुआ। उसका प्रायश्चित करने के लिए वह रैहाना के क़दमों पर गिर पड़ा। बहने वाले आँसू मानो यह बतला रहे थे कि मन का पाप आँखों की राह से बहा चला जा रहा है। अश्रु पूर्ण रैहाना ने तुरन्त महमूद का सिर उठा कर अपने सीने से लगा लिया। अभी दोनों इसी स्थिति में थे कि उनके कान में आवाज़ आई :—

"शाबास! रैहाना शाबास!! तूने हम दोनों को बाल-बाल बचा लिया। अल्लाह का शुक्र कर, और अपने ग़म को दूर कर। आज से तू मेरी धर्म-बहिन हुई। भाई महमूद, आओ गले मिलो, और मेरा क़ुसूर मुआफ़ कर दो। मेरे झूठे प्रेम का उन्माद आज दूर हो गया।"

❁ ❁ ❁

मास्टर आत्माराम

[श्री० 'सुदर्शन']

"यह तो हमारे मास्टर साहब हैं।"—स्वयंसेवक ने कहा।

मैं चौंक पड़ा। मुझे कभी सन्देह भी न हुआ था कि वह मास्टर हो सकता है। मैं समझता था, कोई नौकर होगा। शायद किसी वकील का चपरासी हो। इससे ज़्यादा मैंने उसे कभी कुछ ख़्याल नहीं किया। कितने आश्चर्य की बात है कि जो व्यक्ति रात के बारह-बारह बजे तक मेरी और दूसरे उपदेशकों की सेवा करता रहता था, जिसे जूते साफ़ करने, बिस्तर झाड़ने, और मैले कपड़े धोने में भी सङ्कोच न था, वह स्कूल का मास्टर निकला। मुझे बड़ा अभिमान है कि मैं आदमी को उसका चेहरा देख कर पहचान सकता हूँ। मगर मुलतान के उस उदास, निराश, चुपचाप रहने वाले अद्भुत आदमी के सामने मेरी यह शक्ति बिलकुल बेकार सिद्ध हुई। परन्तु मुझे अब भी सन्देह था कि सम्भव है, स्वयंसेवक किसी दूसरे व्यक्ति का ज़िक्र कर रहा हो। मैंने पूछा—"तुम किस आदमी के विषय में कह रहे हो? मेरा इशारा उस आदमी की तरफ़ है, जो रात को हमें दूध देने आया था।"

स्वयंसेवक—"जी हाँ! मैं भी उन्हीं की बाबत कह रहा हूँ।"

मैं—"तुम मेरे रात के व्याख्यान में थे ?"

"हाँ थे।"

"व्याख्यान के शुरू होने पर जिस आदमी ने मेज़ पर लैम्प रक्खा था, मैं उस शख़्स का ज़िक्र कर रहा हूँ।"

स्वयंसेवक—"वही मास्टर साहब हैं।"

मैं—"तुम ज़रूर ग़लती कर रहे हो। मैं ऐसा मूर्ख नहीं कि एक साधारण नौकर और स्कूल-मास्टर को भी न पहचान सकूँ। (थोड़ी देर के बाद) अच्छा, उनका नाम क्या है ?"

स्वयंसेवक—"लाला आत्माराम, बी० ए०, बी० टी०। हमारे ही स्कूल में सेकेण्ड मास्टर हैं।"

मैं—"मगर शक्ल-सूरत से तो मालूम नहीं होता कि वह ग्रेजुएट होंगे। अगर वह मुझसे स्वयं कहते कि मैं ग्रेजुएट हूँ, मैं तब भी न मानता। समझता झूठ बोल रहे हैं। और मुझे तो अभी तक विश्वास नहीं आता।"

स्वयंसेवक—"और किसी को भी विश्वास नहीं आता कि यह महात्मा ग्रेजुएट होंगे।"

मैं—"कपड़े कैसे मैले पहनते हैं, जैसे कुली हों। बल्कि मेरा तो ख़्याल है, कुलियों के कपड़े भी इनसे अच्छे होते हैं।"

स्वयंसेवक—"घर में इससे भी बुरे पहनते हैं। हाँ, जब इन्सपेक्टर आने वाला हो, उस दिन कपड़े बदल आते हैं।"

मैं—"और बहुत उदास रहते हैं। मैंने उनकी आँखों में कभी ज्योति नहीं देखी। यों काम को हर समय तैयार रहते हैं। ऐसा मालूम होता है, जैसे दिल ही दिल में कुढ़ते रहते हैं।"

स्वयंसेवक—"मगर किसी को कुछ बताते नहीं हैं। हेडमास्टर साहब ने कई बार अनुरोध किया, लेकिन कुछ न बताया। केवल इतना ही कहा—मैंने पाप किया है, यह उसका प्रायश्चित्त है।"

मैं—"अद्भुत प्रकृति का मनुष्य है।"

स्वयंसेवक—"मगर आदमी शरीफ़ हैं। आपको कोई काम हो, रात के ९ बजे बुला भेजिए—दौड़ते हुए चले आएँगे। एक बार भी 'नहीं' न कहेंगे। और फिर जनाब पुरुषार्थी ऐसे हैं कि सारी रात काम कराते रहिए, आँख भी न झपकेंगी, न थकेंगी।'

मेरी हैरानगी और भी बढ़ गई। स्वयंसेवक के चले जाने पर बार-बार सोचता था, इसकी तह में ज़रूर कोई अद्भुत रहस्य है, कोई छिपी हुई घटना। परन्तु वह क्या है? इस आदमी ने ऐसा कौन-सा पाप किया है, जिसका प्रायश्चित करने के लिए अपने आप को लोगों की दृष्टि में गिरा रहा है। सन्ध्या का समय था, मेरा व्याख्यान शुरू होने में केवल एक घण्टा बाक़ी था। पण्डाल में लोग अभी से एकत्रित हो रहे थे। उनके चिल्लाने की आवाज़ें मेरे कानों तक पहुँच रही थीं। मगर मुझे व्याख्यान की ज़रा भी चिन्ता न थी, मैं ज़रा भी न सोचता था कि आज क्या कहूँगा। मेरे सामने इस समय एक ही प्रश्न था—यह मास्टर साहब कौन हैं? इनका गुप्त इतिहास क्या है? मैं इसे जानने के लिए अधीर हो रहा था।

सहसा दरवाज़ा खुला और एक आदमी अन्दर आया। मैं उछल पड़ा—यह मास्टर आत्माराम थे। इससे पहली रात को भी मेरा व्याख्यान था। भीड़ के अधिक होने के कारण मेरा गला बैठ गया था।

डॉक्टर दत्त ने मेरे लिए गले की टिकियाँ भेजी थीं, ताकि व्याख्यान देते समय आवाज़ साफ़ रहे। मास्टर आत्माराम वही टिकियाँ लेकर आए थे। उन्होंने शीशी मेज़ पर रख दी, और धीरे से पूछा—आप भोजन कब करेंगे? इस समय या व्याख्यान के बाद? यदि इस समय खाना चाहें तो ले आऊँ?

मैंने इस प्रश्न का उत्तर न दिया, और उठ कर उनका हाथ थाम लिया। वह कुछ घबरा गए। शायद उनको मुझसे ऐसे सुकोमल व्यवहार की आशा न थी। मगर मैंने इसका ज़रा भी ख़्याल न किया, और कहा—"मास्टर साहब! मुझे आप से शिकायत है कि आपने मुझे धोखा दिया, वरना मुझसे ऐसी गुस्ताख़ी कभी न होती।"

मास्टर साहब ने मेरी ओर आश्चर्य से देखा और कहा—"आप क्या कह रहे हैं? मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा।"

मैं उनको घसीट कर अपनी चारपाई के निकट ले गया, और उन्हें अपने साथ बैठा कर बोला—"मैं अभी समझाए देता हूँ।"

मगर वह उठने के लिए छटपटाने लगे, जैसे उनको दण्ड दिया जा रहा था। वह उठने का भरसक प्रयत्न करते हुए बोले—"मुझे छोड़ दीजिए। मैं फ़र्श पर बैठूँगा।"

मैं—"(हँसकर) चुपचाप बैठे रहिए, नहीं तो मैं ज़बरदस्ती करूँगा।"

मास्टर साहब—(मिन्नतें करते हुए) "पण्डित जी! परमात्मा के लिये मुझे छोड़ दीजिए। मैं यहाँ बैठने योग्य नहीं, आपके चरणों में बैठूँगा।"

मैं—"चरणों में बहुत बैठ चुके, अब सिर पर बैठना होगा।"

मास्टर साहब ने मेरी तरफ़ ऐसी दृष्टि से देखा, जो पत्थरों में भी सूराख़ कर देती। उनकी आँखें हृदय-वेदना से सजल हो गईं। दीन-भाव से बोले—"मुझे मजबूर न करें, मैं आपके साथ कभी नहीं बैठूँगा।"

मैं—"मगर क्यों? साथ बैठने में आख़िर हर्ज़ क्या है? आप सभ्य हैं, शिक्षित हैं, एक हाईस्कूल के सेकण्ड मास्टर हैं। फिर भी × × ×"

आत्माराम—"मैं इस सम्मान का अधिकारी नहीं हूँ—मैं नराधम हूँ।" मैंने उनका हाथ छोड़ दिया। वह जल्दी से फ़र्श पर बैठ गए। अब उनका चेहरा फिर शान्त था, जैसे मछली को पानी मिल जाय। थोड़ा-सा हँस कर बोले—"मेरा स्थान यही है।"

मैंने उनके कन्धे पर प्यार से हाथ रक्खा, और अपनी आँखें उनकी आँखों में डाल कर कहा—"अपनी कहानी सुनाओ। मैं उसे सुने बिना यहाँ से न उठूँगा।"

मास्टर आत्माराम ने एक ठण्डी साँस भरी, और दो गर्म आँसू टपका कर कहा—"मुझसे एक पाप हो गया है, अब प्रायश्चित्त कर रहा हूँ। बस यही मेरी कहानी है।"

मैं—"नहीं, मैं सारी घटना सुनना चाहता हूँ। और (एक-एक शब्द पर ज़ोर देकर) मैं यह सम्पूर्ण कहानी सुने बिना अन्न ग्रहण नहीं करूँगा। बोलो, क्या कहते हो?"

आत्माराम—(विवशता से) "इससे कुछ प्राप्ति न होगी, उल्टा आप भी दुखी हो जाएँगे।"

मैं—"आपका दिल तो हलका हो जायगा।"

आत्माराम—"मैंने यह घटना आज तक किसी से भी नहीं कही।"

मैं—"शायद ऐसी सहानुभूति से और ऐसे आग्रह से किसी ने पूछा भी न हो।"

आत्माराम—"आप क्षमा नहीं कर सकते।"

मैं—"मैं प्रतिज्ञा कर चुका।"

आत्माराम—(सिर झुका कर) तो फिर किसी समय कह सुनाऊँगा। अब तो आपके व्याख्यान का समय है। आप सुनते हैं, कितना शोर मच रहा है? पाँच हज़ार से कम आदमी न होंगे। मेरी दुख-भरी कहानी सुन कर आपका दिल भर आया, तो व्याख्यान ख़राब हो जायगा।"

मैं—"मास्टर जी! मुझे इस समय व्याख्यान की ज़रा भी चिन्ता नहीं। आप इनकार करते हैं, मेरा शौक़ और भी बढ़ता जाता है। जब तक सुन न लूँगा, चैन न आएगा।

आत्माराम मेरे मुँह की तरफ़ देखने लगे।

मैंने झुक कर उनके कन्धों पर दोनों हाथ रख दिये, और कहा—अब तो आपको कहना ही पड़ेगा। देर करना निष्फल है।

आत्माराम ने आकाश की तरफ़ देख कर ठण्ढी साँस भरी, और इसके बाद धीरे-धीरे यों कहना शुरू किया:

"पण्डित जी! मैं जालन्धर का रहने वाला हूँ। मेरे पिता जी वहाँ कपड़े की दूकान करते थे। वह बहुत अमीर न थे, पर ग़रीब भी न थे। उनकी गणना शहर के सुप्रसिद्ध लोगों में होती थी। उनकी बात टालने

का किसी में साहस न था। शहर के गुण्डे भी उनके सम्मुख सिर न उठाते थे। उनकी सचाई और निर्भयता के दृष्टान्त जालन्धर में आज भी आपको सुनाई देंगे। परन्तु मेरा दुर्भाग्य देखिये; मेरे भाग्य में उनकी स्नेह-छाया न लिखी थी। मैं अभी दो ही वर्ष का था कि उनका देहान्त हो गया। मुझे उनकी शक्ल-सूरत भी स्मरण नहीं। भगवान् जाने, कैसे थे, कैसे नहीं थे।

"मेरा पालन-पोषण मेरी विधवा माँ ने किया। उसकी एक सहेली शिवा होशियारपुर की रहने वाली थी। वह भी विधवा थी। इन दोनों में बहुत प्रेम था। उनका प्रेम देख कर सन्देह होता था कि वह सगी बहिनें हैं, सखियाँ नहीं। जब कभी मिलने का अवसर मिलता, सारी-सारी रात बातें करती रहतीं,। रात समाप्त हो जाती, उनकी बातें समाप्त न होतीं। वह प्यार, वह स्नेह, वह विशुद्ध भाव आज भी याद आते हैं, तो दिल से धुआँ-सा उठने लगता है। उसकी एक लड़की थी कमला, मुझसे तीन-चार वर्ष छोटी होगी। दोनों सखियों ने मिल कर हमारी सगाई कर दी।

"उस ज़माने में मैं कॉलेज में दाख़िल हुआ ही था। सगाई होने पर मुझे भी हार्दिक आनन्द हुआ। मैंने कमला को केवल एकाध बार देखा; वह भी बाल्यावस्था में। मुझे उसकी शक्ल-सूरत, रङ्ग-रूप कुछ भी स्मरण न था। मगर इस पर भी मुझे प्रसन्नता हुई। जब एकान्त में बैठता, कमला की काल्पनिक मूर्त्ति आखों के सामने आकर खड़ी हो जाती। मुझे ऐसा मालूम होता था, जैसे एक हँसमुख, भोली-भाली सुन्दरी बाला लज्जा से सिर झुकाए मेरी तरफ़ प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देख रही है।

कभी-कभी ऐसा मालूम होता था, जैसे वह मुझसे बातें कर रही है। धीरे-धीरे मुझे कल्पना-जगत् की इस कल्पित मोहनी मूर्ति से प्रेम बढ़ने लगा। मैंने इस माया को जीती-जागती सुन्दरी लड़की समझ लिया, जिसे विधाता ने मेरे ही लिये उत्पन्न किया था। मगर भाग्य ने मेरे लिये कुछ और ही सोच रक्खा था। जब ट्रेनिङ्ग कॉलेज में भर्ती हुआ, तो एक दिन पता नहीं, किस तरह मेरे दिल में विचार उत्पन्न हुआ कि यदि वह मेरे आदर्श पर पूरी न उतरी, तो क्या होगा? जीवन नष्ट हो जायगा, समस्त आशाएँ, सकल अभिलाषाएँ मिट्टी में मिल जायँगी। यह आशङ्का न थी, मेरी तबाही का श्रीगणेश था। कदाचित् यह घड़ी मेरे जीवन से निकल जाती; काश मैं उस समय सो जाता, अचेत हो जाता, किसी दुर्घटना से ज़ख्मी हो जाता, तो आज मेरा जीवन ऐसा भयानक, ऐसा निराशापूर्ण, ऐसा शोकमय न होता। उस अशुभ दिन के बाद मेरे मन को सच्चा आनन्द कभी प्राप्त नहीं हुआ। मैंने इस सन्देह को, वहम को दिल से दूर करने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु यह सन्देह दूर न हुआ; जैसे खनखजूरे की विष भरी टाँगें एक बार माँस में चुभ कर फिर यत्न करने पर भी बाहर नहीं निकलतीं और अन्दर धँसती ही जाती हैं। कुछ दिन ही बाद मैंने स्थिर कर लिया कि कमला से ब्याह न करूँगा, किसी और लड़की से देख कर करूँगा; पर आज सोचता हूँ, उस समय मुझे क्या हो गया था। शायद मैं पागल हो गया था। न कुछ देखा, न सुना; और निश्चय कर लिया। आदमी समझते सोचते हुये भी कैसा अन्धा हो जाता है, यह आज समझता हूँ, उस समय ज़रा भी ख़्याल न था।

गर्मी की छुट्टियों में घर गया, तो एक दिन माँ ने कहा—क्यों बेटा! अब ब्याह कब करेगा? शिवा आई थी, कहती थी, लड़की जवान हो गई है।

मैं खाना खा रहा था, चुपचाप खाता रहा।

माँ ने थोड़ी देर मेरे उत्तर की प्रतीक्षा की और फिर बोली—समय बड़ा विकट है। लड़कियों को कुँवारी बैठा रखना आसान नहीं।

मैं अब के भी चुप रहा।

माँ—मैं भी उस दिन के लिए तड़प रही हूँ, जब तू सेहरा बाँध कर घोड़ी पर सवार होगा।

मैंने फिर भी उत्तर न दिया।

माँ—(मेरे थाल में भाजी डालते हुए) तो इस बैसाख में ब्याह हो जाए? अब चुप रहना कठिन था। मैंने धीरे से कहा—मैं अभी ब्याह न करूँगा।

माँ ने स्नेहपूर्ण दृष्टि से मेरी तरफ़ देखा, बोली—तो क्या तू बुड्ढा होकर ब्याह करेगा? ज़रा इस लड़के की बातें सुनो। कहता है, अभी ब्याह न करूँगा। पण्डित गोकुलचन्द का लड़का मायाधारी तुझसे तीन महीने छोटा है, उसका ब्याह हुए दो वर्ष बीत गए। लाला कर्ताकिशन का लड़का चूनीलाल × × ×

मैं—(बात काट कर) मुझे औरों से क्या मतलब। मैं अभी ब्याह न करूँगा।

माँ अच्छा यह भी न सही। जानता है, तेरे बाप का ब्याह कब हुआ था? १२ वर्ष की उमर में। उस समय मैं आठ वर्ष की थी।

यह कहते-कहते उसकी आँखें सजल हो गईं। उसकी आवाज़ गले में फँस गई। उससे और न बोला गया। वह चुपचाप दीवार की तरफ़ देखने लगी। मेरा भी दिल भर आया, हाथ का ग्रास हाथ ही में रह गया।

थोड़ी देर बाद उसने फिर ठण्डी साँस ली और बोली—आज अगर तेरा बाप जीता होता, तो क्या तू फिर भी आज तक कुँवारा ही बैठा रहता। न बाबा! मैं अब तेरी एक न सुनूँगी। तू तो पागल है। पढ़-लिख गया तो इससे क्या? अगर है तो वही पागल का पागल; ज़रा भी फ़र्क़ नहीं पड़ा।

मैंने हँस कर जवाब दिया—पागल हूँ, तो पागलख़ाने भेजो, ब्याह क्यों करती हो। इससे तो यह मालूम होता है कि तुम भी पागल हो।

अब माँ को भी हँसी आई; ठोड़ी पर उँगली रख कर बोली—बाबा पता नहीं, यह तूने इतनी बातें कहाँ से सीख लीं। पर एक बात कहे देती हूँ, तुझे अब ब्याह करना ही पड़ेगा।"

मैंने खाने का थाल परे हटा दिया, और गम्भीरता से कहा—माँ! मैंने एक बार कह दिया है, ब्याह न करूँगा। यह मेरा अन्तिम निश्चय है।

शायद माँ को तब तक यही ख़्याल था कि यह इन्कार जीभ का है, हृदय का नहीं। लड़के माँ-बाप के सामने ऐसा ही कहा करते हैं। परन्तु मेरी दृढ़ता देख कर माँ का चित्त उदास हो गया। बोली—तो क्या जवाब दूँ, लड़की जवान हो गई है।

में—कहो, और कहीं ब्याह दे। हिन्दोस्तान में मेरे सिवाय और भी बहुत से लड़के हैं।

मेरी इस बात से माँ के कलेजे में तीर-सा लगा। स्नेह की मूर्त्ति ने क्रोध का रूप धारण कर लिया। उसकी आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं, जैसे चन्दन को भी रगड़ा जाय तो उससे आग निकलती है। वह कड़क कर बोली—क्या कॉलेज में तू ने यही निर्लज्जता की बातें सीखी हैं। अगर मर्द होता तो मर जाता, पर यह बात मुँह से न निकालता। अपनी स्त्री का ब्याह दूसरे पुरुष से होते देखेगा, और फिर भी जीता रहेगा।

माँ का यह रूप देख कर मेरे देवता कूच कर गए। मेरे मुँह से एक भी शब्द न निकला। मुँह में ज़बान थी, ज़बान में बोलने की शक्ति न थी। मैं चाहता था, माँ एक बार फिर उसी तरह प्यार से अपना अधिकार जता कर कह दे, तुझे ब्याह करना होगा, तो मैं सिर झुका कर स्वीकार लूँ, चूँ भी न करूँ। परन्तु माँ ने यह शब्द न कहे, और उठ कर चारपाई पर जा लेटी। मैं भी बाहर चला आया। अब मैं फिर वही ज़िद्दी, वही महामूर्ख, वही वहमी आत्माराम था, जिसने न कुछ देखा, न सुना, और समझ बैठा कि कमला से ब्याह करके मेरा जीवन अन्धकारमय हो जायगा। पहले-पहल यह सन्देह कोमल पौधा था, जिसे उखाड़ना ज़रा भी कठिन नहीं होता, आदमी चाहे तो पैर से भी उखाड़ ले। मगर अब वही पौधा वृक्ष का रूप धारण कर चुका था, जिसे हाथी हिलाना चाहे, तो वह भी न हिला सके। परमात्मा ही जानता है,

संसार में मेरे जैसे अभागे कितने हैं, जो अपने ही निर्मूल सन्देह के जगत में भटक-भटक कर नष्ट हो जाते हैं।

कुछ दिनों बाद होशियारपुर से पत्र आया कि जल्दी स्वीकृति भेजो, तो तैयारियाँ शुरू करूँ। मुझे तो शहर में मुँह दिखाना भी मुश्किल हो गया है। पत्र पढ़ कर मैं सोचने लगा, माँ को दिखाऊँ या न दिखाऊँ। फिर सिर पर सवार हो जायगी, फिर वही गालियाँ मिलेंगी, और क्या पता, ज़बरदस्ती ब्याह कर दे। मैं घबरा गया। दो दिन सोचता रहा, तीसरे दिन मार्ग मिल गया। मैंने माँ की तरफ़ से पत्र लिख दिया। उस पत्र का आशय यह था :

"बहिन! क्या कहूँ, कहते हुए लज्जा आती है। जी चाहता है, कहीं डूब मरूँ। तुम्हें कभी मुँह न दिखाऊँ। मगर मेरा इसमें ज़रा भी दोष नहीं। आत्माराम की ही बुद्धि पर पत्थर पड़ गए हैं, कहता है, मैं ब्याह न करूँगा। क्या-क्या आशाएँ थीं—सब पर पानी फिर गया। कमला को अपनी बहू बना कर मुझे कैसा स्वर्गीय आनन्द प्राप्त होता! अफ़सोस!!

"मुझे आत्माराम से अब ज़रा भी आशा नहीं। मैं समझा-समझा कर थक गई परन्तु उस पर असर नहीं होता। कैसे लिखवाऊँ कि कमला को कहीं और ब्याह दो। पर विवश हूँ।

तुम्हारी दुखी बहिन,

—रामदेवी"

पण्डित जी! यह पत्र लिख कर मैं ऐसा खुश हुआ जैसे सिर से कोई भार उतर जाय, जैसे कोई भयानक रोग टल जाय। मगर यह रोग न टला था, मैंने अपने जीवन की सबसे बड़ी बाज़ी हार दी थी। मैं

कितना पतित, कितना पापी, कितना हृदयहीन हूँ। उन समय मुझे ख़्याल भी न आया कि मैं क्या कर रहा हूँ। माँ को मालूम भी न हुआ, और वह पत्र होशियारपुर जा पहुँचा। मेरा पत्र पाकर शिवा को कितना दुख हुआ होगा, यह मुझसे छिपा न था। इसी से उसने पत्र लिखना भी बन्द कर दिया। प्रेम जब क्रोध में आता है; तो चुप हो जाता है, बोलता नहीं है। मगर यह बात ज़्यादा दिन छिपने वाली न थी, एक दिन प्रकट हो गई।

वैसाख की एक सन्ध्या थी। मैं सैर करके घर लौटा तो माँ चुपचाप बैठी थी। उसकी आँखें रो-रोकर सूज गई थीं। मुझे देखते ही उसकी आँखों से फिर आँसू बहने लगे, जैसे घाव पर चोट लग जाय। रोते-रोते बोली—पुत्र! तूने बुरा किया। यह तुझे उचित न था। ग़रीब लड़की का दिल टूट गया है। जब से तेरा पत्र गया है, दिन-रात रोती रहती है। उसके मामा ने एक वर ठीक किया है, मगर वह कहती है, मेरा ब्याह हो चुका। हिन्दू की लड़की हूँ, दूसरा ब्याह न करूँगी। परन्तु उसका मामा ब्याह करने पर तुला हुआ है। भगवान् जाने, क्या हो, क्या न हो। मगर तूने बुरा किया। अब भी कुछ हो सके, तो कर ले, वरना मैं कुछ खा मरूँगी। हाय बेटा, तूने इतना भी न सोचा कि यह मेरी माँ है।

यह कह कर वह फूट-फूट कर रोने लगी। वह रात जिस तरह मैंने गुज़ारी है, यह मैं ही जानता हूँ। दूसरे दिन मैं होशियारपुर की गाड़ी में बैठ गया। मैंने दृढ़ सङ्कल्प कर लिया कि जाते ही शिवा के पाँव पकड़ लूँगा। कहूँगा तू मेरी माँ है, मुझे माफ़ कर, या सज़ा दे। परन्तु वहाँ

पहुँचा, तो द्वार पर ब्याह के चिन्ह दिखाई दिए। मेरा कलेजा सन् हो गया ! पर मैंने फिर भी हिम्मत न हारी, और भागता हुआ अन्दर चला गया। उस समय मुझे जो कोई देखता, वह यही समझता कि यह पागल है। और मैं वास्तव में पागल ही था। मेरी विचार-शक्ति नष्ट हो चुकी थी। मुझे इतना मालूम न था कि मैं क्या कर रहा हूँ। आँगन में पहुँचा तो शिवा सामने से आती दिखाई दी। मगर इस दशा में उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। मुझे देखा, तो उसकी आँखों से आग की ज्वाला निकलने लगी, जैसे किसी ने सिंहनी के बच्चे को छेड़ दिया हो। दाँत पीसती हुई बोली—अब तू यहाँ क्यों आया है ? क्या मेरी बेटी की हत्या करके भी तुझे सन्तोष नहीं हुआ ?

यह कह कर वह तो वापस चली गई; मुझे जैसे किसी ने काठ मार दिया, जैसे किसी दैवी शाप से मेरे पाँव ज़मीन में जम गए। घर में मुहल्ले भर की स्त्रियाँ जमा थीं, शिवा की आवाज़ सुन कर उनमें से कुछ बाहर चली आईं। एक-दो मुझे पहचानती थीं। एक बोली—अरे बेटा ! तूने तो अनर्थ किया। यह लड़की न थी, हीरा थी। इसे ठुकरा कर तेरा भी भला न होगा। ग़रीब ने विष खा लिया।

मैंने कलेजा थाम लिया। मुझे ऐसा मालूम हुआ, मानों यह जागृति नहीं है, स्वप्न है। सोचता था, अभी आँख खुल जायगी। अभी यह हार्दिक वेदना समाप्त हो जायगी। इतने में दूसरी स्त्री बोली—वह तो सती थी सती। रात को ब्याह था पहले ही विष खा लिया।

तीसरी—शायद बच जाए।

मुझे कुछ आशा हो गई।

दूसरी—(सर हिला कर) अब क्या बचेगी। डॉक्टर भी जवाब दे गया। मेरा दिल फिर बैठ गया।

तीसरी—डॉक्टर कोई परमेश्वर थोड़े ही है। परमेश्वर चाहे तो अब भी बचा ले। वह चाहे तो मुर्दा जी उठे।

चौथी—इसमें क्या संदेह है। वह सब कुछ कर सकता है। परमात्मा करे, बच ही जाय। ग़रीब ने दुनिया को देखा ही क्या है?

पाँचवीं—(रोकर) कल मैं पास बैठी रही, मुझसे ज़िक्र भी नहीं किया, हाँ चुप थी। अब मालूम हुआ, उसके मन में मौत बस चुकी थी।

दूसरी—उदास तो उसी दिन से थी, जिस दिन से (मेरी तरफ़ घृणा से इशारा करके) इसका ख़त आया था। उस दिन के बाद उसके मुँह पर किसी ने रौनक नहीं देखी।

तीसरी—क्यों बेटा! इसमें क्या कीड़े पड़े थे जो तूने मँगनी तुड़ा ली। ऐसी लड़की तो सारे शहर में न होगी।

चौथी—(घृणा से मुँह फेर कर) बहिन! किससे बातें करती हो। ऐसे आदमी को तो मुँह न लगाना चाहिए। आदमी काहे को है, राक्षस है।

पहली—(ठण्डी साँस भर कर) वाह बहिन कमला! तू भी गई। अरी अभी तेरी उमर ही क्या थी?

मैं अवाक् खड़ा था। क्या कहता, क्या न कहता। अपने आप को धिक्कार रहा था। इतने में एक लड़की अन्दर से दौड़ती हुई आई, और मुझसे बोली—जल्दी चलो तुम्हें बुला रहे हैं।

मैं भागता हुआ अन्दर चला गया। वह ज़मीन पर पड़ी तड़प रही थी। इस समय भी वह कैसी सुन्दरी, कैसी मोहनी थी। ऐसा मालूम

होता था, जैसे किसी निर्दयी ने एक फूल को तोड़ कर भूमि पर पटक दिया है। उसने मेरी तरफ़ देखा, और फिर आँखें बन्द कर लीं। उस अन्तिम दृष्टि में कितना प्यार, कितना अभिमान, कितना दुःख तथा उलाहना भरा था, इसे आज तक नहीं भूल सका।

उसकी माँ ने रोकर कहा—बेटी कमला! (घबड़ा कर जल्दी से) मेरी बेटी कमला!

मगर कमला कहाँ थी?

स्त्रियों ने जल्दी से उसके हाथ पर आटे का दीपक रख दिया। तो क्या सचमुच उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई? इतनी जल्दी? इतनी छोटी आयु में? उसकी माँ का हृदय-बेधक विलाप वायु-मण्डल में गूँजने लगा, स्त्रियाँ फूट-फूट कर रोने लगीं।

जब मैं बाहर निकला, तो आसमान चक्कर खा रहा था, ज़मीन घूम रही थी। मेरे पाँव तले भूमि न थी। हृदय के अन्दर आग लगी हुई थी। इस घटना को पाँच वर्ष बीत चुके हैं, वह आग उसी तरह सुलग रही है। न दिन को चैन आता है, न रात को आराम मिलता है। रात को ऐसा मालूम होता है, मानो कोई कन्धा पकड़ कर हिला रहा है। जागता हूँ, तो कोई कमरे में सिसकियाँ भरता हुआ मालूम होता है। सोता हूँ तो स्वप्न में भयानक शक्लें देख कर चौंक उठता हूँ। उस समय मैं अपने आपे में नहीं रहता। मेरी गगन-भेदी चीखों से सारे मुहल्ले के लोगों की नींद हराम हो जाती है। अब मुझे कोई किराये पर मकान भी नहीं देता। कहते हैं कौन मुहल्ले भर से

लड़ाई मोल ले ? तुम पर तो रात को भूत सवार हो जाता है। बड़े यत्नों से शहर के बाहर एक मकान मिला है। उसी में अपनी भग्न-हृदया माता के साथ अपने दुखमय अश्रुपूर्ण जीवन के दिन काट रहा हूँ। परन्तु आह ! वह उसकी अन्तिम प्रेमपूर्ण दृष्टि, वह उसकी जवानी और सुन्दरता की मौत एक पल के लिए भी नहीं भूलती। कैसी आन वाली थी। उसने मुझे देखा नहीं था, मुझसे बातचीत नहीं की थी और न उसका मुझसे पत्र-व्यवहार था। केवल नाम का सम्बन्ध था; इसी पर निछावर होगई। वह इस स्वार्थमय संसार की लड़की न थी, कोई प्राचीन समय की सती थी। आज भी उसके आरप जीवन के अन्तिम क्षण मेरी आँखों के सामने फिर रहे हैं; वही मकान, वही आँगन वही स्त्रियों से भरा हुआ कमरा, और वही उसमें लेटी हुई स्वर्ग की देवी, जो मुझे देखे बिना मरना भी न चाहती थी। हाय शोक ! मैंने क्या कर दिया ? आज पूरे पाँच साल से उसे स्मरण कर-करके रो रहा हूँ। मगर न वह भूलती है, न मौत ही आती है, जो इस जीवन का अन्त हो। इसीलिए मैले कपड़े पहनता हूँ, गन्दा खाना खाता हूँ, अपने आपको दूसरों की आँखों में गिराता हूँ कि शायद इसी तरह मेरे पाप का प्रायश्चित हो जाय।"

यह कहते कहते उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। मेरी जबान से एक शब्द भी न निकला; हाँ हृदय में आग-सी लग गई। थोड़ी देर बाद वह उठ कर मेरा जूता ले आए, और मेरे सामने रख कर बोले—चलिए ! व्याख्यान का समय हो गया।

बाबू जी

[जनाब हसन अब्बास, बी० ए०]

उसकी तनख़्वाह सिर्फ़ पच्चीस रुपए मासिक थी। सुरेश के जीवन पर ग़रीबी का दाग़ कुछ इतना स्पष्ट था, कि वह उसके छिपाए न छिप सका। और मिटाने की चेष्टा में तो और भी उभर आया। उसे अपने सहित, सात प्राणियों के लिये नित्य दोनों समय पेट का ईंधन मुहैया करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त जीवन की अन्य-आवश्यकताएँ भी थीं। फिर उसकी फ़ैशन की मतवाली पत्नी के नाज़ो-नख़रे के लिये रूपया कहाँ से आए? जाड़ों में उसकी अन्धी माँ कोठरी के कच्चे फ़र्श पर, जिसने कभी धूप की एक किरण भी नहीं देखी थी, चटाई बिछाये फटा-पुराना-सा कम्बल ओढ़े पड़ी रहती। मगर वह उसके लिये कुछ न कर सका। उसका एक बच्चा निमोनिया में उसकी आँखों के सामने ठण्डा पड़ गया। मगर वह अपनी ग़रीबी के कारण दूसरे बच्चों की रक्षा के लिये तुरन्त ही गर्म कपड़े न सिलवा सका। उसका अपना कोट, जो उसने दो वर्ष पहिले गुदड़ी बाज़ार से ख़रीदा था, अब कोहनियों से बिलकुल फट चुका था, और उसका कॉलर गरदन के नीचे उस ताक़ की तरह मैला हो रहा था, जिस पर नित्य कई दिये जलाये जायँ। शरद् ऋतु की बर्फ़ीली रातों को जब कभ

वह अपने दुःखों से जलते हुये हृदय को ठण्डक पहुँचाने के लिये निर्जन स्थानों की ओर निकल जाता, तो अपना जीवन पृथ्वी पर बिखरी हुई चाँदनी से अधिक सुनसान और मौन दिखाई पड़ता। उसकी दशा उस गधे के समान थी, जिसकी टाँगें अत्यधिक बोझ के कारण फिसलती जा रही हों, लेकिन वह भय के कारण अपना बोझ गिरा न सके।

उसे वे रातें याद थीं, जब वह अपनी भरी जवानी और मृत पिता का कमाया हुआ धन वेश्याओं के कोठों पर लुटाया करता था। रात-दिन के राग-रङ्गों ने उसकी झोली जल्दी खाली कर दी; बादल के उस टुकड़े की तरह, जो केवल चन्द मिनिट तक बरस कर शान्त हो जाता है। अपनी बरबादी का अनुभव मिटाने के लिए और अपनी टूटी नौका के लिए उसने एक दूसरा माँझी खोजा, लेकिन व्यर्थ! नई-नवेली दुलहन ने उसके रहे सहे सामान को भी आग लगा दी। वह अब चार बच्चों की माँ होकर भी उसी गति से चलना चाहती थी, लेकिन सुरेश के लिए उसके साथ एक क़दम भी उठाना असम्भव था।

उसकी तनख़्वाह सिर्फ़ पच्चीस रुपये मासिक थी। कल रात जब वह थक कर चूर बिस्तर पर लेटा, तो कान्ता ने दिवाली के बहाने नई साड़ी और चप्पल की फ़र्माइश की। उसने कहा, कि उसकी पड़ोसिन भाग्यवती के पति ने उसे नीले रङ्ग की साड़ी ख़रीद दी है, लाजो ने भी नये कपड़े सिलवाए हैं। मोहल्ले-भर में दिवाली मनाने की तैयारी है। आख़िर मेरा ही भाग्य ऐसा बुरा क्यों है, कि कुछ नहीं जुड़ता?

वह अपनी कहे जा रही थी, लेकिन सुरेश किसी और विचार में तल्लीन था। सहसा कान्ता की चूड़ियाँ खनखनाईं; और उसे बोध

हुआ, कि उसके जीवन में चिरकाल से कोई आवाज़ पैदा नहीं हुई। उसने बहुत सोचा—बहुत सोचा, पर दुनिया भर में उसे दफ़्तर के सिर्फ़ चन्द वे चपरासी ही ऐसे मनुष्य दिखाई पड़े, जो प्रगट में उसका आदर करते थे। लेकिन इस पर भी जब वे उसे 'बाबू जी' कह कर पुकारते, तो उसे ऐसा अनुभव होता, मानो उसे किसी ने मुँह पर गाली दी हो, दुखती रग को छेड़ दिया हो। शायद इसलिए, कि इन शब्दों में उसे अपने गत जीवन की प्रतिध्वनी सुनाई देती थी। किसी समय वेश्याएँ भी तो उसे इन्हीं शब्दों से सम्बोधित किया करती थीं।

* * *

आज वह दिन ढले जब दफ़्तर से लौटा, तो उसे महसूस हुआ, कि उसका जोड़-जोड़ दर्द कर रहा है। काम की अधिकता ने उसे कुछ दिनों से बेहाल कर दिया था, और वह उस समय अपने आपको ज़बरदस्ती घर की तरफ़ घसीट रहा था। शहर का समस्त वातावरण एक धुँधलके की लपेट में था। ताँगे वालों की आवाज़ें, लोगों का शोर-गुल और मोटरों के हॉर्न की आवाज़ें धीमी पड़ चुकी थीं, लेकिन वह कीचड़ भरी सड़क पर जूतियाँ चटख़ाता, अपने विचारों के कोलाहल में गुम हुआ जा रहा था। कभी-कभी वह आसमान की ओर निगाहें उठा कर माथे पर बल डाल लेता और फिर अपना होंठ काट कर ज़बरदस्ती थूक निगलने की कोशिश करता। शायद वह अपने मन की पीड़ा में किसी को शरीक नहीं करना चाहता था। इसी उधेड़-बुन में वह अपने आपको सर्दी में सिमेटता, अपने दोनों हाथ की अँगुली पर्शों में

दबाता उस तङ्ग गली के नुक्कड़ पर पहुँचा, जहाँ से उसका घर बिल्कुल अन्धकार में छिपा मालूम होता था।

उसकी माँ बीमार थी। यों तो वह एक अर्से से दमे के रोग में ग्रस्त थी, लेकिन आज उसे अधिक कष्ट था। वह उस घोड़ी की तरह हाँपती मालूम होती थी, जो अभी-अभी लम्बी दौड़ से वापस आई हो। दिए की धीमी रौशनी में उसकी छाया काले भूत की तरह दीवार से लिपट रही थी। सुरेश हैरान था। अगर सुबह उसे माँ की बीमारी की ख़बर होती, तो वह ज़रूर किसी न किसी बहाने से दफ़्तर में किसी साथी से एक रुपया उधार ले लेता। उसने सोचना शुरू किया लेकिन दवाई हासिल करने का कोई उपाय न सूझा। बाहर सहन में उसका छोटा लड़का माँ के कन्धे पर झुका स्कूल की किताब ख़रीदने के लिए रो रहा था।

* * *

उस रात वह देर तक जागता रहा और आख़िर उकताया हुआ उस कोठरी से निकल कर अपने बिछौने की ओर आया। वह इस ढङ्ग से चारपाई पर गिरा, कि कान्ता की आँख खुल गई।

कान्ता जाग उठी, और उसके साथ उसकी वे समस्त इच्छाएँ जाग उठीं, जिनके सपने आँखों में लिए वह सो गई थी। उसने बुड्ढा सास का ज़िक्र छेड़ा। इस विश्वास के साथ, कि वह इस तरह चिकनी-चुपड़ी बातों से पति के मन पर क़ब्ज़ा करके उसे अपने लिए नई साड़ी और चप्पल ख़रीदने पर आमादा कर सकेगी। लेकिन सुरेश किसी और दुनिया में था। इस दुनिया के राग-रङ्ग और सुख-दुःख से बिल्कुल

अलग-थलग, जहाँ ग़रीबी और अमीरी की आँधियाँ नहीं चलतीं न पतझड़, न वसन्त, न घोंसला, न बिजली, न शिकार, न शिकारी! नक्षत्रों की चाल से बेख़बर दुनिया। आलोकित लहरें हैं, कि बहती जा रही हैं। भोले-भाले चेहरे धन की तरङ्गों, निर्धनता के थपेड़ों से अज्ञान...... इतमीनान और शान्ति......!

वह चुप था, और कान्ता अपनी बातों से ज़ोर डाल कर काम निकालना चाहती थी, उस मधुमक्खी की भाँति, जो भनभनाती हुई कुल फूलों का सारा रस चूस लेती है। सुरेश सामने गन्दे ताक़ पर धरे हुए उस बूढ़े चिराग़ की तरह अनुभवहीन था, जिसकी लौ प्रति क्षण तेल की कमी के कारण धीमी होती जा रही हो। पत्नी की बातें उसके कानों में कान-सलाई की तरह रेंग-रेंग कर दाख़िल हो रही थीं; और इसके पहिले, कि वह कुछ कहे, नींद का एक ही झोंका उसे स्वप्न संसार से उड़ा ले गया।

पौ फटने लगी, और मज़दूरों की दुनिया में एक खलबली-सी मच गई। अँधेरी कोठरियों में, सड़कों और पटरियों पर सोए हुए मज़दूर पेट की आग बुझाने के लिए लम्बी-लम्बी धुएँदार चिमनियों वाले कारख़ाने की तरफ़ भागने लगे। मोअज़्ज़िन (अज़ान देने वाले) की सदा और मन्दिरों की घण्टियों ने वायु-मण्डल में एक कम्पन पैदा कर दी, लेकिन मज़दूर के ग़रीबी में जकड़े हुए क़दम अपना रास्ता न बदल सके। सुरेश आज बहुत देर तक निद्रा में खोया रहा। वह एकाएक चौंक उठा मानो कोई डरावना स्वप्न देखा हो। उसके चेहरे पर वर्षों की ग़रीबी की छाप स्पष्ट थी। वह पछताया हुआ-सा था, उस शराबी की तरह, जिसने

रात नशे की हालत में जुए में बहुत-सा धन खो दिया हो। सूर्य की किरणें अब ज़ीने से उतर कर सेहन में बिखर रही थीं, मानों उसके दफ़्तर जाने का समय हो चुका था। उसके पास घड़ी तो थी नहीं; सिर्फ़ धूप का अन्दाज़ा था।

वह सड़क पर धीरे-धीरे दफ़्तर जा रहा था। उसे बीड़ी की ज़रूरत महसूस हुई। जेब में हाथ डाला, तो ख़ाली। थोड़ी दूर जा कर रामचन्द्र बीड़ी वाले की दूकान पर एक बण्डल बीड़ी लेने के लिए रुक गया। उधार लेने वाले ग़रीब ग्राहक की ओर दूकानदार कम ध्यान देता है। वहाँ उस समय वैसे भी ग्राहकों का ज़ोर था और वह चुपचाप दूकान के तख़्ते के साथ एक ओर खड़ा हो गया। पास ही क़साई की दूकान के सामने एक कुत्ता हड्डी की आशा में मुँह खोले खड़ा था। सुरेश न जाने क्यों वहाँ से तुरन्त ही चल दिया। उसके क़दम उसे तेज़ी के साथ आगे को ले जा रहे थे; लेकिन उसके विचार अभी तक रामचन्द्र बीड़ी वाले की दूकान के गिर्द घूम रहे थे। सामने एक चौराहे के पास एक अताई ज़मीन पर मानव-शरीर के विभिन्न नक़्शे बिछाए अपने गिर्द बड़ा मजमा इकट्ठा कर स्वास्थ्य के नियमों पर लेक्चर दे रहा था। वह भीड़-भाड़ देख कर ज़रा रुक गया। सड़क के किनारे एक टाँगे वाला अपनी मरियल घोड़ी को चाबुक मार-मार कर घायल कर रहा था। चौराहे में एक बड़े खम्बे के नीचे एक अधेड़ अवस्था वाली स्त्री खड़ी बार-बार अपनी रङ्गीन साड़ी के बॉर्डर की ओर देख रही थी और एक बूढ़ा फ़क़ीर उसके सामने हाथ पसारे खड़ा अफ़ीम के लिए दो पैसे माँग रहा था। सुरेश के लिए सड़क पर चलते हुए ये मर्द-औरत, टाँगे-मोटर

बिल्कुल फ़िल्मी-चित्र थे, जिन्हें वह प्रगट में आँखों से देख रहा था; लेकिन दिमाग़ पर उनका कोई असर नहीं था।

वह गिरता-पड़ता उस बड़ी इमारत तक पहुँचा; जहाँ उसे हर महीने की पहली तारीख़ को पचीस रुपए मिलते थे। उसे आज शायद देर हो गई थी। वह सीढ़ियों की ओर लपका और तेज़ी से उस कमरे के दरवाज़े पर पहुँचा, जहाँ असंख्य फ़ाइलें और रजिस्टर मेज़ पर पड़े उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। दफ़्तर का चपरासी पन्चू फ़ाइलों का गट्ठा सँभाले बाहर निकल रहा था। अचानक घबराए हुए सुरेश का पाँव उसके पाँव तले दब गया और उसके मुँह से एकदम बेवक़ूफ़ निकल गया।

"ख़बरदार! जो फिर ऐसा कहा। बड़े साहब से कह कर ठीक करा दूँगा।"

सुरेश क्षण भर के लिए अवाक् रह गया। उसके पसीने से तर माथे पर एक लकीर-सी खिंच गई, और होंठ यों एक-दूसरे से अलग हो गए, कि फिर कभी न मिलेंगे। वह आश्चर्य-चकित दृष्टि से पन्चू के कन्धों की ओर देखने लगा और देखता रह गया, जो धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतर रहा था।

वह बहुत धीरे से अपनी सीट की ओर बढ़ा, मेज़ की दराज़ खोली और कल की बची हुई बीड़ी सुलगा कर एक लम्बा कश लगाया। उसे धुएँ की लकीरों में पन्चू की घनी मूछें अब भी क्रोध से काँपती दिखाई पड़ रही थीं!

विदा

[श्री० प्रताप नारायण श्रीवास्तव, बी० ए०, एल्-एल्० बी०]

अनैथा की स्मृति अतीत के खिलौनों से खेलने लगी। उसका वक्षस्थल तूफ़ान से प्रताड़ित जलयान की भाँति उद्वेलित होने लगा। उसके नेत्रों के समक्ष कालिमा की हल्की रेखाओं से अङ्कित वे सजीव चित्र आ कर नृत्य करने लगे, जिन पर अब तक जीवन अवलम्बित था। क्रूर नैराश्यपूर्ण भविष्य को सोच कर वह सिहर उठी, और अपने को उस वेदना से बचाने के लिये रत्नाकार की मदमाती लहरों की ओर ईर्ष्या से देखने लगी। 'पॉरमथ' के समुद्र-तट की वह श्यामली सन्ध्या उसके लिए कौन-सा सन्देश लाई है, वह यह निश्चित न कर सकी।

उसके मस्तिष्क के पट पर अतीत के धूमिल चित्र आने लगे—ऐसी ही वेला में, ऐसी ही ऋतु में, ऐसे ही समुद्-तट पर आज से कई साल पहले, जब मैं अपनी गर्मी की छुट्टियाँ बिताने के लिए 'ब्राइटन' गई हुई थी, तब रूडोल्फ़ से मेरा परिचय हुआ था, वह भी आकस्मिक घटना-स्रोत से। मैं बालुका-स्नान में व्यस्त थी। मेरे नैसर्गिक सौन्दर्य से ओत-प्रोत अवयव, रेणुका के कणों के साथ हास परिहास में लिप्त थे, और मैं उनकी मिलन माधुरी में बेसुध थी। थोड़ी ही दूर पर

रूडोल्फ़ चिन्तित मुद्रा से समुद्र की लहरें गिन रहा था। मेरा उसकी ओर, और उसका मेरी ओर कोई ध्यान नहीं था। इठलाते हुए वायु का एक झोंका आया और मेरे सफ़री तम्बू को गिरा कर उसके अन्दर मेरे टँगे हुए कपड़ों को उड़ाता हुआ ले चला। मेरे मुख से एक हलकी चीख़ निकल गई, जिसने चिन्तित रूडोल्फ़ का ध्यान भङ्ग कर, उसको उनके पीछे दौड़ने के लिए उत्तेजित किया और वह दूसरे ही क्षण हँसती हुई लहरों से मेरे कपड़े छीन लाया। मैंने उसकी ओर कृतज्ञ नेत्रों से देखा और मैं उस उलट-फेर में उसको धन्यवाद देना भी भूल गई।

रूडोल्फ़ ने कहा—हवा की शैतानियों के लिए, अफ़सोस है कि दण्ड-संग्रह में कोई विधान नहीं है।"

मैंने क्या उत्तर दिया था, याद नहीं पड़ता। परन्तु हम दोनों की चितवनें ऐक्य की मधुरिमा में लिप्त हो गईं, और यही हमारे प्रेम का प्रथम परिचय था।

एक दिन उसने मेरा परिचय पूछा, तो मैंने कहा—"मेरे माता पिता किसान थे, जिनका जीवन बड़ा ही शान्तिमय था। मेरे पिता धमनियों में स्कॉच रक्त था और माता में डैनिश। जीवन के प्रथम-प्रहर में डेन्मार्क में उनकी भेंट हुई थी, और वहीं पर उनका विवाह भी। वहाँ से लौटने के बाद मेरे पिता पैतृक खेत जोत कर, और माता अपने मैके से लाई हुई गायों को दुह कर जीवन व्यतीत करने लगीं। अनेक सन्तानों में केवल मैं जीवित रही, और उन्होंने मुझे शिक्षित करने में कुछ उठा नहीं रक्खा। लन्दन यूनिवर्सिटी की मैं सम्मानित

छात्रा थी, और सोशलिस्ट दल की प्रमुख सदस्या। यद्यपि मेरे माता-पिता अकस्मात मर गए थे तथापि मेरे लिए वह इतनी सम्पत्ति छोड़ गए थे, जिससे मेरा जीवन सुख से व्यतीत हो सकता था।

रूडोल्फ़ ने कहा—"मैं जन्म से फ्रान्सीसी हूँ और जर्मन पिता व फ्रान्सीसी माता के संसर्ग से उत्पन्न हुआ हूँ। पेरिस विश्वविद्यालय के विज्ञान-परिषद का सम्मानित छात्र हूँ और इस समय वैज्ञानिक अन्वेषण में लगा हुआ हूँ। मैं समस्त यूरोपीय भाषाओं का पण्डित हूँ और मेरे अन्वेषण किसी दिन संसार को चकित कर देंगे। मेरे माता-पिता का देहान्त हो चुका है। मेरी एक छोटी बहन है, जो इटली के एक सेना नायक को ब्याही है। मेरी माता की जमींदारी नॉरमण्डी प्रान्त में है, जिसकी वार्षिक आय लगभग दस हजार फ्रेंक है।"

इसके बाद हम दोनों की मैत्री बढ़ने लगी। एक दूसरे के प्रति हम इतने आकृष्ट होने लगे, कि निकट भविष्य में विवाह का सुख स्वप्न देखने लगे। किन्तु हमारी आशा फलवती न हो पाई; क्योंकि रूडोल्फ़ की ओर से कोई न कोई आकस्मिक घटना घटित हो जाती! इधर दो साल से उसके जीवन में एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। वह सदैव चुपचाप चिन्तित अवस्था में रहना पसन्द करता। यद्यपि मेरे साथ वह पहले की भाँति हँसता था, खेलता था, किन्तु उसके प्रत्येक कार्य पर एक घना-सा उदासी का आवरण छाया हुआ रहता। उसकी हँसी तुषार-प्रताड़ित फूल की भाँति थी, उसका विनोद आशङ्का की कालिमा से आवृत रहता; उसके नेत्र सदा चकित, शङ्कित और भीत

रहते। इसके अतिरिक्त वह प्रायः एक अनिश्चित काल के लिए अन्तर्हित हो जाता। मैं व्याकुलता से उसकी राह देखा करती, पत्रों में विज्ञापन देती, किन्तु उसका कोई पता न मिलता था। अकस्मात एक दिन वह प्रगट होकर मुझे चकित कर देता, और मेरे सारे प्रश्नों को वह मेरी गोद में हज़ारों रुपए डाल कर बन्द कर देता। वह केवल यह कहता, कि इस विषय में कुछ न पूछो। मैं यद्यपि उसके व्यवहार से सन्तुष्ट नहीं थी, किन्तु चुप रहने के अतिरिक्त कोई उपाय भी तो नहीं था।

मैंने उस पर अपनी दृष्टि रखना आरम्भ किया। उसके जाने के बाद उसका अनुसरण करती और यह जानने का प्रयत्न करती, कि वह कहाँ जाता है और क्या करता है? एक दिन मैं उसका अनुसरण करके घर लौटी ही थी, कि रूडोल्फ़ मेरे पास आया। उसके नेत्र भयाकुल थे, किन्तु वे रक्ताभ थे। वह काँप रहा था। उसने आते ही कहा—"अगैथा, हमारे और तुम्हारे प्रेम का आज ही अन्त समझो। मैं तुमसे विवाह नहीं कर सकता।"

मैं उसकी ओर चकित दृष्टि से देखने लगी। मेरा आत्माभिमान ज़ख्मी होकर तड़पने लगा!

रूडोल्फ़ ने विक्षिप्त की भाँति कहा—"अगैथा, मेरा व्यवहार भद्र मनुष्य का-सा नहीं है, किन्तु मैं विवश हूँ। तुम मेरा अनुसरण करती हो, जिससे मेरा जीवन सङ्कटमय तो हो ही सकता है, किन्तु तुम भी निरापद नहीं रह सकती। मुझे अपने जीवन की विशेष चिन्ता नहीं है, किन्तु मैं तुमको अपने कारण विपद में नहीं डाल सकता। मैं अग्नि-स्फुलिङ्गों से खेल रहा हूँ, जो सदैव जलाते ही हैं। मेरी आज्ञा

तुम त्याग दो, इसी में तुम्हारा मङ्गल है।" यह कहता हुआ वह अन्धकार में विलीन हो गया। मैं शून्य दृष्टि से उसकी पद्ध्वनि का अनुसरण करने लगी।

एक महीने बाद रूडोल्फ़ फिर आया। उसको देख कर मैं पहले तो पहचान नहीं सकी; फिर पहचाना। उसके नेत्रों से यौवन तिरोहित हो चुका था, और नवयौवन की मधुरिमा नष्टप्राय थी। अवसाद और क्लान्ति के चिह्न सर्वत्र प्रगट हो रहे थे। वह रूडोल्फ़ नहीं, उसका प्रेत था। मैं सिहर कर उसकी ओर देखने लगी।

उसने काँपते हुए कण्ठ से कहा—"अगैथा, उस दिन के कटु और अभद्र व्यवहार के लिए मुझे क्षमा करो। मेरी दशा देखो और मेरे ऊपर दया करो। मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ।"

मैं अब भी उसको प्यार करती थी। एक महीने से उसको न देखने से मेरे जीवन का सारा आनन्द और आशाएँ अन्तर्हित हो चुकी थीं। उसके बिना मेरा जीवन निष्फल था। मैं उसकी प्रत्येक बात मानने के लिए तैयार थी। उसका तिरस्कार न कर सकी। उसको उसके पुराने आसन पर पुनः प्रतिष्ठित किया—वह तो कभी रिक्त हुआ ही न था; उसने एक कहानी मुझे सुनाई, कि उसके जीवन की ये सारी विक्षिप्तता उसकी बहिन के कारण घटित हुई थी, जिसने इटली के मिलान नगर में अपने पति की हत्या कर डाली थी। वह उसकी पैरवी के लिए इटली गया था, और प्रमाण में उसने मिलान नगर के न्यायाधीश का फ़ैसला मेरे सामने रख दिया। उसके अकाट्य प्रमाणों को देख कर मैंने उसकी बातों पर विश्वास किया। उसने यह भी कहा, कि अपनी ज़मींदारी

बेच आया है, और इससे उसको पचास हज़ार पौण्ड मिले हैं। उसने एक-एक हज़ार के पचास नोट मेरी गोद में डाल दिए। मैं स्वर्ण-ज़ंजीरों से बँध कर उसका रहस्य जानने की चेष्टा से विरत हो गई।

थोड़े ही दिनों में हमारा विवाह हो गया। विवाह होने के बाद ही हमारे देश को इस भीषण युद्ध में अवतीर्ण होना पड़ा। रूडोल्फ़ के कहने से हम लोग स्थायी रूप से रहने के लिए यहाँ यॉरमथ में आ गए।

यह यॉरमथ, जहाँ मेरे जीवन का प्रातःकाल नवीन आशाओं और अकथनीय अगाध उमङ्गों तथा उत्साह का पुनीत सन्देश ले कर उदित हुआ था, अब शायद मेरी सब कामनाओं की समाधि में परिणत होगा। रूडोल्फ़ का यह विश्वासघात! उफ़ मैं सोच नहीं सकती! नहीं, यह कभी सत्य नहीं हो सकता! मेरा भ्रम है। मैं भूल करती हूँ। वे पत्र, वह मशीन और वे प्राणान्तकारी गैस के बम; सब झूठ हैं। शत्रुओं का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है: रूडोल्फ़ के आविष्कार हैं, जिनको वह इस सङ्कट-काल में अपनी सरकार को भेंट करेगा। आज देश पर कैसी विपद के बादल छाए हुए हैं। जो इङ्गलैण्ड अभी तक समुद्र-वक्ष पर क्रीड़ा कर रहा था, वह आज इस युद्ध के कारण त्रस्त है। इङ्गलैण्ड के वीर सैनिक आज भी शत्रु से लोहा लेने में पीछे नहीं हटते; किन्तु नर-पिशाच शत्रु हमारे शहरों में निरीह नागरिकों पर कायर की भाँति वार करता है! यह कहाँ की वीरता है? आज सारा इङ्गलैण्ड प्राणपण से शत्रु का मुक़ाबला करने में व्यस्त है, और मेरा प्यारा रूडोल्फ़ क्या उसी शत्रु का एक अङ्ग हो कर मेरे देश को बरबाद करने पर तुला है। क्या मैं शत्रु के गुप्तचर की पत्नी हूँ? उफ़, यह नाम मैं कदापि सहन

नहीं कर सकती ! रूडोल्फ़ में जर्मन रक्त अवश्य दौड़ रहा है, वह शत्रु के दल में सहज ही सम्मिलित हो सकता है। वह आज से नहीं, आज दो साल पहले से शत्रु के दल में सम्मिलित है। शायद यही उसकी विक्षिप्तता का असली कारण था, और रुपयों की अजस्र धारा का यही उद्गम है ! रूडोल्फ़ शत्रु-पक्ष का है। इन मिले हुए प्रमाणों के समक्ष मुझे किञ्चित भी सन्देह नहीं रह गया !

कल रात को वायुयान से आए हुए कई शत्रुओं के साथ वह गुप्त मन्त्रणा सर्वथा अविचारणीय नहीं है। उनका छिप कर गैस के बमों का उतारना और फिर पृथ्वी के उदर में छिपाना यह प्रत्यक्ष-प्रमाण है, कि रूडोल्फ़ शत्रुओं का गुप्तचर है, जो किसी उपयुक्त अवसर पर या शत्रुओं से सङ्केत मिलने पर इन घातक बमों का प्रहार हमारे देश के निरीह नर-नारियों पर करेगा। मैं इसको कदापि सहन नहीं कर सकती। अपने देश को बरबाद होते नहीं देख सकती ! मैं देश के लिए सब कुछ त्याग करूँगी !! नीच से नीच कार्य भी करूँगी !!!

लन्दन से दूर यॉरमथ के रहने का कारण अब ज्ञात हुआ ! शत्रु के यातायात की सुगमता और किसी स्थान पर इतनी सुरक्षता से न मिलती। मैंने, न मालूम कितनी बार रूडोल्फ़ को लन्दन में रहने के लिए कहा, किन्तु वह सदैव एक न एक बहाना बना कर मेरे प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता। अपने वैज्ञानिक अन्वेषणों का, उसका दूसरा सबल प्रपञ्च था। वास्तव में वह इन वैज्ञानिक यन्त्रों को एकत्रित कर शत्रुओं के समागम का उपाय करता था। कभी-कभी रात-भर वह उस गुप्त कोठरी में रहता, जहाँ बेतार के तार का बड़ा शक्तिशाली यन्त्र है, जिसको

वह कई सहस्र पाउण्ड में जर्मनी से लाया था। हाय! यह सब उसका प्रपञ्च था! वह संसार का सब से बड़ा ठग है, जिसने अपनी स्त्री को भी ठग लिया है।

क्या रूडोल्फ़ मुझे प्यार करता है? नहीं, अब मुझे विश्वास नहीं होता। उसका सारा प्रेम केवल एक भीषण प्रतारणा है। वह मेरे साथ विवाह करके यहाँ पर रहने का अधिकार प्राप्त करना चाहता था, जिसमें कि किसी को सन्देह न हो। मैं उसकी ढाल हो कर उसकी रक्षा कर रही थी। अब कहीं उसकी रुक्षता का, उसके कभी-कभी विराग का, और उसकी अन्यमनस्कता का कारण ज्ञात हुआ। उसने कभी मुझसे प्रेम नहीं किया। भूली-सी, ठगी-सी उसके प्रेम के गीत गाती रही। हाय! यह मेरी कितनी भारी भूल थी!!

क्या मैं पुलिस में सूचना दे दूँ, कि रूडोल्फ़ ने शत्रुओं के भयानक अस्त्रों को अपने यहाँ प्रश्रय दे कर देश के साथ विश्वासघात किया है? और वह शत्रुओं का गुप्तचर है। इसका दण्ड, केवल प्राण-दण्ड है। मैं अपने रूडोल्फ़ को अपने हाथों से उसके गले में फाँसी का फन्दा डालूँ। मेरी विवेचना-शक्ति काम नहीं देती। भगवान, मुझे मार्ग प्रदर्शित करो!

अगैथा की शक्ति ने जवाब दे दिया था। वह उस निर्जन तट पर दूर, अति अन्तरिक्ष में विहँसते हुए आर्द्रा का दीप्तानन देखती हुई शिथिल हो कर बालुका पर गिर पड़ी। मुस्कुराता हुआ पवन उसे सान्त्वना देने लगा, और अँधेरे ने उसको अपनी काली चादर से ढँक लिया!

* * *

अगैथा ने मोटर-बोट की एक जेब से कुछ खाने का सामान निकाल कर छोटे से स्टूल पर रखते हुए कहा—"रूडोल्फ़, आओ, भोजन करें। इञ्जिन बन्द कर दो और नाव को खुले समुद्र में सन्तरण करने दो। आओ, मेरे पास बैठो।"—उसके स्वर में कम्पन था, जो उसके सङ्कल्प की दृढ़ता को हिलाने का प्रयत्न करता प्रतीत होता था।

रूडोल्फ़ उसका आदेश मान कर अगैथा के सामने बैठ गया। अगैथा ने उस दिन कई प्रकार की मदिराओं का सम्मिश्रण (कॉकटेल) बनाया था। एक गिलास भर कर रूडोल्फ़ की ओर बढ़ाते हुए कहा—"रूडोल्फ़, देखो आज चाँद कितना सुन्दर है, स्वच्छ नील गगन, प्रशान्त नील रत्नाकर, उन्मुक्त पवन, अगणित तारों का नीरव गान, उनका मौन व्यंग्य हास्य—सब कितना सुन्दर है। यह क्षण हमारे और तुम्हारे जीवन का कितना बहुमूल्य है। तुम मुझे कितने प्यारे लगते हो, और मैं......? अच्छा बताओ रूडोल्फ़, तुम मुझे कितना प्यार करते हो?"

रूडोल्फ़ ने मदिरा पीते हुए कहा—"अगैथा, तुम कवि क्यों न हुई। तुम्हारी भावुकता तुमको संसार का उच्च कवि बनाये होती, किन्तु तुम भी मेरी ही भाँति इन नीरस वैज्ञानिक आविष्कारों से प्रेम करने लगी हो।"

अगैथा ने अर्द्धउन्मीलित नेत्रों से उसकी ओर देखते हुए कहा—"मेरा स्वप्न मत भङ्ग करो। यह आध घण्टे का जीवन, ज़रा सुख से बिताने दो, रूडोल्फ़! मैंने तुमको बहुत प्यार किया है।"

रूडोल्फ़ ने उसका हाथ सप्रेम पकड़ते हुए कहा—"और मैं भी तो तुमको अपने जीवन से अधिक प्यार करता हूँ!"

अगैथा सुनते ही तड़प उठी। उसके नेत्र से शोले निकलने लगे। उसने चीखकर कहा—"झूठ बिलकुल झूठ !"

रूडोल्फ़ हत्‌चेत-सा उसके मुख की ओर देखने लगा।

अगैथा ने शान्त होते हुए कहा—"नहीं, झूठ बोलो रूडोल्फ़, खूब झूठ बोलो ! इस झूठे प्रपञ्च को मुझे सत्य ही कर के बताओ। मैं सदा यही समझती रहूँ, रूडोल्फ़ मेरा है और वह मुझको प्राणों से भी अधिक प्यार करता है।"

रूडोल्फ़ ने उसके समीप खिसकते हुए कहा—"अगैथा, आज तुम्हें हो क्या गया है ?"

अगैथा ने आँखें बन्द करते हुए कहा—"रूडोल्फ़, आज मुझे होश आया है। अब मैंने तुमको और अपने को पहचाना है। तुम कौन हो, इङ्गलैण्ड के शत्रु के गुप्तचर ! अरे तुम चौंको नहीं। मेरे सिवा यह भेद दूसरा कोई नहीं जानता। और मैं......मैं कौन हूँ, अपने प्यारे इङ्गलैण्ड की गुप्तचर !"

रूडोल्फ़ ने भीत होकर अगैथा की गर्दन पकड़ ली। आकाश से पीला चाँद अगैथा की आँख से आँख मिला कर हँसने लगा !

अगैथा ने अपने दोनो हाथों से रूडोल्फ़ को आलिङ्गनपाश में बद्ध करते हुए कहा—"मेरी हत्या करोगे ? लेकिन, रूडोल्फ़, मैं तुमको यह अवसर नहीं दूँगी। मैंने पहले ही विष पान कर लिया है और तुमको भी अपना साथी बना लिया है। यह मदिरा जो क्षण भर पहले तुमने पी, विषाक्त थी। स्कॉटलैण्ड यार्ड के आदेश से मैंने उसमें तीव्र विष मिला दिया है। यद्यपि अधिकारियों का आदेश तो केवल तुमको विष देने

का था, किन्तु मैं तो तुमको प्यार करती हूँ, अकेले तुमको नहीं मरने दूँगी। देखो, उत्तेजित न हो। सुनो मरने के पहले हम लोग अपनी सफ़ाई दे दें, तो ठीक है।"

रूडोल्फ़ ने दाँत कटकटाते हुए अगैथा का गला दबाने का प्रयत्न किया।—किन्तु उसकी शक्ति तिरोहित हो रही थी, हाथ-पैर शून्य हो रहे थे और नेत्रों के सामने अँधेरा छा रहा था; पर मस्तिष्क और विचार-शक्ति का ह्रास नहीं हुआ था।

अगैथा रूडोल्फ़ के वक्षस्थल पर पड़ी हुई कह रही थी—"तुम्हारा भण्डाफोड़ हो गया! रूडोल्फ़, तुमने मुझे पागल बना कर मेरे सुन्दर देश को बरबाद करने का पूरा उपाय कर लिया था! तुमने शत्रुओं से विषैली गैस के असंख्य बम मँगा कर अपने बाग़ में छिपाए, तुम अपने अन्वेषण की गुप्त कोठरी से शत्रुओं को हमारे देश के भेद देते थे और तुम्हारे पास शत्रुओं के आदेश और उनके आदमी वायुयान से अर्द्ध-रात्रि के बाद आते थे। मैंने सब देखा, सबके प्रमाण इकट्ठे किए। तुम मेरे पति थे, मेरे प्राणों से भी अधिक प्यारे थे, किन्तु देश! देश तो हमारे प्राणों से अधिक प्यारा है! हमारी आज़ादी, वह हमारे देश का जीवन है!! मैं रूडोल्फ़ की पत्नी थी और हूँ, लेकिन एक गुप्तचर की नहीं। गुप्तचर के नाते मैंने तुम्हें विष दिया है और पति तथा प्रेम के नाते मैंने भी वह हलाहल पान किया है! समझे रूडोल्फ़! मैं तुमको अब भी प्यार करती हूँ। एक साथ मरने में भी तो बड़ा आनन्द है, बड़ी ही शान्ति है। रूडोल्फ़, प्यारे रूडोल्फ़! आओ, हम-तुम दोनों आलिङ्गन-पाश में बँध जावें और वीरता के साथ इन सेवकी लहरों में

अपनी इहलीला समाप्त करें !"

रूडोल्फ़ ने अपने पूर्ण बल से अगैथा को दूर फेंक दिया। उसका सिर नाव से टकराया। एक झन्नाटा उठा और फिर शान्त हो गया।

अगैथा कहती रही—"यही तुम्हारे प्रेम की असलियत है। तुमने मुझे कभी प्यार नहीं किया। अन्तिम समय में मेरा अन्तःकरण साफ़ है, मैंने अपने पति की नहीं, शत्रु के गुप्तचर की हत्या की है! जाओ, रूडोल्फ़, मैं तुम्हें विदा देती हूँ, और मैं तुमसे विदा लेती हूँ। यह भी सुन लो, तुम्हारे वे विषैले बम भी मैं अपने साथ लिए लेती हूँ। मैं विषाक्त बमों को अपने साथ लेने का लोभ छोड़ न सकी। देखो, नाव में पानी आ गया। मेरे पैर डूब गए हैं। पानी बड़े वेग से ऊपर आ रहा है। रूडोल्फ़, मैंने नाव सन्तरण करने के पहले एक बड़ा-सा छेद कर दिया था। उस गुप्त कोठरी में, जो इसके नीचे बनी है, मैंने तुम्हारे बम छिपाए हैं। रूडोल्फ़ हम अब डूब रहे हैं। सुनते हो! हम समुद्र-तल में जा रहे हैं। मेरा इङ्गलैण्ड, प्यारा इङ्गलैण्ड एक भयानक ख़तरे से बच गया! विदा! रूडोल्फ़ विदा!!"

समुद्र की लहरों ने उस नाव को, अगैथा और रूडोल्फ़ के साथ, अपने अङ्क परिधान में छिपाते हुए कहा—जाओ, विदा! अन्तिम विदा!!

एक हलका-सा छपाका हुआ और इसके बाद लहरें खेलने लगीं, आकाश नीरव होकर कुछ सोचने लगा, और तारे फिर अपनी कहानी कहने लगे। चन्द्रमा एक पीले बादल की आड़ में छिप कर मानवता के पागलपन पर मुस्कुराने लगा। केवल वायु संसार को वह कथा सुनाने के लिए प्रक्षिप्त की भाँति दौड़ने लगा!

* * *

पत्थर की मूर्ति

[श्री० दौलतराम गुप्त]

हम गाँव के लोग भोले-भाले होते हैं। क़ानून और अदालत के ज़ाब्ते व क़ायदे से हमें क्या वाक़िफ़यत? हम पहाड़ी देहातियों के लिए इन बातों का समझना मुश्किल है। बड़े-बूढ़े भी यह नसीहत करते थे, कि झगड़ों व अदालतों से दूर रहना ठीक होता है। इसे नसीहत का असर समझिए या यह ख़्याल कीजिए कि कभी मौक़ा ही न मिला कि मैं कभी अदालत का मुँह देखूँ! सुने-सुनाए हालात की वजह से मैं भी यही कहता था कि ईश्वर कभी किसी भले आदमी को कचहरी की शक्ल तक न दिखाए। लेकिन एक मुक़दमे की गवाही के सिलसिले में एक दफ़े मुझे कचहरी जाना ही पड़ा, हालाँकि गवाही देने की नौबत नहीं आई। वकील साहब मुझसे झूठ कहलाना चाहते थे! मैंने साफ़-साफ़ कह दिया कि भाई वकील साहब, मुझसे यह न हो सकेगा, कि धर्म छोड़ूँ। मैं वही कह सकता हूँ, जो मुझे मालूम है।

वकील साहब कहने लगे—"तब तो मुक़दमा ही ख़राब हो जायगा। इससे बेहतर तो यही है कि तुमसे गवाही ही न दिलाई जाय।"

मैंने कहा—"यह तो आप जानिए। मगर मुझे गवाही देनी पड़ी, तो मैं सच ही कहूँगा।" वकील साहब तैयार न हुए, और मुझे गवाही देने व अदालत में खड़े होने से नजात मिल गई। जिस मुक़दमे के

सिलसिले में मैं गया था, वह हाकिम शहर की कचहरी में था। मैं जब कचहरी पहुँचा, तो पुलिस के सिपाही एक तेइस-चौबीस साल के नौजवान को लिए हुए एक तरफ़ बैठे थे। इस पर मन्दिर की मूर्त्ति के गहने चुराने का इल्ज़ाम था। शहर के बहुत से आदमी इस मुक़दमे की कारंवाई देखने आए थे। नौजवान था तो दुबला-पतला, चेहरा ख़ुश्क और मुर्झाया हुआ, आँखों के गिर्द सियाह हल्के पड़े हुए; मगर देखने में शरीफ़ घराने का मालूम होता था। मुझे ताज्जुब हुआ कि शहर के पढ़े-लिखे बाबू भी चोरी करते हैं। शहर वालों के इख़लाक़ कितने ख़राब हो गए हैं।

मैजिस्ट्रेट अदालत की कुर्सी पर बैठे। पुलिस ने नौजवान को अदालत के कटघरे में ला कर खड़ा किया, सरकारी वकील ने उससे सवाल किया—'तुम पर चोरी का इल्ज़ाम है। क्या तुमने चोरी की?'

नौजवान ने पुर-इस्तक़लाल लहजे में जवाब दिया—'हाँ!'

वकील ने क़द्रे-ताअम्मुल के बाद पूछा—'देखने में तो तुम शरीफ़ ख़ानदान के मालूम होते हो, फिर तुमने ऐसी हरकत क्यों की?'

नौजवान ने साबिक़ लहजे में कहा—'मैं ग़रीब हूँ, और जो ग़रीब है उसे शरीफ़ कहलाने का क्या हक़ हो सकता है? आप मुझसे पूछते हैं कि मैंने ऐसी हरकत क्यों की? मैंने पेट के लिए यह हरकत की। मेरी मुहताजी ने मुझे ऐसा करने पर मजबूर किया। लेकिन कितने तो ऐसे हैं जिनकी दौलत का शुमार नहीं। जिनका पेट इस क़दर भरा रहता है कि उनको भूख ही नहीं लगती। शिकम-सीरी की वजह से जिनके हलक़ से लज़ीज़ और नफ़ीस ग़िज़ाएँ भी मुशकिल से उतरती

हैं। महज़ अपनी बढ़ी हुई दौलत को और बढ़ाने के लिए अपनी हद से ज़्यादा ऐशो-इशरत में मज़ीद इज़ाफ़ा करने के लिए ग़रीबों का लहू चूसते रहते हैं। वह तरह-तरह के मकरो-फ़रेब से ग़रीबों के झोंपड़े और घर-गृहस्थी के सामान तक को नीलाम और कुर्क़ करा लेने से परहेज़ नहीं करते। क्या आपकी पुलिस ने कभी उन पर भी मुक़द्दमा चलाया? क्या कभी आपने उनसे बाज़पुर्स की? क्या क़ानून ने कभी इन्हें भी ताज़ीर दी? नहीं, आपकी पुलिस तो इनकी मुहाफ़िज़ है। आप इनके हामी हैं। आपका क़ानून तो इनका मददगार है। इसी तरह जो लोग बड़े-बड़े ओहदों पर मामूर हैं, कई-कई सौ व कई-कई हज़ार तनख़्वाह पाते हैं, घर में भी मालो-दौलत और ऐशो-इशरत की कमी नहीं है, वह भी रिश्वतें ले कर हक़ का नाहक़ और नाहक़ का हक़ करते हैं। क्या आपने कभी मेरी जगह इन्हें भी खड़ा करके इनसे बाज़ेरिश की? नहीं। कभी नहीं! यह सब कुछ ग़रीबों के लिए है, मुसीबत के मारे हुओं के लिए है, जिनको न पेट-भर खाना नसीब है न तन पर कपड़ा! जिनके माँगने पर कोई भीख भी नहीं देता, जिनको सख़्त मज़दूरी करके भी दो पैसे देने का कोई रवादार नहीं।"

मैंने सुना था कि अदालत का रौब बड़े-बड़े दिलो-दिमाग़ वालों पर भी तारी हो जाता है। उनकी ज़बान से भी बात नहीं निकलती। लेकिन इस नौजवान के मुँह से तो मालूम होता था, आग बरस रही है। वह इतने जोश से बोल रहा था कि उसका दम फूल गया, उसने थोड़ी देर तक रुक फिर इसी तरह कहना शुरू किया—

"मैं एफ़० ए० में पढ़ रहा था। ग़ुरबत व नादारी की ही वजह से

मेरी तालीम अधूरी रह गई। आपको ताज्जुब होगा कि मैं बनता हूँ ग़रीब और मुहताज फिर मुझे एफ़० ए० तक पढ़ने का मौक़ा कैसे मिला? इस पर तो मुझे भी हैरानी है, आख़िर मेरे ग़रीब वालदैन ने किस तरह मुझे इतनी तालीम दिलाई! लेकिन अफ़सोस, कि मेरी तालीम के लिए उन्होंने जो क़ुर्बानियाँ कीं, वह सब रायगाँ गईं। मुझे इसकी ज़र्रा भर भी परवा न होती, अगर मुझे पेट पालने और तन ढकने का कोई वसीला मिल जाता; मगर ऐसा नहीं हुआ। मैं फ़ाक़ा-कशी की मुसीबत में मुब्तला हो गया। मैं पढ़ा-लिखा नौजवान था। गदागरी पर तबियत रज़ामन्द न हुई। नौकरी तलाश करते-करते आजिज़ आ गया। वह मिली नहीं, जब कारबरदारी की कोई सूरत नज़र न आई, तो मैंने यह तरीक़ा अख़्तियार किया कि जो लोग देखने में भले आदमी मालूम होते हैं, उनसे तनहाई में अपनी राम-कहानी सुना कर मदद की दरख़्वास्त करता। इनमें से बाज़ नौकरी-चाकरी तलाश करके इज़्ज़त के साथ ज़िन्दगी गुज़ारने की हिदायत करके अपनी इस्लाह-पसन्दगी की दाद देते और आगे बढ़ जाते। बाज़ तो सवाल-दराज़ की दाद देते और सवाल-दराज़ करने पर मुझे सख़्त लानतान करते और बाज़ दो-चार पैसे दे देते। लेकिन इस तरह कैसे गुज़ारा हो सकता था? किसी रोज़ इतने पैसे भी न मिलते कि दिन भर भूखे रह कर शाम को पेट-भर खा सकता। उस रोज़ भूख से करवटें बदलते-बदलते ही सुबह हो जाती। एक रोज़ ऐसा ही इत्तफ़ाक़ हुआ। भूख की तकलीफ़ से तमाम रात जागता रहा। सुबह होते-होते तकलीफ़ और बढ़ गई। आदमी हर तरह से मायूस हो जाता है, तो उसे भगवान

की याद आती है। मैंने भी सोचा कि सुबह का वक़्त है, चलो मन्दिर में चल कर आँसुओं से भगवान के चरणों को धोऊँ। लोग स्वर्ग का वरदान माँगते हैं; मैं कहूँगा—ईश्वर अब मुझसे पेट की तकलीफ़ बर्दाश्त नहीं होती, मुझे इस मुसीबत से नजात दो; मेरा यही स्वर्ग है।

"मन्दिर के पास पूजा-पाठ और दर्शन के लिए आने-जाने वालों की खचाखच भीड़ थी। उसमें अमीर-ग़रीब हर तरह के लोग थे। इसी भीड़ में मैंने देखा, एक आदमी एक शख़्स की जेब काट कर उसका मनीबेग ले गया। मैंने सोचा इसे पकड़ कर उस आदमी के हवाले कर दूँ। मगर फिर ख़्याल हुआ, मेरे साथ कौन हमदर्दी करता है, जो मैं जाऊँ किसी के साथ हमदर्दी करने। क्या मालूम कि जिसने जेब काटी है वह भी मेरी तरह मुसीबत का मारा ग़रीब हो!

"रात को मूर्ति का शृङ्गार हुआ था। अभी तक ज़ेवर उतारे नहीं गए थे। ज़ेवरों की चमक से मूर्ति जगमगा रही थी। आम लोगों को क़रीब जाने की इजाज़त नहीं थी। उमरा और प्रतिष्ठित लोग ही क़रीब जा सकते थे। मैं ग़रीब था। फिर मुझे भगवान के चरण छूना कैसे नसीब होता? मैं मायूस होकर चला आया। वापसी पर मैं सोचने लगा, मैं आया था भगवान के चरण धो कर ग़रीबी दूर करने की भीख माँगने; लेकिन यहाँ तो भगवान भी दौलतमन्दों और सरमायादारों की तरह सोने-चाँदी और जवाहरात में लदे हुए हैं। ग़रीबों की तो उनके चरणों तक पहुँच ही नहीं। ग़रीब की आहो-ज़ारी कैसे सुनेंगे?

"मैं यही सोचता चला आ रहा था कि भीड़ में एक औरत नज़र आई, जिसके गले में सोने की ज़ञ्जीर पड़ी हुई थी। मैंने ख़्याल किया

किसी तरह यह ज़ंजीर हाथ लग जाय, तो कुछ दिनों के लिए शिकम-पुरी की फ़िक्र तो न रहेगी, मेरी जेब में तेज़ चाकू पड़ा हुआ था, उसे निकाला और बड़ी सफ़ाई से ज़ंजीर काट ली।

"लेकिन जैसे ही ज़ंजीर मेरे हाथ में आई, मेरी हालत अजीब तरह की हो गई। मालूम होता था मेरे तमाम जिस्म में बिजली पैदा हो गई है, जो मुझे जलाए डालती है। ज़मीर की मलामतों ने मेरे जज़बात और अहसासात में एक हलचल मचा दी। रास्ते में जैसे काँटे बिछ गये, और क़दम उठाना दुश्वार हो। मैं एक मकान की दीवार के सहारे बैठ गया। मेरी समाअत ने जवाब दे दिया। तमाम कायनात गर्दिश करती हुई नज़र आने लगीं। मैंने चाहा पुकार-पुकार कर दुनिया से कह दूँ कि मैं चोर हूँ, लेकिन ज़बान ने यावरी न की, हलक़ बन्द-सा हो गया। बहुत देर के बाद मेरी हालत कुछ सुधरी। मैंने देखा सामने से एक पुलीस कॉन्सटेबिल आ रहा है। ख़्याल हुआ मुझे ही गिरफ़्तार करने आ रहा होगा, इसलिए उठ कर भागना चाहिए। लेकिन मुझ में भागने की ताक़त न थी। कॉन्सटेबिल भी आगे बढ़ गया।

"मेरे ज़मीर ने फिर मलामत करनी शुरू की। मेरे जज़बात में फिर तूफ़ान उठा। मैं उठ कर मन्दिर की तरफ़ चला और देखा औरत दर्शन करके वापस आ रही थी। मैं अफ़सूज़दा की तरह उसके पीछे हो लिया। वह अपने मकान पर पहुँची और अन्दर चली गई। मैं बाहर दर्वाज़े के पास दीवार से लग कर खड़ा हो गया। कुछ देर बाद मैंने सुना एक औरत सिसक रही है और एक मर्द कह रहा है—"तो तुम्हें ज़ंजीर पहन कर जाने की क्या ज़रूरत थी?" औरत कुछ जवाब दिए

बग़ैर इसी तरह सिसकती रही । मर्द फिर बड़बड़ाने लगा—"तुम्हारी ज़िद पर मैंने ऑफ़िस के रुपये से ज़ञ्जीर बनवा दी थी । अभी रुपए जमा भी नहीं हुए । अगर किसी को पता चल जाय, तो नौकरी भी जहन्नुम में मिल जाय ।"

"अब मुझसे नहीं रहा गया । मैंने सोचा मेरी ही तरह यह ख़ानदान भी ग़रीब है । मैंने मर्द को बाहर आने के लिए आवाज़ दी । दिल में सोचता था कि कह दूँगा, यह लो अपनी ज़ञ्जीर रास्ते में पड़ी हुई थी । मगर वह जब आया, तो सोची हुई बात भूल गया । मैंने उसे ज़ञ्जीर देते हुए सब कुछ साफ़-साफ़ कह दिया । उसने एक बार मेरी तरफ़ देखा फिर ज़ञ्जीर की तरफ़ । उसकी आँखें ख़ुशी से चमक उठीं । चेहरा शगुफ़्ता हो गया । वह मुझसे कुछ कहे बग़ैर अन्दर चला गया ।

"मेरा ख़्याल था कि वह मेरी राम-कहानी सुन कर मुझे कुछ खिलाएगा । मेरी कुछ मदद करेगा । मगर देर तक इन्तज़ार करने के बाद भी वह बाहर नहीं निकला । मैंने भी आवाज़ नहीं दी कि कहीं ऐसा न हो कि इस बार बाहर निकले तो मुझे पुलिस के हवाले कर दे ।

"ज़ञ्जीर के झगड़े में कुछ देर के लिए भूख की तकलीफ़ कम-सी हो गई थी, जो अब फिर शिद्दत अख़्तियार कर गई । मेरा ख़्याल एक बार फिर भगवान की तरफ़ गया । जिसके साथ ही सोने के जगमगाते हुए ज़ेवरात से लदी हुई उनकी एक पत्थर की ख़ूबसूरत-सी मूर्ति भी आँखों में फिर गई । मैंने सोचा सोने-चाँदी में ग़र्क़ और नाच-रङ्ग, ख़ुशामद और चापलूसी में घिरे रहने वाले भगवान् मुसीबत के मारे ग़रीबों का क्या ख़्याल कर सकते हैं ?

"मुझे बे-साख़्ता हँसी आ गई, वह सच्ची और ख़ुशी की हँसी नहीं थी; बल्कि अपना मज़ाक़ उड़ाने वाली हँसी थी। ग़मो-ग़ुस्सा और बद-एतक़ादी की हँसी थी। मैं सोच रहा था कि एक तरफ़ पत्थर का टुकड़ा है, जिसे इन्सान ने सोने से ढक दिया है; दूसरी तरफ़ चिथड़ों में लिपटा हुआ एक इन्सान है, जिसे खाने तक को मयस्सर नहीं है। वह भूख से बेचैन है; लेकिन उसे कोई मुट्ठी-भर दाने को नहीं पूछता। वाह रे भगवान्! और वाह रे भगवान् के भगत!! वाह रे इन्सान और वाह री इन्सानियत!!!

"अब मुझसे नहीं रहा गया, मैंने मन्दिर के सामने जो चिल्ला कर कहा—"मैं भूखा हूँ।" भगवान की भक्ति के दलाल रात-भर जागने की वजह से पड़े सो रहे थे। मेरी चीखें उन्हें नागवार गुज़रीं। बहुत बेरहम हुए और मुझे वहाँ से चले जाने को कहा। मेरा तो भूख से बुरा हाल हो रहा था, मैं लड़खड़ा कर गिर पड़ा; लेकिन इस पर भी बजाय इसके, कि वे मेरे साथ हमदर्दी से पेश आते, उन्होंने मुझे घसीट कर मन्दिर के हल्के से बाहर कर दिया। इसी तरह भूखों मरते दिन ख़तम हो गया और दूसरी रात आ गई। इसी रात का मौक़ा पा कर मैंने दौलतमन्दों और सरमायादारों के भगवान के ज़ेवर छीन लिए। अगर इसी का नाम चोरी है, तो मुझे इक़रार है कि मैंने बेशक चोरी की, वाक़ई चोर हूँ। यह कहते-कहते नौजवान की आवाज़ रुक गई।"

मैजिस्ट्रेट ने हुक्म सुनाते हुए कहा—"मुल्ज़िम के ख़्यालात धर्म और समाज दोनों के लिए नुक़सान पहुँचाने वाले हैं। लेकिन चूँकि

मुल्ज़िम नौ-उम्र है और इसका जुर्म भी पहिला है, इसलिए सिर्फ़ छः माह-क़ैद-बा-मशक्क़त की सज़ा दी जाती है।"

मैं एक सादा-सा देहाती हूँ। मैंने किसी स्कूल या कॉलिज में तालीम ही नहीं पाई। मुझे मुक़द्दमों और अदालतों का भी कुछ तजुर्बा नहीं है, जो मैजिस्ट्रेट के फ़ैसले पर कोई राय क़ायम कर सकूँ। लेकिन जब इस नौजवान की हालत पर और उसने अदालत में जो बयान दिया है, उस पर, और इसकी छः महीने की सज़ा पर ग़ौर करता हूँ तो दिल न जाने कैसा हो जाता है। हे भगवान! ग़रीबों के लिए दुनिया इसी मुसीबत का घर बनी रहेगी?



मोक्ष की भिक्षा

[श्री० जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' एम० ए०]

"अब जाती हूँ सुधा !"

"क्यों ? आज इतनी जल्दी क्यों मचा रही हो कुसुम ?"

"लल्लन भैया आने वाले हैं, शायद आ गए हों।"

"आने वाले हैं ?" और उनके दोस्त भी आ रहे हैं ?"

"कौन ? श्याम बाबू ?"—कुसुम ने तनिक मुसकुरा कर पूछा।

"हाँ..."—कहते हुए सुधा का मुख-मण्डल अनुरञ्जित हो उठा।

"अच्छा, सुधा"—उसका हाथ पकड़ कर कुसुम ने प्यार से पूछा—"सच कहना, भैया के दोस्त तुम्हें कैसे लगते हैं ?"

"बहुत ही अच्छे"—कह कर सुधा पैर के नाखून से धरती खुरचने लगी।

"अगर उन्हीं के साथ तुम्हारा ब्याह हो जाय ?"

"तो अन्धेर हो जाय !"

"क्यों ?"

"क्योंकि यह एक अनहोनी-सी बात है।"

"ऐसा क्यों कह रही हो ?"

"अपना करम (भाग्य) टटोल कर, अपने माँ-बाप की इज़्ज़त देख कर।"

"कैसी इज़्ज़त ?"—कुसुम ने आश्चर्य और आशङ्का-भरी वाणी में पूछा।

"तुम क्या जानती नहीं हो कुसुम !"—सुधा ने सजल स्वर में कहना शुरू किया—"मेरे माँ-बाप और तुम्हारे माँ-बाप में कितना बड़ा भेद है ? तुम्हारे माँ-बाप तुम्हारा ब्याह करते समय केवल तुम्हारे वर का ख़्याल रक्खेंगे और मेरे माँ-बाप केवल रुपयों का। तुम ब्याही जाओगी, मैं बेची जाऊँगी ! फिर भला यह कैसे हो सकता है कि मैं उन-सा गुणवान् पति पा जाऊँ ?"

अपनी प्यारी सखी की यह मर्म-भरी बात सुन कर कुसुम का हृदय भर आया। वह थोड़ी देर तक बिलकुल चुप रही। फिर उसने स्नेह-कम्पित स्वर में पूछा—अच्छा मान लो, यह अनहोनी हो ही जाय ?

"तो फिर मैं और किसी वस्तु की कामना ही न करूँ बहिन !"—सुधा ने आँखों में आँसू भर कर गद्‌गद स्वर में उत्तर दिया—"उनके पैर पखार कर पीने में जो सुख मिले, उसके आगे दुनिया की और किसी वस्तु को पूछूँ ही नहीं—वही मेरे सब कुछ हो जायँ ?"

"तुम उन्हें इतना प्यार करती हो ?"—कुसुम ने कुछ व्यथित हो कर पूछा।

"उन्हें प्यार करने की लालसा किसके मन में न होगी बहिन ?"—सुधा ने उसास भर कर उत्तर दिया—"पर यह कैसे कहूँ कि मैं उन्हें इतना प्यार करती हूँ ! ऐसा कहने का मुझे अधिकार ही क्या है ?"

"अधिकार से प्यार नहीं किया जाता बहिन !"—कुसुम ने गम्भीरता-पूर्वक कहा—"प्यार से अधिकार किया जाता है ।"

"हाँ, बहिन ! यह तो ठीक है।"—सुधा ने कहा—"पर प्यार के लिए भी एक सहारा चाहिए।"

"वह तुम्हें मिल जायगा"—कह कर कुसुम ने उसे खींच कर अपनी छाती से लगा लिया।

सुधा का अन्तस्तल अधीर हो उठा ! वह सिसकने लगी ! !

२

एक लड़की छिप कर दोनों की बातें सुन रही थी। फिर क्या था ? मुहल्ले भर की स्त्रियों में बात फैल गई। वे लोग कलियुग को कोसने लगीं। बेचारी सुधा के प्राण सङ्कट में पड़ गए। कुसुम को बड़ा क्लेश हुआ। उसने अपनी माँ से दिल खोल कर इस विषय पर बातें कीं—उसे बताया गया कि अपने भविष्य के लिए सुधा के हृदय में कितनी भयङ्कर चिन्ता है !

उसकी माँ ने पूरी सहृदयता से काम लिया। उसने बालिका सुधा का अन्तस्तल पहचाना और उसके प्रति सच्ची सहानुभूति दिखाई। "अब धरती उलट जायगी"; "आजकल की लड़कियों में लाज तो रह ही नहीं गई"; "अब ये सब छोकरियाँ मेम बन जायँगी"; "ऐसी ही बेहया बेटी से कुल में कलङ्क लगता है......" आदि बातें करने वाली स्त्रियों को उसने खूब फटकारा। कहा—"लड़की क्या झूठ कहती है ? पीड़ा है, इसीलिए तो कराहती है। ठीक ही तो कहती है कि उसके माँ-बाप वर-वर का कोई विचार ही

नहीं करते। रुपयों से उन्हें काम रहता है—चाहे लड़की जन्म-भर को नरक में पड़ी-पड़ी रोया करे। अपनी बहिनों की हालत देख कर ही जो बेचारी अपनी हालत का भी अनुमान कर रही है। किसके दिल में यह अरमान नहीं रहता कि उसे अच्छा घर-वर न मिले, उसका जीवन सुख से कटे? अपनी सखी के आगे कौन अपना कलेजा फाड़ कर नहीं रखना चाहती? और अगर लड़कियाँ अपने ही मन से—अपनी रुचि के अनुसार वर चुन लिया करें, तो इसमें बुराई ही क्या है? क्यों इस तरह की बातें कर-कर के बेचारी लड़की को पीड़ा पहुँचा रही हो?"

श्याम से भी यह बात छिपी न रही। सुधा को वह जानता था। ललन के साथ छत पर बैठ कर जिस समय वह वीणा बजाते हुए आत्म-विस्मृत हो जाता, उस समय कुसुम के पीछे छिप कर बैठी हुई सुधा मुग्ध भाव से निहारा करती; जब वह अपना स्वर कँपा कर गाने लगता, सुधा अपनी सारी सत्ता भूल जाती; जब वह भोजन करने बैठता, तब सुधा किसी न किसी बहाने अवश्य आ पहुँचती और आँगन के एक कोने में बैठ कर, कभी रसोई-घर के बगल वाले कमरे में घुस कर, न जाने किस बात पर कुसुम के साथ दिल खोल कर हँसा करती; जब वह अपने मित्रों के साथ शाम को घूमने निकलता, तब सुधा अपने दरवाज़े पर आँखें बिछाए चुपचाप दीवार की आड़ में खड़ी-खड़ी उस ओर देखा करती। श्याम को रह-रह कर यह बातें याद आने लगीं। उसका हृदय आन्दोलित हो उठा!!

जेठ महीने की दोपहरी—चारों ओर आग बरस रही थी। श्याम सोकर उठा। खिड़की खोलते ही उसने देखा—सुधा सड़क पर खड़ी—

खड़ी एकटक इसी ओर देख रही है! श्याम की आँखें पड़ते ही वह दौड़ कर भाग गई। उसके हृदय में एक गहरी ठेस लगी। उसने एक गर्म आह खींच कर कहा—आह! इस लड़की के हृदय में बड़ी व्यथा है!

लल्लन के उठते ही उसने वीणा बजाना शुरू किया। कुसुम भी आ बैठी, पर सुधा न थी। श्याम का उल्लास जाता रहा। उसने वीणा को रखते हुए बेचैनी के साथ कहा—उफ़! बड़ी गर्मी है—किसी काम में मन नहीं लगता।

कुसुम मुसकुराती हुई कमरे से बाहर निकल गई।

लल्लन ने पूछा—इस बार तुम इतने बेचैन क्यों हो उठे हो। श्याम?

बेचैनी का भाव छिपाते हुए श्याम ने कहा—नहीं तो; कोई ख़ास कारण तो नहीं है—केवल गर्मी के मारे, उफ़ बड़ी गर्मी है!!

लल्लन ने कहा—तुम्हारे इस 'उफ़' में तो हृदय की ज्वाला है दोस्त! मुझसे जो बात छिपा रहे हो, उसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। सच कहना, सुधा की वह बातें सुन कर तुम घायल तो नहीं हो गए हो?

श्याम ने भर्राए हुए स्वर में जवाब दिया—हाँ भाई! बात तो ठीक ही है।

"तो क्या विचार है?"—लल्लन ने ज़रा सँभल कर पूछा।

"विचार क्या होगा?"—श्याम ने बड़ी बेचैनी के साथ उत्तर दिया—"यही सोच रहा हूँ कि अभागिन लड़की ने अपने हृदय में अरमान की एक ऐसी भयङ्कर आग लगा रक्खी है, जिसकी ज्वाला उसे पल भर भी चैन से न रहने देगी।"

"क्या मैं ऐसा कर सकता हूँ?"

"बड़े साहस का काम है।"

"प्राणों की बाज़ी लगानी पड़ेगी?"

"नहीं।"

"तब?"

"नैतिक साहस चाहिए। उसके बाप छोटी जातियों के पुरोहित हैं। तुम एक ऊँचे कुल के हो। तुम्हारे माँ-बाप तुम्हें ऐसा न करने देंगे।"

"इसके साथ ही एक बात और भी है।"

"वह क्या?"

"मेरे हृदय पर अधिकार किसी और का है।"

लल्लन का हृदय पुलकित हो उठा। उसने कहा—तब फिर इस तरह व्याकुल क्यों हो रहे हो? यह अस्थिरता—यह व्यथा कैसी है?

"इस अस्थिरता में, इस व्यथा में"—श्याम ने उत्तर दिया—"प्यार की अपेक्षा सहानुभूति की मात्रा अधिक है। मुझे उस बालिका की व्यथा बेचैन बना रही है। क्या मैं किसी तरह उसकी सहायता नहीं कर सकता?"

लल्लन ने खड़े होकर मुस्कुराते हुए कहा—अच्छा, तब तक आप इस समस्या पर विचार करें, मैं ज़रा डाकखाने हो आऊँ।

लल्लन के चले जाने पर कुसुम ने कमरे में प्रवेश किया और पूछा—भैया कहाँ गए? अब जलपान की तैयारी करूँ न?

"भैया को आ जाने दो"—श्याम ने कहा—"तब जलपान की तैयारी करना। तब तक बैठो, तुम्हें वीणा सुनाऊँ।"

"इस बार तो वीणा बजाने में आपका मन नहीं लगता"—

कुसुम ने धीरे से मुसकुरा कर कहा—"सुधा नहीं आती है इसीलिए!"

यह बात श्याम के कलेजे में तीर की तरह घुस गई। घायल हो कर उसने कहा—नहीं, यह बात नहीं है कुसुम! लेकिन बताओ तो सही, वह अब यहाँ आती क्यों नहीं? तुमसे कुछ खटपट हो गई है क्या?

"हाँ"—कुसुम ने हँस कर जवाब दिया—"क्यों? इसके लिए मुझे सज़ा मिलेगी क्या?

"नहीं, सच बताओ। बात क्या है?"—श्याम ने बड़ी विनती के साथ पूछा।

कुसुम ने कहा—आपके आगे आने में लजाती है।

"क्यों?"—श्याम ने पूछा—"पहले तो नहीं लजाती थी।"

"इस बार सब लोग जान गए हैं कि वह आपसे ब्याह करना चाहती है।"—कुसुम ने निस्सङ्कोच भाव से उत्तर दिया।

"मुझसे?"

"हाँ।"

"पगली हो गई है क्या?"

"हाँ, आपही के पीछे।"

"और उसके साथ तुम भी; क्यों।"

"नहीं; मैं उसके इस पागलपन पर मुग्ध हूँ। पहले मैं उसे जितना प्यार करती थी, अब उससे भी अधिक उसके इस पागलपन का प्यार करने लगी हूँ।"

"इसी से तो कहता हूँ कि तुम भी पगली हो गई हो।"

"शायद आपका कहना ठीक हो, पर उसके पागलपन को मैं पा नहीं सकती।"

"उसका पागलपन व्यर्थ है।"

"मैं चाहती हूँ कि उसका पागलपन फूले-फले।"

"अनहोनी बात नहीं हुआ करती।"

"मेरी लालसा है कि एक बार हो जाय—और वह इसी मामले में।"

"उसके साथ मेरा ब्याह नहीं हो सकता।"

"क्यों ?"

"इसलिए कि मेरे हृदय पर किसी और का अधिकार है।"

"मगर उसके हृदय में आपके प्रति अगाध प्यार है।"

"मैं लाचार हूँ।"

"आपको अपनी लाचारी दूर करने का प्रयास करना चाहिए। आप पुरुष हैं। उस अनाथिनी का उद्धार कीजिए !"—इतना कहते-कहते कुसुम की आँखें डबडबा आईं, उसकी वाणी काँपने लगी।

श्याम ने उसका हाथ पकड़ कर भर्राए हुए स्वर में कहा—कुसुम !

"क्या ?"

"तुम जानती नहीं हो कि मैं तुम्हें......?"

"जानती हूँ।"—कुसुम ने उत्तर दिया—"इसी से तो इस तरह खुल कर बातें कर रही हूँ। आप मुझे प्यार करते हैं, मैं भी आपको प्यार करती हूँ। पर अब से हम दोनों के बीच भाई-बहिन का ही

जाता रहेगा। मैं चाहती हूँ, कि सुधा मेरी भावज बन जाए। यदि आपके हृदय में मेरे प्रति सच्चा प्यार है, तो आप मेरी यह साध पूरी कर दीजिए।"

"कुसुम !" स्नेह-विगलित स्वर में श्याम ने कहा—"एक ही ठोकर से तुमने मुझे कितनी दूर फेंक दिया ! हाय ! तुमने यह क्या किया ?"

"छि !" कुसुम ने उसके आँसू पोंछते हुए कहा—"मर्द होकर भी आप इस तरह विह्वल हो रहे हैं ? सोचिए तो सही ; जब आपके मन की यह हालत है, तब आपको न पाकर सुधा के मन की क्या हालत होगी ? सहृदयता तो इसमें है कि आप सुधा को मेरे पास खींच लाइए—इसे खाई-खन्दक में गिरने से बचाइए।"

"मगर मैं इसमें क्या कर सकता हूँ, कुसुम ?"

"आप नहीं तो और कौन कर सकता है ?"

"मेरे घर वाले मुझे ऐसा न करने देंगे।"

"क्यों ?"

"क्योंकि सुधा के बाप छोटी जातियों के पुरोहित हैं।"

"बस ? इसीलिए सुधा अछूत की बेटी हो गई ? जब आप-जैसे पढ़े-लिखे लोग इन बेहूदी बातों से इतना भय खाएँगे, तब तो हमारे देश का उद्धार हो चुका ! व्याख्यान देते समय तो सब कुछ कह डालते हैं और असली काम करते समय यह हालत है ?"

"लेकिन उनके इस पेशे का समर्थन तो नहीं किया जा सकता न ?"

"क्यों ? आख़िर वह बेचारा चार प्राणियों का पालन कैसे करे ? गुलामी करने से तो यह लाख दर्जे अच्छा है। और अगर अच्छा नहीं है, तो समाज को चाहिए उसके पेट का प्रश्न भी हल कर दे। केवल घृणा और उपेक्षा से ही तो काम नहीं चलता !"

"बात तो ठीक है; लेकिन...।"

"लेकिन, आप ऐसा नहीं कर सकते। आप समाज-सुधार पर लम्बे-लम्बे व्याख्यान दे सकते हैं, अबलाओं की विवशता पर रुला देने वाले लेख लिख सकते हैं, पर एक ऐसी बालिका का उद्धार नहीं कर सकते, जो आप ही को अपना सब कुछ माने बैठी है।"

श्याम इसके आगे तर्क न कर सका। उसके हृदय में आत्म-ग्लानि का उदय हो आया। कुसुम की निस्स्वार्थ और ऊँची भावनाओं ने उसके ऊपर जादू का असर किया। वह बोल उठा—कुसुम ! तुम मुझे इतना हृदयहीन और डरपोक समझ कर मेरे ऊपर घोर अत्याचार कर रही हो। सच कहो, क्या तुम्हारी यही आज्ञा है कि मैं तुमसे दूर हट कर सुधा में मिल जाऊँ ? सुधा में तुम इस तरह लीन हो गई हो कि वह भी मुझे तुम्हारी ही जैसी मालूम पड़ती है। उसके लिए भी मेरे हृदय में स्नेह और ममता की एक प्रबल धारा उमड़ रही है। पर पूछता हूँ, क्या तुम इसी अपराध का तो दण्ड नहीं दे रही हो ?

"नहीं,"—कुसुम ने अपने हृदय का आवेग रोक कर बड़ी शान्ति के साथ जवाब दिया—"मैं सच्चे हृदय से यह अनुरोध कर रही हूँ। मेरे प्रति आपके हृदय में यदि थोड़ा-सा भी प्यार हो, तो आप मेरी यह

विनती मान लें । आप नहीं जानते, मेरे लिए यह कितने बड़े गर्व की और उल्लास की बात होगी ।"

"तो मुझे तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य है ।"

"भगवान् मेरी मनोकामना पूरी करें !"

इसी समय लल्लन ने मुसकुराते हुए कमरे में प्रवेश किया ।

"अब तो जलपान की तैयारी करूँ न ?"—कह कर कुसुम तुरन्त वहाँ से बाहर निकल गई ।

लल्लन ने पूछा—समस्या हल हो गई ?

श्याम ने उदास होकर उत्तर दिया—इसका सारा श्रेय कुसुम को है । उसकी आज्ञा हुई कि मैं सुधा से अवश्य ब्याह करूँ !

लल्लन ने सिर झुका लिया । उसकी आँखों से आँसू की बूँदें टपकने लगीं ! !

३

"तुमने यह क्या किया ?"—श्याम के पिता पण्डित शम्भूदत्त जी ने क्रोध-कम्पित स्वर में पूछा ।

"वही, जो मुझे करना चाहिए था ।"—श्याम ने धीरे से जवाब दिया ।

"तुम्हें वही करना चाहिए था,"—शम्भूदत्त जी ने उसी तरह क्रुद्ध स्वर में प्रश्न किया—"जिससे कुल में दाग लगे, सारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जाय ?"

"मैंने ऐसा कोई काम नहीं किया ।"

"अब और क्या करते ? चमार की बेटी तो ब्याह लाए !"

"अगर वह चमार की बेटी है"—श्याम ने क्रोध से कहा—"तो मैं चाहता हूँ कि अपने ब्राह्मणत्व पर गर्व करने वाले लोग अपने को मुझसे अलग रक्खें।"

"ऐसा तो होगा ही"—शम्भूदत्त जी ने धमकी देते हुए कहा—"अगर तुम उसका परित्याग करके प्रायश्चित्त नहीं करते, तो तुम्हारे लिए इस घर में जगह नहीं है। इसे तुम अच्छी तरह समझ लेना।

"मैंने इसे खूब अच्छी तरह समझ लिया है"—श्याम ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया—"परित्याग करने के लिए मैंने उसका पाणिग्रहण नहीं किया है और न मैंने कोई पाप ही किया है, जिसके लिए प्रायश्चित्त करूँ। इस घर में जगह पाने के लिए मैं अपने विचार-स्वातन्त्र्य का वध नहीं कर सकता। न वह काम करते ही डर सकता हूँ, जिसका सम्बन्ध मेरे ही जीवन से है और जिसका महत्व समझने के लिए मैं स्वयं पर्याप्त हूँ।"

"तुमने विवाह के धार्मिक महत्व की अवहेलना की है"—पण्डित जी ने डाँट कर कहा—"या तो इसका प्रायश्चित्त करो या मेरे सामने से हट जाओ।"

"मैं समझता हूँ"—श्याम ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"विवाह का धार्मिक या नैतिक महत्व परम्परागत की लीक पीटने से ही प्राप्त नहीं होता। जिन दो प्राणियों के संयोग से उनकी आत्मा का उत्थान न हो, उन्हें रीति के धागों से बाँध देना ही ब्याह नहीं है! शरीर का ब्याह नहीं होता, ब्याह होता है हृदय का—आत्मा का! यही ब्याह का धार्मिक महत्व है, इसी से नैतिक महत्व की उपलब्धि

हुआ करती है—और ऐसे ब्याह में जाति-वंश का प्रश्न अपना कोई स्थान नहीं रखता, स्थान रखने वाली मुख्य वस्तु होती है—दोनों हृदयों की अनुकूल अनुभूति! अनुभूति की यही अनुकूलता दाम्पत्य जीवन के लिए उस स्वर्ग की सृष्टि करती है, जहाँ अशान्ति, अतृप्ति, अनुताप और अव्यवस्था है ही नहीं। मैंने यह ब्याह अपने विकास के लिए, अपना बहुत-कुछ बलिदान करके, किया है। यदि आप लोग समझते हैं कि मेरा यह कार्य प्रायश्चित्त के योग्य है, तो मैं आपको, आपके घर को और आपके समाज को प्रणाम करता हूँ।"

"तुम्हारे शब्दों में बल है"—पण्डित शम्भूदत्त जी ने झुँझला कर कहा—"पर तुम बड़े भारी कुल-कलङ्की निकले! मुझे कहीं का न छोड़ा! जाओ, मेरे सामने से हट जाओ; तुम्हारे व्याख्यान का असर मेरे ऊपर नहीं होगा। जाओ, कोई दूसरी जगह ढूँढ़ो।"

"क्या यही आपका अन्तिम निर्णय है?"

"अगर तुम मेरी बात नहीं मानते, तो मैं इसके सिवाय और कुछ नहीं कर सकता।"

"अच्छी बात है" कह कर श्याम तेज़ी के साथ वहाँ से चला गया और सीधे अपनी माता के पास पहुँचा।

"माँ!"—श्याम ने रुँधे हुए स्वर में कहा—"अब मैं जा रहा हूँ।"

"मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी!"—कह कर माँ ने उसे छाती से लगा लिया।

"नहीं माँ!"—श्याम ने रोते हुए कहा—"ऐसा न करो। मुझ भिखारी के साथ चल कर कहाँ रहोगी। अपने ऊपर आए हुए कष्टों

को तो मैं झेल लूँगा ; पर अपनी आँखों से तुम्हारा यह करुण वेश न देख सकूँगा। मेरा कोई ठिकाना नहीं, कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ! तुम यहीं रहो। आशीर्वाद दो, माँ !"

"हाय ! बेटा"—माँ ने रोते हुए कहा—"तुम इतने निरमोही हो गए ? ब्याह के ख़ातिर माँ-बाप, घर-द्वार, समाज-नाता—सब छोड़ कर चले ? क्या तुम समझते हो कि यह अच्छा किया है ? अगर समझते हो तो मुझे भी अपने साथ ले चलो। तुम्हारे बिना मैं यहाँ न रह सकूँगी।"

"तुम्हें मेरी ख़ातिर यहीं रहना पड़ेगा माँ !"—श्याम ने बड़ी कातरता से कहा—"मैं जो कुछ कर रहा हूँ, इसके सिवा और कुछ कर ही नहीं सकता। इसे तुम चाहे अच्छा समझो या बुरा।"

"हाय !"—माँ ने माथा ठोंक कर कहा—"तुम्हारे बिना इस घर में कैसे रह सकूँगी बेटा ? किसके लिए उल्लास से पकवान बनाऊँगी ? किसको प्यार से खिलाऊँ-पिलाऊँगी ? किसके आने की राह देखा करूँगी ? अब 'माँ' कह कर कौन मेरे कलेजे को शीतल किया करेगा ? किसका मुँह देख कर मैं सब कुछ भूल जाया करूँगी ?"

"मैं तुम्हारे दर्शन कर जाया करूँगा !"—कह कर वह बच्चे की तरह फूट-फूट कर रोने लगा।

इसी समय पण्डित शम्भूदत्त जी भी वहाँ आ खड़े हुए। श्याम ने तेज़ी से प्रस्थान किया और उसकी माँ धड़ाम से वहीं गिर पड़ी !

— ११ —

४

सुधा का ब्याह समाप्त कराने के बाद ही कुसुम मुरझा गई। देखते ही देखते न जाने उसे क्या हो गया। ब्याह के दूसरे ही दिन ज्वर हो आया। लोगों ने समझा, हरारत का फल है। पर वह कुछ दूसरी ही चीज़ निकली। धीरे-धीरे ज्वर ने उसमें अपना घर बसा लिया। कभी आए, कभी चला जाय। महीने भर से अधिक हो गया पर उसकी अवस्था न सुधरी! कभी दिन भर खूब अच्छी तरह रहती तो रात में नहीं, और कभी रात भर चैन से सोती तो सारा दिन बुख़ार की बेचैनी में बीतता।

"तुम्हें हो क्या गया कुसुम ?"—सुधा ने एक दिन बड़ी कातरता से पूछा।

"होगा क्या, पगली!"—अपनी व्यथा को मुसकुराहट के नीचे दबाती हुई वह बोली—"शरीर ही तो है? कुछ थोड़ा-सा इधर-उधर हुआ और बीमारी घुस आई।"

"नहीं बहन।"—कुसुम के कन्धे पर अपना सिर रखते हुए सुधा बहुत ही आर्द्र होकर बोली—"तुम्हारी इस बीमारी का कारण मैं ही हूँ। तुम मेरे ही लिए आज इस हालत में हो।"

कुसुम ने उसे खींच कर अपनी छाती से लगा लिया और आँखों में आँसू भर कर कहा—ऐसा न कहो बहिन! भला तुम्हारे कारण मेरी यह हालत क्यों होगी? यह तो अपने करम का फल है।

"मैंने तुम्हारा सब कुछ छीन लिया कुसुम!"—सुधा ने रोते हुए कहा।

"ऐसा तुम कभी न समझना सुधा !"—कुसुम ने उसके आँसू पोंछते हुए अपनी वाणी कँपा कर कहा—"मैंने जो कुछ तुम्हें दिया है, वह असल में तुम्हारा ही था; मैं भूल से उसे अपना समझे बैठी थी, वास्तव में उसके योग्य न थी। हाँ, मुझे थोड़ा-सा अधिकार दे दिया गया था। हर्ष की बात है, कि मैं उसे अच्छी तरह काम में ला सकी, उसे मैंने तुम्हारे प्यार के हवाले किया। यह मेरा आत्म-त्याग नहीं था बहिन ! कर्त्तव्य के नाते ही मैं ऐसा कर सकी। आह ! तुम रो क्यों रही हो ? चुप रहो। मेरी चिन्ता में अपने स्वास्थ्य का सर्वनाश न करो बहिन ! चुप रहो, तुम्हें मेरे सिर की क़सम !"

"कैसे चुप रहूँ कुसुम ?"—सुधा ने उसी तरह रोकर कहा—"कलेजे में जैसे कोई रह-रह कर तीर चुभो रहा है। मैं नहीं जानती थी, मेरे कारण तुम अपने को इस तरह मिटा दोगी। हाय ! उस दिन मैं अपनी व्यथा को छिपा नहीं सकी, उसी का यह दण्ड है—बड़ा ही कठोर दण्ड है, जिसे मैं सह न सकूँगी।"

दोनों सखियाँ गले से लिपट कर रो रही थीं कि सहसा लल्लन उनके आगे आ खड़ा हुआ। वह बहुत ही मुरझाया हुआ था।

कुसुम ने पूछा—यह क्या भैया ?

लल्लन ने कहा—तुम्हें देखने आ गया। वहाँ अब अकेले जी नहीं लगता।

"अकेले,"—कुसुम ने घबड़ा कर पूछा—"और श्याम बाबू कहाँ रहते हैं।"

लल्लन चुप रहा।

"वे वहाँ नहीं हैं !"—कुसुम ने पूछा।

"नहीं"—ललन ने सिर हिला दिया।

"तब कहाँ हैं। घर पर।" कुसुम ने आशङ्का के साथ पूछा।

"उसके बाप ने उसे घर से निकाल दिया।"—ललन ने कहा।

सुधा सिर से पैर तक काँप उठी। उसका मुख-मण्डल विवर्ण हो गया। उसने काँपते हुए स्वर में पूछा—मुझसे दिल्लगी तो नहीं कर रहे हो भैया।

"नहीं, बहिन!"—लल्लन ने व्यथित होकर उत्तर दिया—"यह सच्ची बात है। उसने लिखना-पढ़ना भी छोड़ दिया।"

"और गए कहाँ?"—कुसुम ने व्यग्रता के साथ प्रश्न किया। सुधा की वाणी अन्तस्तल के आवेग में बह गई। वह प्राणहीन पत्थर की प्रतिमा बन गई।

"न जाने परसों सवेरे कहाँ चला गया?"—लल्लन ने कहा—"मैं लॉ-कॉलेज गया हुआ था। लौट कर आया तो उसका एक पत्र टेबुल पर पड़ा पाया।"

"उसमें कुछ लिखा नहीं था कि कहाँ जा रहे हैं?"—कुसुम ने पूछा।

"उसमें इतना ही लिखा था"—लल्लन ने पत्र खोल कर पढ़ सुनाया—"मैं अपनी जीविका के प्रश्न से अस्थिर हो उठा हूँ। कमाने-खाने का कोई प्रबन्ध करना पड़ेगा। नौकरी न मिलेगी, तो मज़दूरी करूँगा। कुसुम से कह देना, वह सुधा को समझाती-बुझाती रहे। मैं कहाँ जा रहा हूँ, न बताऊँगा। यह भी सम्भव है कि कुछ दिनों

तक किसी को पत्र भी न लिखूँ। घबराने की ज़रूरत नहीं। सुधा तब तक शान्ति और धैर्य के साथ अपने पिता के घर रहे—कुछ दिनों के लिए मुझे बिलकुल भूल जाए।"

सुधा मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। कुसुम ने हड़बड़ा कर कहा—भैया, पानी ले आओ।

"तुम्हारा हृदय बड़ा ही दुर्बल है सुधा!"—उसे होश में लाने के बाद कुसुम ने कहा—"वे तो मर्द की तरह अपने जीवन की लड़ाई में गए हैं और तुम इतनी दुर्बलता दिखा रही हो?"

"हाँ, बहिन—!" सुधा ने एक आह खींच कर जवाब दिया।

"नहीं, तुम्हें धीरज न छोड़ना चाहिए।"

"सुधा तब तक शान्ति और धैर्य के साथ अपने पिता के घर रहे—कुछ दिनों के लिए मुझे बिलकुल भूल जाय!"—सुधा ने बड़ी कातरता से कुसुम की ओर देख कर कहा—"क्यों बहिन? यही बात तुम भी कह रही हो न? हाय! सुधा के पति दूर-दूर ठोकरें खाते फिरें और सुधा चैन से बाप के घर रहे! कितनी कड़ी यातना, कैसा असह्य दण्ड है!"

कुसुम इसका कोई उत्तर न दे सकी। उसकी आँखों से आँसू की धारा बह चली।

सुधा ने फिर कहा—बहिन! उनका पता लगाना होगा। जहाँ वे रहेंगे, वहीं मैं भी रहूँगी। उनके सुख-दुख में हिस्सा बँटाना ही मेरा काम है। मैं उनके बिना कहीं भी नहीं रह सकती।

"यह तो ठीक है बहिन !"—कुसुम ने अपनी आँखें पोंछ कर कहा—"पर इनका पता कहाँ जाकर लगाओगी ? भले घर की बहू-बेटी होकर तुम कहाँ-कहाँ भटकती फिरोगी ?"

"तब मैं क्या करूँ बहिन !"—सुधा ने जैसे उपाय की भीख माँगते हुए पूछा—"मेरा तो एक-एक पल बुरी तरह बीत रहा है !"

"तपस्या करो"—कुसुम ने गम्भीरतापूर्वक कहा—"तुम जानती हो, स्वयं मेरे ऊपर इस समय क्या बीत रहा है ? पर मैं तो अब दो ही चार दिनों......"

कुसुम की वाणी सहसा रुक गई। वह ज़ोर-ज़ोर से खाँसने लगी।

सुधा ने घबराहट के साथ कहा—तुम यह क्या कह रही हो कुसुम ? अरे ! तुम्हें हो क्या गया है ?

शरीर छूकर देखा, वह तवे की तरह जल रहा था। सुधा ने कहा—चलो, बिस्तर पर लेट रहो।

"लिटा दो बहिन !"—कुसुम ने बड़े कष्ट से कहा—"देखो, कष्टों से घबराना मत। उनके जीवन को केवल तुम्हीं से सुख की आशा है। उन्हें कभी निराश मत करना।"

"तुम इस तरह क्यों बोल रही हो कुसुम।"—उसे बिस्तर पर लिटाते हुए सुधा ने पूछा।

"अब मैं बचूँगी नहीं सुधा !"

"छिः ! यही सोचा करती हो ?"

"सच कहती हूँ।"

"छिः !"

"भैया को बुला दो......!"—कुसुम ने बड़े जोर से खाँसा, मुँह से बलबला कर खून निकल पड़ा!!

"माँ..."—कह कर वह फिर खाँसने लगी। फिर वही खून।

माँ दौड़ी आई, भैया दौड़ आए। कुसुम की आँखें तन गईं—समूचा शरीर रक्त-शून्य हो गया।

"भैया! माँ!"—कुसुम ने बड़े कष्ट से सुधा की ओर देख कर कहा—"सुधा को, उनको...।"

इसके आगे वह कुछ न बोल सकी। सब लोग छाती पीट-पीट कर रोने लगे।

उस समय तो नहीं, पर उसी रात को क़रीब साढ़े तीन बजे सुधा की सखी सुरधाम चली गई!

५

हावड़ा स्टेशन पर देहली एक्सप्रेस लगी हुई थी। दूसरे दर्जे का एक यात्री "जल्दी करो—देखो, कोई चीज़ छूटने न पावे" कह-कह कर एक कुली को परेशान कर रहा था। उसी जल्दी में, गाड़ी पर चढ़ाते समय, कुली के सिर पर से काठ का एक छोटा सा सन्दूक गिर पड़ा। दुर्भाग्य से वह उसी मिट्टी के घड़े पर गिरा, जिसमें रसगुल्ले भरे हुए थे, घड़ा चूर-चूर हो गया। फिर क्या था? बस भले-मानस ने बेचारे कुली के ऊपर तड़ातड़ बेंत चलाना शुरू कर दिया। बेचारा कुली 'बाप रे, माई रे!' कह कर चिल्ला उठा। वह यात्री के पैरों पर लोट गया और बोला—"आज ही बुख़ार से उठा हूँ बाबू जी! खाने को कुछ नहीं था, इसीलिए कमाने आया। कमज़ोरी के कारण ज़रा

हिल गया। सिर का बोझ सँभला नहीं! माफ़ कीजिए। ग़रीब मर जायगा हुज़ूर!"

मगर हुज़ूर का गुस्सा कम न हुआ। रसगुल्ले के वियोग ने उन्हें आपे से बाहर कर दिया था। उन्होंने खींच कर बेंत चलाना चाहा ही था कि इसी समय दौड़ कर एक युवती ने उनका हाथ थाम लिया और धिक्कार भरे स्वर में कहा—छिः! थोड़े से रसगुल्ले के लिए मनुष्यता की हत्या कर रहे हैं आप?

गाड़ी ने सीटी दी। वह सज्जन झल्ला कर कुली के आगे दो आने पैसे फेंकते हुए गाड़ी में जा बैठे।

कुली युवती की ओर देखते ही चिल्ला उठा—सुधा! यह क्या?

"सपना नहीं, मेरे स्वामी!"—युवती ने उसे गले लगा कर कहा—"जीवन का कठोर सत्य। हाय! यह सब मेरे ही पापों का फल है।"

"चलो सुधा!"—कुली ने गर्व के, उल्लास के, आनन्द के आँसू बहाते हुए वेदना-विद्ध वाणी में कहा—"आज मैं कुली बन कर भी सम्राट हूँ!"

दोनों एक कच्चे मकान में पहुँचे। सुधा ने कहा—चलो, घर लौट चलो। आह! तुमने अपने को क्या से क्या बना दिया?

श्याम ने कहा—घर है ही कहाँ, जो मैं लौट चलूँ? क्या तुम नहीं जानती हो कि मैं घर से निकाल दिया गया हूँ?

"चलो, मैं उन लोगों के पैरों पड़ूँगी; उन्हें जैसा होगा मनाऊँगी!"

"तो तुम जाओ, मैं ऐसा नहीं कर सकता।"

"मुझसे तुम्हारी यह दशा न देखी जायगी प्रियतम !"

"इसीलिए तो मैं कह रहा हूँ प्रिये !"—श्याम ने विह्वल होकर कहा—"तुम अपने घर जाकर रहो। मैं अपने कष्टों का कोई हिस्सेदार नहीं चाहता—इन्हें मैं अकेला झेलूँगा।"

"इतने कठोर न बन जाओ मेरे स्वामी !"—सुधा ने रुँधे स्वर में कहा—"तुम जहाँ रहोगे, मैं भी वहीं रहूँगी। महीने भर से तुम्हारी खोज में थी। बड़े भाग्य से आज तपस्या सफल हुई है। मैं तुम्हारे आत्म-सम्मान की उपासिका हूँ। मरते दम तक तुम्हारे साथ रहूँ, यही मेरी सबसे बड़ी कामना है।"

सुधा को गले लगा कर श्याम ने गद्गद स्वर में पूछा—"इन कष्टों को तुम झेल सकोगी"?

"जिन कष्टों को तुम झेल सकते हो"—सुधा ने गर्व के साथ उत्तर दिया—"उन्हें तुम्हारी सहधर्मिणी भी झेल सकती है। अगर वह ऐसा न कर सके, तो उसे आत्म-हत्या कर लेनी चाहिए।"

"सुखों में पली हुई मेरी रानी !"—श्याम ने अत्यन्त विह्वल होकर कहा—"तुम्हें मैं मज़दूरिन के रूप में कैसे देख सकूँगा? कैसे देख सकूँगा—तुम्हारे फटे-पुराने कपड़े? कैसे देख सकूँगा—तुम्हारे रूखे केश? कैसे देख सकूँगा—तुम्हारा वह मुरझाया हुआ मुखड़ा, जिसे दीनता सौन्दर्यहीन बना देती है?"

"नहीं, मेरे स्वामी !"—सुधा ने आँसुओं का वेग सँभालते हुए कहा—"मैं अपने मुखड़े को न मुरझाने दूँगी। तुम इस पर सदैव मुसकुराहट देखोगे। मैं इन कष्टों को कष्ट न समझूँगी! तुम्हीं मेरे

सब कुछ हो। तुम्हें पाकर मैं कष्टों का अनुभव कर ही नहीं सकती ! आशीर्वाद दो, तुम्हारे योग्य बन सकूँ। मैं नारी हूँ, अबला हूँ, मेरी दुर्बलताओं को, मेरे अनजान अपराधों को ध्यान में न लाना।"

श्याम के ऊपर मानों नशा छा गया। मुग्ध-भाव से वह अपनी जीवनेश्वरी की गोद में गिर पड़ा !!

६

सायङ्काल का समय था। काम से लौट कर श्याम ने अपनी कुटिया में क़दम रखते ही देखा, उसकी सहधर्मिणी बुख़ार में बेसुध पड़ी है। दिन भर सड़क पर पत्थर तोड़ कर, ख़ून और पसीने को एक कर, जो थोड़े से पैसे मिले थे, उनसे वह कुछ खाने-पीने की चीज़ें ख़रीद लाया था—बड़े उमङ्ग से, कि घर पहुँच कर दोनों प्राणी प्रेम से भोजन करेंगे। वह मुझे खिलाएगी, मैं उसे खिलाऊँगा। मैं कहूँगा, अब भूख नहीं है, नहीं खाऊँगा। वह ज़बर्दस्ती मेरे मुँह में डाल देगी। मैं भी ऐसा ही करूँगा—बड़ा मज़ा रहेगा। सारी थकावट—सारी श्रम-वेदना दूर हो जायगी। पर हाय ! घर में प्रवेश करते ही उसकी सारी उमङ्गें चूर-चूर हो गईं ! सारे अरमान बिखर गए ! फटे-पुराने चिथड़ों में लिपटी हुई अपनी प्रियतमा के पास पहुँच कर उसने बड़ी विह्वलता से पुकारा—सुधा !

सुधा ने आँखें खोल दीं। बहुत ही क्षीण स्वर में उसने कहा—घबराने की ज़रूरत नहीं।

श्याम की आँखों से अविरल-अश्रु-धारा बह चली।

सुधा ने फिर बड़े कष्ट से कहा—रोओ नहीं, तुम्हें मेरी क़सम।

श्याम आँसू पीता हुआ बोला—तुम काँप रही हो, जाड़ा मालूम पड़ता है ?

"नहीं"—सुधा ने कहा—"इन बातों की चिन्ता मत करो।"

श्याम के पास ओढ़ने का एक फटा-पुराना कम्बल था। उसी से उसने सुधा को ढँक दिया।

सुधा बोली—यह क्या करते हो ? तुम क्या ओढ़ोगे ? उफ़ !

श्याम ने इसका कोई उत्तर न देकर पूछा—कहीं पीड़ा तो नहीं होती है ?

"नहीं"—कह कर सुधा ने बड़ी बेचैनी के साथ करवट बदली !

श्याम चुपचाप उसके सिर पर हाथ फेरने लगा। उसका हृदय उमड़ रहा था; पर वह सावधान था कि कहीं आँसू की बूँदें सुधा के ऊपर न गिर पड़ें।

इसी समय वहाँ एक और आदमी आ पहुँचा। आते ही वह बोल उठा—श्याम !

"लल्लन !"—कह कर श्याम उसकी छाती से चिपक गया। दोनों फूट-फूट कर रोने लगे।

श्याम ने कहा—"कुसुम की मृत्यु का कारण मैं ही हूँ लल्लन ! मुझे क्षमा करो।"

"उसे अब भूल जाओ श्याम !"—लल्लन ने सान्त्वना के स्वर में कहा—"यह बताओ, सुधा का क्या हाल है ?"

इसी बीच में सुधा बड़े कष्ट से उठ बैठी थी। वह लल्लन भैया के मुँह से अपना नाम सुनते ही गला फाड़ कर रोने लगी।

"तुम कब से बीमार हो, सुधा ?"—लल्लन ने उसे चुप कराते हुए पूछा।

"आज ही ज़रा बुख़ार आ गया है भैया !"—सुधा ने कुछ-कुछ सिसकते हुए जवाब दिया—"आप लोग तो अच्छी तरह हैं ?"

लल्लन ने कहा—तुम लोगों को मेरे साथ वापस चलना होगा सुधा ! अब इस हालत में नहीं रहने दूँगा।

श्याम ने कहा—कहाँ ले जाओगे लल्लन ? हमारे लिए दुनिया में और कोई जगह हो कहाँ है ?

लल्लन ने जेब से एक काग़ज़ निकाल कर श्याम के हाथों में देते हुए कहा—इसे पढ़ लो। कुसुम अपने सब रुपये तुम्हें दे गई है। बैङ्क में उसके नाम तीन हज़ार रुपये जमा हैं। मरने के पहले ही वह अपने सन्दूक में यह काग़ज़ रख गई थी। माँ ने देखा, तो कहा कि थोड़े और रुपये लगा कर कुसुम की स्मृति में एक प्रेस खोल दिया जाय और उसी में हम और तुम दोनों जनें मिल कर काम करें। माँ तुम दोनों के लिए दिन रात बेचैन रहती हैं। मैं अपना अनुरोध मानने को नहीं कहता, पर उनके ऊपर दया करना तुम्हारा धर्म है।

इतना कहते हुए लल्लन का स्वर आँसुओं से उलझ गया। श्याम चुप था।

लल्लन ने फिर कहा—श्याम ! मेरे भाग्य में यह भी लिखा था कि कभी तुम दोनों को इस अवस्था में देखूँ ? हाय ! जिस पढ़े-लिखे नवयुवक को आज कुर्सी पर बैठना चाहिए था, वही मज़दूर का जीवन बिता रहा है ! जिसे रानी की तरह समय बिताना चाहिए था, वह

आज भिखारिन के वेष में, फटे-पुराने चिथड़ों से लिपटी हुई, कराह रही है! विधाता! तेरी क्रीड़ा भी कितनी करुण—कितनी निष्ठुर है? मगर अब नहीं; अब क्षण भर भी यह दृश्य नहीं देख सकता श्याम! चलो, सुधा इसी समय यहाँ से चले चलो। चलो, सुधा को गाड़ी में बैठाओ। वह इसी जगह गली में खड़ी है।

श्याम ने गद्‌गद होकर कहा—ललन!

ललन ने कहा—नहीं, अब कुछ मत कहो। सुधा! चलो बहिन, उठो। आह! तुम लोगों को ढूँढ़ निकालने में बड़ा कष्ट हुआ है! अब उसे दूर कर दो, चलो!

देखते ही देखते मज़दूर की वह वैभवहीन झोपड़ी सूनी हो गई। तीनों गाड़ी में जा बैठे!!

७

काशी का 'कुसुम-प्रेस' ख़ूब फूला-फला। वहाँ से श्याम के सम्पादकत्व में निकलने वाले 'कुसुम' नामक मासिक पत्र की साहित्यिक दुनिया में धूम मच गई। श्याम जनता की आँखों का तारा बन गया, युवकों का दुलारा! उसकी कष्ट-सहिष्णुता, परिश्रम-प्रियता, त्याग और तपस्या लोक-सम्मान की वस्तुएँ थीं। उसके पास कवि का हृदय था, नारी-सुलभ सहृदयता थी, वीरों की बाहुएँ थीं, सैनिकों जैसा संयम था। वह था अपने सिद्धान्तों का पक्का, अपने कर्त्तव्य का पुजारी, आत्म-सम्मान का संरक्षक, आत्म-निर्भरता का अवतार!

एक दिन उसके मन में आया—अब माँ से एक बार मिल आना चाहिए।

इतनी ही स्मृति पर्याप्त थी। वह अपने कमरे में अकेला ही था। फूट-फूट कर रोने लगा।

लल्लन हड़बड़ा कर कमरे में घुस आया और बोला—क्या हुआ भाई !

"अपनी माँ की याद हो आई।"—श्याम ने रोना बन्द करने की चेष्टा करते हुए कहा।

"ठीक तो है।"—लल्लन ने कहा—"इतने दिनों से तुमने उनकी कोई खोज-ख़बर न ली, अब तो एकाध दिन हो आओ। आना चाहें तो उन्हें लिवाते भी आना।"

उसी रात को श्याम भागलपुर के लिए रवाना हो गया।

८

स्टेशन से उतर कर जब वह अपने गाँव की ओर चला, तो उसका हृदय एकदम अशान्त हो उठा। जैसे-जैसे वह गाँव पहुँचता जाता था, वैसे ही वैसे उसके कलेजे की धड़कन बढ़ती जाती थी। पूरे दो वर्षों के बाद आज वह अपनी माँ के पास जा रहा था। अपने निर्वासन का कष्टमय जीवन समाप्त करके; इतने दिनों बाद आज वह जा रहा था। उसी स्थान पर अपनी माँ के चरणों पर लोटने—जहाँ एक दिन वह उसे बेहोश छोड़ आया था, हाय ! कितनी करुणापूर्ण परिस्थिति थी ! श्याम के हृदय में कोमल और करुण भावनाओं की लहरें उमड़ आईं। आँखें पोंछते हुए उसने गाँव में प्रवेश किया।

पर यह क्या ? समूचा गाँव श्मशान-सा क्यों मालूम पड़ रहा है ? इतने बड़े गाँव में यह भयङ्कर निस्तब्धता कैसी ? अरे ! एक ही साथ

इतनी रोने की आवाज़ें कहाँ से आरही हैं ? अज्ञात आशङ्का से श्याम एक-दम काँप उठा । इसी समय उसने देखा, सामने से कुछ लोग एक लाश लिए आ रहे हैं ।

वह दौड़ कर उन लोगों के पास पहुँच गया और बोल उठा—गाँव की यह कैसी हालत हो रही है ?

उत्तर मिला—जाओ भैया ! दौड़ कर जाओ, तुम्हारे बाप भी मर रहे हैं ।

"एँ !"—श्याम ने स्तब्ध होकर पूछा ।

"हाँ, भैया !"—उनमें से एक ने कहा—"आज महीने भर से गाँव को हैज़े की आग जला रही है, मालूम होता है, सबको राख बना कर ही यह आग बुझेगी भगवान् की मर्ज़ी ! जाओ भैया ! जल्दी घर जाओ !"

श्याम दौड़ता हुआ अपने आँगन में पहुँचा और भर्राई हुई आवाज़ में चिल्ला उठा—माँ !

कोई उत्तर न मिला ।

उसने घबड़ाई हुई आँखों से एक बार चारों ओर देख कर फिर उसी तरह पुकारा—माँ !

इस बार उसकी बूढ़ी दासी 'बाली' घर से बाहर निकल आई और रोती हुई बोली—बहुत देर करके आए बेटा ! अब 'माँ' कहाँ पाओगे ?

"बाली !"—उस बूढ़ी दासी के पास पहुँच कर वह बोला—"तो क्या मेरी माँ अब नहीं है ?"

श्याम को छाती से लगा कर उस रोती हुई बुढ़िया ने कहा—नहीं बेटा ! तुम्हारे घर छोड़ने के बाद वह फिर नहीं उठीं । साल भर तुम्हारा

नाम रट-रट कर किसी तरह इस आशा से जीती रहीं कि शायद तुम लौट आओ। पर तुम न आए। गृहस्थी का सारा भार मुझ अभागिन पर छोड़ कर वह हमारे बीच से भाग गईं। अब उन्हें कहाँ पा सकोगे बेटा ?

"और बाबू जी का क्या हाल है बालो !"—श्याम ने रोते ही रोते बड़ी विह्वलता से पूछा।

"आह !"—बालो ने उत्तर दिया—"वे भी तो अब घड़ी-पहर के ही मेहमान हैं! आज सवेरे से हैज़े ने पकड़ा है। तभी से तुम्हारा ही नाम रट रहे हैं !"

"चलो, मुझे उनके पास ले चलो"—कह कर श्याम रोता-चिल्लाता अपने बाप के कमरे की ओर बढ़ा।

पण्डित शम्भूदत्त जी बहुत ही बेचैन होकर तड़प रहे थे। बालो ने पास पहुँच कर आर्द्र-स्वर में कहा—बच्चा जी आ गए। देखिए, आपके पास खड़े हैं।

"कौन ?"—रोगी ने कष्ट से करवट बदलते हुए करुण-स्वर में कहा—"श्याम ? मेरा बेटा ? कहाँ है ? आह ! उफ़ ! बेटा !......!"

श्याम बाप को पकड़ कर बड़े ज़ोर से रोने लगा।

बालो ने उसे खींच कर अलग कर दिया और रोकर कहा—आज सवेरे से यही रट लगाए थे कि मरते समय मुझे पानी कौन पिलाएगा ? मेरा दाह-कर्म कौन करेगा ? मुझे मुकती (मुक्ति) कैसे मिलेगी ? अपने बेटे को कैसे बुलाऊँ ?

श्याम ने बड़ी ही आर्द्र वाणी में पुकारा—बाबू जी !

रोगी ने बड़े कष्ट से कहा—बेटा !

"कुछ चाहिए ?"—श्याम ने रोते हुए पूछा।

"तु...मा...रे...हाथों...से...एक...बूँद...पानी"—रोगी ने हाँफते हुए कहा—"बे...टा...! मु...झे...मा...फ़......!"

श्याम ने पिता के मुँह में गङ्गा-जल की कुछ बूँदें डाल दीं और फिर पुकारा—बाबू जी !

रोगी को मानो कुछ शक्ति प्राप्त हो गई। उसने धीरे से अस्पष्ट शब्द में कहा—बेटा ! तुमसे मोक्ष की भीख माँगता हूँ...थोड़ा-सा पानी और...उफ़ !

उनके मुँह में थोड़ा गङ्गा-जल और डाल दिया गया।

इस बार रोगी ने अपने दोनों हाथों को बढ़ा कर इस बात का इशारा किया कि वह एक बार अपने पुत्र को छाती से लगा ले। श्याम ने घुटने टेक कर बाप की छाती पर सिर रख दिया।

"मैं...त...र...ग...या...बे...टा...—कह कर रोगी ने तीन-चार हिचकियाँ लीं और बुढ़िया बालो श्याम को खींच कर अपनी छाती से लगा कर रोने लगी।

"हाय मेरी माँ भी इसी तरह 'मोक्ष की भिक्षा' माँगते-माँगते मरी होगी !"—कह कर श्याम पागलों की तरह सिर धुनने लगा ! !

सुधार

[श्री० शिलीमुख जी, एम० ए०]

कुछ काल से भारत में एक ऐसी सङ्गठित संस्था का नाम सुनाई देता है, जो शिक्षा को एक नया ही रूप देना चाहती है। यह संस्था अपने सिद्धान्तों का व्याख्यानों द्वारा प्रचार करती है; उदाहरणों से उन्हें पुष्ट करती है और बाइस्कोप द्वारा उन्हें हृदय-ग्राही बनाती है। एक बार बाइस्कोप के चित्रों में एक बालिका के दर्शन हुए थे, जो बन्दर की तरह नटखट, लोमड़ी की तरह चालाक मगर काम करने में गधे की तरह सुस्त और दण्ड देने वाले के प्रति अत्यन्त मत्सरपूर्ण थी। उसका नाम अनुमति था।

अनुमति नौ-दस वर्ष की बालिका थी। जन्म कुछ बुरे घर में नहीं हुआ था। पिता हर महीने कचहरी से तीन सौ रुपये लाते थे। उनके पास कुछ पैतृक सम्पत्ति भी थी। माता भी ननिहाल से काफ़ी 'माल-मता'—ज़ेवर आदि लाई थी। सारांश कि खाते-पीते लोग थे। खुश-हाल और बेफ़िक्र; परन्तु ऐसे अमीर भी नहीं कि मोटर या घोड़ा-गाड़ी रखते हों या बच्चों को खिलाने के लिए दस-दस नौकरों से उनके नौकरख़ाने भरे हों। तथापि एक कमी थी और वह सबसे बड़ी कमी थी—

वह यह कि, घर के आदमी ज़रा भी भावुक नहीं थे और उनमें शिक्षा का प्रसार कम था। पिता पुराने ज़माने के मिडिल तक अङ्गरेज़ी पढ़े हुए थे और उन्होंने बीस रुपये महीने से नौकरी शुरू की थी। माता साधारण हिन्दी जानती थीं, रामायण और भागवत आदि की कहानियाँ पढ़ लेती थीं। इस वंश में विद्या देवता का यह पहिला ही आगमन था।

छः-सात वर्ष की उम्र तक तो अनुमति का खूब लाड़ किया गया, यहाँ तक की जैसा हिन्दुस्तानी ढङ्ग है—वह अनौचित्य की सीमा को पहुँच गया। लड़की मुहल्ले के हर तरह के बालकों के साथ खेलती थी। धीरे-धीरे उसमें ज़िद करना और हरामख़ोरी—काम करने से जी चुराना—आदि दोष अच्छी तरह आ गये। यह दोष कभी-कभी माता-पिता को बुरे भी मालूम होते और बालिका को उनके लिए साधारण दण्ड भी भोगना पड़ता। अन्त में बालिका की आदतें सँभालने के लिए एक तरकीब सोची गई कि उसे पढ़ाई में डाला जाय।

परन्तु बालिका का मन खेल में लग चुका था। पढ़ना भी मनोरञ्जन की वस्तु हो सकता है; परन्तु जब वह बड़े आज्ञापालन के रूप में हमसे ज़बरदस्ती कराया जाता है, तभी हम उसे भार समझने लगते हैं और हमारा उसके लिए स्वाभाविक उत्साह नहीं होता। फिर हमारे पढ़ने में समझ का काम बहुत कम रह जाता है और हम उसे मशीन की तरह करते हैं। जब एक छोटे बच्चे ने अपने उर्दू पढ़ाने वाले मास्टर से पूछा कि 'सुस्त' का अर्थ क्या है, तो मास्टर ने झुँझला कर कह दिया—"जैसा तू है।" शब्दों की व्यञ्जना-शक्ति से अपरिचित बालक "जैसा कि तू है" कह कर ही 'सुस्त' के अर्थ रटने लगा!

अनुमति की पढ़ाई भी कुछ इसी प्रकार शुरू हुई। पहले उसे मद-रसे में नहीं भेजा गया। 'अ आ' की किताब मँगा कर माता ने ही उसे 'अ-आ, इ-ई' पढ़ाना शुरू किया। लड़की से अपने हाथ ही से 'बुदका' बनाने और पट्टी साफ़ करने को कहा गया। आह! पहले रोज़ बालिका ने यह काम कितने शौक़ से किया था! क्या उसका उत्साह स्थिर नहीं बनाया जा सकता था? परन्तु ज्यों-ज्यों बालिका के दिल में यह भाव भरता गया, कि यह पट्टी आदि किसी प्रकार के मनो-रञ्जन के पदार्थ नहीं हैं; बल्कि उसे निरन्तर दण्ड दिलाने के साधन-मात्र हैं, त्यों-त्यों उसको उन वस्तुओं से अधिकाधिक घृणा होती गई! बात यह थी कि, पहले ही रोज़ जब 'लल्ली' को 'अ-आ' लिखना सिखाया गया और प्रथम दो-चार प्रयत्नों में वह असफल रही; तो उसको माता के हाथ का एक कठोर झटका खाने की ज़रूरत महसूस कराई गई! इसी प्रकार जिस समय उसको भयभीत करके वर्णमाला के अक्षर पढ़ाए जाते थे, तो उसका तमाम ध्यान अपनी दुरावस्था की तरफ़ होता था और केवल "जैसा कि तू है" की भाँति वह उन अक्षरों को रटा करती थी। बाद में जब वह खेल में प्रवृत्त होती तो यह अक्षर पानी में भिगो कर दूसरे काग़ज़ पर उतारी जाने वाली जर्मनी की तसवीरों की भाँति उसकी स्मृति से उतर जाते थे। खेल के पानी में ऐसी ही शक्ति थी; अथवा यों कह सकते हैं कि, उन अक्षरों में ऐसा मसाला लगाया गया था कि, ज़रा-सी तरी से वे याददाश्त के काग़ज़ को झट छोड़ बैठते थे।

धीरे-धीरे बालिका के दुर्भाग्य के दिन अधिक विकट रूप धारण करने लगे। लड़की तमाम में मन्दबुद्धि प्रसिद्ध हो गई। सब में यह धारणा बँध गई कि, उसे पढ़ना-लिखना कभी नहीं आएगा। देखो न, छः महीने हो गए और अभी 'अ-आ, इ-ई' की किताब भी ख़तम नहीं हो पाई। हरामख़ोरी की आदत पड़ गई है। माता उत्तेजित हो उठी—"अजी पढ़ना-लिखना क्या! इसे कोई काम नहीं आयेगा। हुदक्कड़े मार-मार कर उढ़नियाँ फाड़ लाई और जब कहा कि बैठ कर इसमें थोंप भर ले, तो बस जैसे मर गई हो। बालक होते हैं, रोटीपानी में मदद देते हैं; पर इससे इतना भी नहीं कि आटा पकड़ा दे। इसकी उमर की लड़कियाँ चून माड़ कर रखती हैं, आग सुलगाती हैं, तमाम सितम ढाने लगती हैं—और यह! यह तो बस इसी क़ाबिल है कि, इसे हाथ-पैर बाँध कर अँधेरी कोठरी में बन्द कर दिया जाए और छः रोज़ तक खाने को न दिया जाए।"

बालिका ने भी मत्सरपूर्ण भाव से अपने मन में कहा—"हाँ, छः रोज़ तक खाने को न दिया जाए!" वह दौड़ कर एक रस्सी ले आई और उसे माता को देती हुए बोली—"ले बाँध न दे! क्या, बाँधती है न?"

पास बैठी हुई पड़ोसिन से माता बोली—"देख लिए तुमने अपनी लड़की जी के लच्छन! सुसराल में जाएगी, तो सास-ससुर यही कह देंगे कि, माँ ने ही यह बातें सिखाई होंगी।"

फिर उसने लड़की से कहा—"अच्छा ले चुड़ैल! आ तुझे बाँध ही दूँ! बाहर न मालूम किन-किन बालकों में खेल कर यह बातें सीखी

हैं। अब के बाहर गई, तो तेरी टाँगें ही तोड़ दूँगी।" यह कह कर वह लड़की को बाँधने को उठीं।

परन्तु उसके सौभाग्य से पड़ोसिन उस समय वहाँ बैठी थीं। इस-लिए बेचारी को छः रोज़ तक भूखी और बँधी हुई कालकोठरी में पड़ी रहने की यातना नहीं भोगनी पड़ी। बाँधे जाने पर जब उसने रोना शुरू किया, तो थोड़ी देर बाद पड़ोसिन ने उसे खोल दिया!

२

अनुमति की आदतों से माता ऊब चुकी थी। पिता भी अपनी कन्या के गुण देखा करते थे; परन्तु वे भगवद्भक्त आदमी थे। जिस समय कोई ऐसी बात देखते, जिस पर ग़ौर करने से उन्हें किसी प्रकार की मानसिक या शारीरिक असुविधा होती, तो 'हर-हर' 'शिव-शिव' या 'राम-राम' का उच्चारण कर असुविधा के अवसर को टाल देते थे।

परन्तु माता इस परेशानी में थीं कि, लड़की की आदतें किस तरह सुधरें। यह इतनी निडर हो गई है, इसमें डर किस तरह बिठाया जाए? किसी का भी भय नहीं मानती। चाहे कितना ही मार लो, कूट लो, छेद लो; पर इस बेहया के लिए कुछ नहीं! पिट-पिटा कर फिर पहली ही जैसी। हाँ डकराना ख़ूब आ गया है—ज़रा कोई उँगली भी छुआ दे, तो ऐसी डकराएगी कि तमाम मुहल्ला जाग उठे! किसी तरह इन मुहल्ले के बालकों की सोहबत छूटे तो काम चले!

अन्त में एक युक्ति समझ में आई। दूसरे मुहल्ले में एक कन्या-पाठशाला थी। सोचा गया कि वहीं भेजा जाए। चार-पाँच घण्टे तो

वहाँ बैठेगी। यहाँ के बालकों का साथ छूटेगा, तो धीरे-धीरे बुरी आदतें भी छुट जायेंगी। आदतें बुरी हों या अच्छी वह अभ्यास की ही आश्रित रहती हैं। जब उनके पोषण के लिए समुचित भोजन और विस्तार के लिए विस्तृत उर्वर भूमि नहीं मिलती, तो उन्हें मजबूरन भूखों प्राण खोने पड़ते हैं। उनका संस्कार अलक्ष्य रूप में बाद में भी विद्यमान रहता है या नहीं, यह कहना कठिन है। तथापि ऐसा जान पड़ता है कि, अधिक समय के बाद उपयुक्त साधना द्वारा मनुष्य अपने संस्कारों से भी मुक्त हो सकता है। अनुमति बच्ची थी। जितनी ही आसानी से उसके मृदु-प्रकृति एवं कोमल हृदय पर बुरे बालकों की सोहबत से ख़राब आदतों का संस्कार मुद्रित होकर जमने लगा था, उतनी ही आसानी से वह इस समय दूर किया जाकर, उसके स्थान में अच्छी आदतों का संस्कार भी उत्पन्न किया जा सकता था। माता ने युक्ति तो अच्छी सोची थी—कम से कम जो उपाय उसने सोचा था, उसके सिद्धान्त में कोई भूल नहीं थी; अब उपाय चाहे जैसा हो!

मुहल्ले से और भी दो-एक लड़कियाँ उसी मदरसे में पढ़ने जाती थीं। उन्हें ले जाने के लिए गाड़ी आया करती थी। उसी गाड़ी में अनुमति को भी बिठा कर उसकी माता ने एक बड़ी लड़की के साथ मदरसे भेज दिया। उसी रोज़ बड़ी लड़की ने दर्जा 'बे' में उसका दाख़िला करा दिया।

पहले रोज़ अनुमति ने मदरसे जाने में कोई आनाकानी नहीं की। यह पता नहीं कि इस समय उसे अपने मुहल्ले के साथियों का ख़याल आया था या नहीं; पर सम्भव है न भी आया हो! बालकों के सभी

मित्र होते हैं, जिनके साथ गुस्से में उनकी किसी मौक़े पर लड़ाई हो जाती है, दो-एक घण्टे बाद वे भी फिर मित्र हो जाते हैं; जिसके साथ वह खेलते हैं, उसी के साथ उनकी गाढ़ी मित्रता हो जाती है। वास्तव में समवयस्कों के साथ उनका खेल और उनकी मित्रता दोनों बातें पर्याय-वाची हैं। किसी कारण से यदि किसी मित्र से उनका खेल छूट जाता है, तो उसको भूलने में देर नहीं लगती; परन्तु उतनी ही तत्परता से दूसरे खिलाड़ी को, जिसके साथ इस समय उनके बाल-जीवन का क्रीड़ा-सूत्र ग्रथित होता है, वे अपना मित्र बना लेते हैं। पहले परिचय के बाद नयों का वैसा ही अविशेष रूप से स्वागत होता है, जैसा किसी पुराने का होता; परन्तु पुरानों की विस्मृति में कोई अनुदारता नहीं होती और न नयों के स्वागत में कोई आचारोपचार या स्वार्थपटुता! यह सच है कि नये साथियों में बच्चों को पहले कुछ सङ्कोच मालूम होता है; परन्तु यह नहीं कह सकते कि, बड़े आदमियों की तरह आपस में उनकी घनिष्ठता का भी विकास होता है। उनमें शीघ्र ही घनिष्टता उत्पन्न हो जाती है और वह विकसित रूप में ही उत्पन्न होती है। उनका यह अहेतुक मैत्री-भाव उनकी सहज क्रीड़ावृत्ति की ही प्रसूति है।

इसलिए यह माना जा सकता है कि, पहले रोज़ मदरसे जाते समय अनुमति को शायद अपने साथियों का ध्यान न आया हो। अनुमति को बड़ी लड़की ने, दो-एक रोज़ हुए, समझाया था कि मदरसे में बीवी जी—'बीबीजी' अध्यापिका को कहते हैं—बड़े प्यार से सबक़ पढ़ाती हैं, सीना-पिरोना सिखाती हैं, जलसों-वलसों के दिन वहाँ मिठाई बँटती है और लड़कियों को खूब खेलने-कूदने को मिलता है। बालिका ने

समझा था कि, वहाँ नये विनोद की प्राप्ति होगी और माता के हाथ से दिन में आधे दर्जन बार पिटना नहीं पड़ेगा ! जिस समय मदरसे जाने के लिए वह गाड़ी में बैठी उसे किसी ने आवाज़ दी—'अनुमति !' अनुमति ने मुड़ कर देखा कि थोड़ी दूर पर खड़ी हुई उसकी रोज़ की एक साथिन मुग्ध कौतूहल से उसकी ओर देख रही है। अनुमति ने चञ्चल ख़ुशी के साथ उत्तर दिया—"किशन-प्यारी ! आज हम मदरसे जा रहे हैं।"

चार-छः रोज़ तक बालिका बड़ी ख़ुशी-ख़ुशी मदरसे गई। मालूम होता है, वहाँ उसका मन लग गया था। चार-छः रोज़ तक मास्टर-मास्टरनियाँ अपने नये शिक्षार्थी से कठोरता का व्यवहार नहीं करते हैं। इसके बाद वे आजकल के सच्चे शिक्षक हो जाते हैं। शायद बीबीजी भी शुरू-शुरू में अनुमति से मुहब्बत से पेश आईं। उधर उसकी भी अपनी नई सहचरियों से मुलाक़ात हुई। अनुमति आरम्भ के कुछ रोज़ बड़ी ख़ुशी से मदरसे गई !

पर फिर उसका वैसा उत्साह नहीं देखा गया। वह न जाने के लिए बहाने करने लगी। कन्या-विद्यालय में उसे बड़ी भूख लगा करती थी। वहाँ क्या खाती ? दर्जे में बैठे-बैठे उसकी कमर दुखने लगी। एक रोज़ वह अपनी जगह पर बैठी हुई ऊँघ रही थी। बीबीजी ने इस पर उसकी ख़ूब ताड़ना की। कभी मुहल्ले की कोई दूसरी लड़की न जाती, तो अनुमति का यही बहाना काफ़ी हो जाता—"वह भी तो नहीं जा रही है। मैं एक रोज़ नहीं जाऊँगी, तो क्या हो जाएगा ? आज मेरे पेट में दर्द हो रहा है।" धीरे-धीरे ऐसा होने लगा कि, अनुमति को मदरसे जाने

के लिए पिटना पड़ता—खूब पिटना पड़ता। एक रोज़ तो वह आधा घण्टा तक बराबर पिटती रही। पीटते-पीटते माता ने पूछा—"अब बोल, मदरसे जायगी या नहीं?" लड़की चुप रही। वह अपनी असम्मति के समय चुप ही रहती थी। तब माता बोली—"अच्छा दुष्टिन! तू मत जा! आज तुझसे ज़िद ही करा लूँ। देख, जो एक भी गस्सा खाने को दूँ!" यह कहते हुए उसने क्रोध से तड़प कर उसे—खड़ी हुई को धक्का दे दिया। बेचारी पक्के चबूतरे पर धड़ाम से गिर पड़ी और बिलबिला उठी। फिर माता ने रस्सी लाकर उसके हाथ-पैर बाँध दिये और उसे ईंधन की कोठरी में बन्द कर दिया। ज़िद्दिन लड़की दिन भर उसी में पड़ी रही। माता ने उसे 'एक गस्सा तक' न देने के अपने प्रण को अन्त तक बड़ी सफलता के साथ निभाया।

दो-चार रोज़ बाद कोई त्योहार था। अनुमति की माता ने उसको बीबीजी को अपने यहाँ निमन्त्रण दिया और उसके पद के अनुरूप ख़ातिर की। मौक़े पर माता ने अपना अभिलसित प्रसङ्ग छेड़ा। किस भाँति वह अनुमति को दो-दो दिन भूखा रख कर हार गई; कैसी-कैसी उसको घर से निकलने की मनाही की; परन्तु फिर भी उसके छिप कर निकल जाने पर किस प्रकार टाँगें बाँध कर डाल दिया, आदि बातों को कभी अत्यन्त करुणाभरी वाणी में, कभी क्रोध से विकल होकर और कभी साहाय्य-याचना करते हुए, उसने आदि से अन्त तक सब कह डाला! बीबीजी ने सहानुभूति दिखाई और कहा—"अनुमति बड़ी ही नटखट और शरीर है। इसके दर्जे में कई एक और भी घमधूसर लड़कियाँ हैं; पर इसने उन सब को ही मात कर दिया। कोई रोज़ ऐसा नहीं

जाता, जिस दिन यह पिटती न हो। कई बार तो मैंने इसे दिन-दिन भर कोने में खड़ी रक्खा; पर आपका कहना ठीक है कि, मुहल्ले के बालकों की सोहबत से ही इसकी आदतें बिगड़ी हैं। मेरी बात मानें, तो इसे आप पाँच-छः महीने के लिए बोर्डिङ्ग हाउस में भेज दीजिए। वहाँ वह आप ही ठीक हो जाएगी।"

माता ने बीबीजी की इस बढ़िया सलाह के लिए अनेक धन्यवाद दिए; पर लड़की को लगातार कुछ महीने के लिए अपने से अलग रखने के खयाल पर उसका जी भर आता था। तथापि ऐसा करना आवश्यक था। अपनी ममता की अपेक्षा लड़की के सुधार का मूल्य उसने अधिक समझा। अनुमति बोर्डिङ्ग में रहने लगी!

पिता तीसरे-चौथे रोज़ देखने जाते थे। रविवार के दिन माता भी उनके साथ बन्द गाड़ी में बैठ कर जाती। पिता लड़की को बोर्डिङ्ग में नहीं रहने देना चाहते थे। अनुमति की माता से विवाद होने पर वे प्रायः 'हर-हर' 'शिव-शिव' कहने लगते थे; पर उसकी बात मानने पर तैयार नहीं होते थे। माता भी पछताती थी कि लड़की को बोर्डिङ्ग में क्यों भेजा। वहाँ उसे सुख नहीं था। जो माता स्वयं अपनी कन्या पर अत्याचार करने में नहीं चूकती थी, वह दूसरी जगह के उसके कष्ट को देख कर भीतर ही भीतर बहुत दुखित होती थी; पर वह मन ही मन में दुहराया करती थीं कि, मेरी ममता की अपेक्षा इसके सुधार का मूल्य बहुत अधिक है!

अनुमति को बोर्डिङ्ग हाउस में रहते हुए छः महीने हो गए। साथ ही माता-पिता का भी उसे देखने के लिए बराबर जाते रहना थोड़े

समय के बाद कुछ कम होने लगा। यह स्वाभाविक भी था। इसलिए नहीं कि जनक-जननी का बालिका के ऊपर स्नेह कम होने का कोई कारण उत्पन्न हो गया था; बल्कि इसलिए कि पुत्री के पहले कष्ट के बाद उसके अभ्यास के साथ उसकी तीव्रता भी कम होने लगी थी। विवाह के पश्चात् कन्या को बर के साथ विदा करते समय माता-पिता को जितना दुःख होता है, उतना कुछ समय बाद उसके वर्षों तक सुसराल में रहने पर भी नहीं होता। इसका कारण हमारी समझ में अभ्यास ही है, किसी प्रकार का स्नेहदारिद्र्य नहीं!

तीसरे महीने के बाद माता फिर एक मास उपरान्त अनुमति को देखने गई और छठे महीने के अन्त में जब वह पुनः उससे मिली, तो पिछली मुलाक़ात को पौने दो महीने हो चुके थे; परन्तु अनुमति की माता जैसी दृढ़ विचार वाली महिलाएँ भी बहुत कम देखने में आती हैं। इन छः महीनों में उसने उसे एक बार भी घर नहीं बुलाया। न मालूम, अज्ञात रूप से बालिका के ऊपर इसका क्या नैतिक प्रभाव पड़ता। उसको अनुमति वियोग बहुत अखरता था। उसे बोर्डिंग हाउस से बुला लेने और घर पर रखने के लिए कभी-कभी उसका मन बुरी तरह से पीड़ित हो उठता। वह अन्य तमाम बातें भूल कर उसे बुला बैठने का निश्चय कर डालती; परन्तु शीघ्र ही सुमति आकर उनसे कहती—"अनुमति को मत बुलाओ, नहीं तो इतने समय तक अपनी ममता का मूल्य देकर जो कुछ तुमने उसके लिए उपार्जित किया होगा, वह सब नष्ट हो जायगा। वह फिर मुहल्ले के बालकों में खेलेगी और पहली-सी आदतें पकड़ लेगी।" अनुमति के कारण माता का

अपनी मनोवृत्ति के साथ नित्य ही ऐसा द्वन्द्व हुआ करता और अनुमति को घर आना नसीब न होता !

अनुमति के माता-पिता उसे देखने के लिए बोर्डिङ्ग हाउस में आते रहते थे; इसलिए वहाँ के कर्मचारी उसे यथाशक्ति कोई कष्ट नहीं होने देते थे। उन्हें कभी-कभी भेंट के बाद इनाम भी मिल जाता था, तथापि बालिका दुख में थी। घर का-सा आराम हो ही कैसे सकता था? माता एक दिन ममता की प्रेरणा से विकल होकर रोई थी। इन छः महीनों में लड़की दुबली भी हो गई थी। माता बोर्डिङ्ग हाउस की अधिकरणी से प्रति बार विशेष रूप से प्रार्थना किया करती थी कि उनकी अनुमति को किसी प्रकार का कष्ट न होने पाए। इतने पर भी जब वह अनुमति से एकान्त में मिलती, तो उससे मधुर भाषण न करती। उसके साथ ताड़ना के रूखे आदेशों में ही उसकी बातें होतीं।

कन्या-पाठशालाओं में लड़कियों को अकसर सीने-पिरोने का काम भी सिखाया जाता है; अनुमति को भी सिखाया जाता था। फलवशात् अनुमति एक दिन अपनी कोठरी में अकेली बैठी एक गुड़िया सी रही थी। इतने में माता आ पहुँची। बालिका अचानक उसे देख कर घबड़ा-सी गई और गुड़िया को छिपाने लगी। यदि वह ऐसा न करती, तो शायद अधिक बुराई न होती; परन्तु उसकी चेष्टा ने माता की शासन-वृत्ति में मानो कोड़ा-सा लगा दिया। तुरन्त ही उसको सुनना पड़ा—"क्या कर रही थी? गुड़िया सी रही थी। और क्या, लक्ष्मी जी का खेल यहाँ भी बन्द नहीं हुआ। यह नहीं कि, रूमाल बनाये या जुर्राबें, गुलूबन्द बनाना सीखें—गुड़िया बना रही थी! आवें तो तेरी

बीबीजी, तो देख पूछूँ कि क्या मदरसे में गुड़िया बनाना ही सिखाया जाता है ?" इन शासन-वाक्यों के बाद बालिका को उन वाक्यों के परिचारक वृन्द का भी स्वागत करना पड़ा।

परन्तु अनुमति भाग्य की थी बड़ी प्रबल ! जब कभी उसके ऊपर कोई विपत्ति पड़ती थी, तो परमात्मा की दया से शीघ्र ही उससे मुक्ति पाने का भी कोई साधन उपस्थित हो जाता था। एक दिन जब घर पर माता ने उसको बाँध कर डाल दिया था, तो पड़ोसिन की कृपा से वह खुल गई थी। इस बार भी बोर्डिङ्ग हाउस के जेलख़ाने से छूटने की एक सूरत पैदा हो गई।

अनुमति के बड़े मामा किसी मुक़दमे के लिए वकील करने को आए थे और अपने बहनोई के यहाँ ही ठहरे थे। उनके साथ अनुमति की नानी भी इसलिए चली आई थी कि, उसने बहुत दिनों से अपनी बेटी तथा धेवती-धेवतों को नहीं देखा था। यहाँ आ कर जब उसने देखा कि अनुमति बोर्डिङ्ग हाउस में रहती है, तो उसे अपने निवास-काल तक के लिए घर पर बुला लिया। अनुमति की माता की एक न चली। कन्या के घर पर आने पर उन्हें उसके कष्टमय जीवन का अनुभव हुआ। इन दो रोज़ के लिए भी माता ने उसके साथ अकठोर व्यवहार नहीं किया; बल्कि कन्या की बुराइयाँ अपनी माता को दिखाने के लिए उसके ज़रा-ज़रा से अपराधों को अतिरञ्जित रूप में परिणत करके वह उसे उनकी नई मात्रा के अनुसार ही दण्ड देने लगी। वृद्धा नानी माता के इस अत्याचार को देख बालिका का पक्ष लेकर दिन में कई-कई बार अपनी बेटी से झगड़ पड़ती और उसको उत्तर

मिलता—"बस इसी तरह से इसकी आदत ख़राब हुई है। एक डाँटे और दूसरा हिमायत ले, तभी बालक ढीठ होने लगे हैं! ऐसे ही इसके बाप हिमायत लेने लगते थे, सो उसका फल तू देख ले। मैंने जो इसे बोर्डिङ्ग में न भेज दिया होता, तो न जाने क्या-क्या लच्छन इसने अब तक सीख लिए होते! वहाँ बोर्डिङ्ग में ही अभी कौन-सी सुधर गई है?"

इसके बाद दोपहरी में, जब भोजन आदि से छुट्टी मिली, तो उसने अनुमति की नानी को उसके तमाम 'लच्छन' सुना डाले—बोर्डिङ्ग हाउस में रह कर भी जो बातें सीखनी चाहिये, उन्हें नहीं सीखती; खिलाड़ियों के साथ बैठ-बैठ के वहाँ भी खेल ही करती रहती है; बड़ी लड़कियों की देखा-देखी किताबों की तसवीरों में रङ्ग भरना सीख लिया है; मदरसे में सीना-पिरोना सीख कर आती है, तो अपना कर्त्तव्य गुड़िया-गुड्डे बनाने में खर्च करती है। इसी प्रकार उसने अपने अन्य तमाम अभियोगों का भी वर्णन कर डाला। अपनी बेटी के इस कन्याद्वेष पर—कन्याद्वेष ही वह उनकी समझ में था—बूढ़ी नानी को दुख हुआ। उसने अनुमति की माता का मत बदलने का प्रयत्न किया; परन्तु वह कृतकार्य नहीं हुई। उसकी समझ में तसवीरों में रङ्ग भरना और गुड़िया सीना इतना बुरा नहीं था; प्रत्युत वह कुछ न कुछ उपयोगी ही था।

अगले रोज़ नानी ने बालिका का भाग्य सुधारने के लिए बालिका ही की सहायता ली। वह एकान्त में उसे अपने पास बुला समझाने लगी—'बेटी, माँ-बाप का कहना मानना चाहिए। तू अपनी माँ का कहना माने, तो वह तुझे इतना मारे! पढ़ने लिखने में मन लगा, घर

का काम काज सीख, सीना-पिरोना सीख, न कि यह कि मुहल्ले के दङ्गली बालकों के साथ खेलने लगे और उन्हीं की सी आदतें पकड़ने लगे। देख, तेरा ब्याह होगा, तो जो तू घर का काम काम-काज करना नहीं जानेगी, तो तेरी सास तुझसे लड़ा करेगी। तुझे सीने-पिरोहने का काम और पढ़ना-लिखना नहीं आएगा, तो दूल्हा तुझसे नाराज़ रहेगा। इससे बेटी अच्छी बातें सीखा कर।"

बालिका ने अपनी नानी के उपदेश सुने। उसकी सहानुभूति की भाषा से उत्साहित होकर उसने भी विश्वास में उससे अपनी शिकायतें कीं। सब से बड़ी शिकायत यह थी कि, माता ने उसे बोर्डिङ्ग हाउस में रहने को भेज दिया था। वहाँ उसका मन नहीं लगता था। दस पन्द्रह तो लड़कियाँ ही थीं। उनमें भी उसकी उम्र की कोई नहीं थी। नानी ने जब कहा कि, बोर्डिंग हाउस में तो माता की मार का डर नहीं रहता; तो उसने तरेर कर उत्तर दिया—"हाँ-आ नानी! तुम भी ऐसे ही कहने लगीं। जब कभी भी वह जाती है, तो ग़ुस्से ही में भरी हुई जाती है और बीबीजी को सिखाया करती है कि मुरव्वत न करना, ख़ूब मारा करो। वहाँ नौकर-चाकरानी दिक़ करती हैं, कई-कई दिन तक पानी नहीं लाकर देतीं! खाने को ऐसा ख़राब मिलता है और वह भी कभी-कभी बड़ी देर में! एक दिन मैंने बऊ (अपनी माता को वह 'बऊ' कहती थी)—से कहा तो वह मुझी पर नाराज़ होके कहने लगीं कि यहाँ से निकल भागने का बहाना करेगी तो हड्डी-पसली तोड़ दूँगी। फि जाने उसने बोर्डिंग वाली बीबीजी से क्या कहा होगा सो बीबीजी ने अगले रोज़ आकर मुझे ख़ूब मारा और कहा कि फिर झूठी-सच्ची

शिकायतें लगाएगी, तो चमड़ी उधेड़ डालूँगी। मैं तो अब बोर्डिङ्ग जाऊँगी नहीं; चाहे मुझे कोई मार ही क्यों न डाले!"

नानी ने अनुमति को गोद में खींचते हुए कहा—"अच्छा तू बोर्डिङ्ग हाउस मत जाना; पर तू मेरे साथ तो चलेगी?"

"हाँ तुम्हारे साथ तो चलूँगी; पर बऊ कैसे जाने देगी?"

नानी ने अपनी बेटी को अनुमति का दुःख सुनाया, पर माता ने भर्त्सना की आवाज में जवाब दे दिया कि अनुमति बड़ी बहानेबाज लड़की है। नानी इतनी कठोर और अविश्वासिनी नहीं थी; उसने कहा—"खैर, अब अनुमति बोर्डिङ्ग हाउस नहीं जायगी। तुझे बालक रखने ही नहीं आते। मेरे पास जो यह एक साल भी रहे, तो इसी लड़की को मैं दूसरी ही कर दूँ।"

माता ने ताने के साथ कहा—"जा, ले जा फिर अपने साथ तुझे भी मालूम हो जायगा कि कैसी है यह लड़की!"

परन्तु जब नानी ने अनुमति को अपने साथ ले जाने के लिये अपनी वास्तविक इच्छा प्रकट की; तो माता आनाकानी करने लगी। दो रोज की झक-झक के बाद अनुमति का नानी के साथ जाना निश्चित हो गया। उस समय तक लड़की के मामा ने भी एक वकील से ठीक-ठाक कर लिया था।

अनुमति, मामा और नानी के साथ ननिहाल चली गई!

४

अनुमति की माता का जब विवाह नहीं हुआ था, तो वह भी अनुमति ही की तरह अपने मुहल्ले के बालकों के साथ

खेला करती थी। विवाह हो जाने के बाद भी जब कभी वह अपनी माता के यहाँ जाती, तो पुराने साथियों से मुलाक़ात करती। यद्यपि अब उनमें बचपन के खेल नहीं होते थे, तथापि उन खेलों की स्मृति अब भी उसको उतना ही सुख देती थी; जितना कि, स्वयं उन खेलों से प्राप्त हुआ करता था। अपनी बाल-क्रीड़ाओं की स्मृति हमेशा बड़ी मीठी होती है तथा ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उनकी मिठास भी अधिक होती जाती है!

इसके अतिरिक्त, नए-नए विवाह के बाद जब सहेलियाँ आपस में मिलतीं, तो उनमें कोमल दाम्पत्य पाश की ग्रन्थियों को समझने की चेष्टाएँ होतीं और उन चेष्टाओं का अपने-अपने प्रणयानुभवों तथा नैश-रहस्यों द्वारा अनुमोदन किया जाता। ऐसे अवसरों पर एक दूसरी से छेड़-छाड़ करने का व्यापार ज़ोर-शोर से चलता। वह पूछती—"अभी कितने महीने हैं।" तो दूसरी उसका समर्थन करती और कहती—"हाँ री! सच-सच बता! अभी साल भर रह कर आई है।" इतने में तीसरी झट कह उठती—"यह इस तरह थोड़े ही बता-वेगी। तुम मेरा कहना मानो, इसका पेट देखो।" जब तीन-चार मिल कर एक के विरुद्ध हो जातीं; तो उसका भाग्य पलटता और आक्रमणों की लहर किसी दूसरी की ओर प्रेरित होती। उन्हीं में से कोई एक दूसरी को लक्ष्य करके बोल उठती—और इससे तो पूछो, जो इतनी बढ़-बढ़ के बातें मार

रही है। अभी पिछली बार जीजा जी आये थे, तो अपने आप ही पानी देने जाती, अपने आप ही पैर दबाती और अपने आप ही रोटी को बुलाने जाती! इतनी भी शर्म नहीं की कि माँ का घर है।" उसके इस सफेद झूठ पर वह पहले तो अप्रतिभ हो जाती। फिर कुछ कहने का प्रयत्न करती। जो सब में चतुर होती, वह अपने ऊपर किसी की भी आँच नहीं आने देती और सब को झेंपा देती!

धीरे-धीरे ऐसा भी अवसर आया कि अनुमति की माता का पेट भारी हुआ। इस समय उसके विवाह को चार-पाँच वर्ष हो चुके थे। उसने इसकी सूचना अपनी अति-प्रिय सहेली को भेजी। पुराने साथियों में एक इसी से अब उसकी घनिष्टता रह गई थी और उससे उसका पत्र व्यवहार होता था।

अनुमित की नानी के मकान के पास एक और सज्जन रहते थे, जिनका पुत्र बाल्य-काल में अनुमति की माता के साथ खेला था। जब अनुमति की माता आठ-नौ वर्ष की हुई, तो उनकी यह मित्रता अपने मित्र से हट कर उसकी नवागता पत्नी के साथ स्थापित हुई। मित्र का छोटी उम्र में ही विवाह कर दिया गया था और उसकी नव-वधू आयु में अनुमति की माता के ही बराबर थी। इसी से दोनों के बीच में मित्रता स्थापित होने में देर न लगी और फिर बाद में यही मित्रता सब से अधिक स्थायी सिद्ध हुई। अपने प्रथम गर्भ-काल में अनुमति की माता ने इसी को पत्र लिखा था और उससे कुछ

समयोचित बातें पूछी थीं। अनुमति की माता की यह मित्र उनसे एक साल पहिले ही एक कन्या की माता बन चुकी थी!

अनुमति की माता को पहले-पहल पुत्र और फिर दो बरस बाद अनुमति का जन्म हुआ। इस कन्या का नाम उसकी माता ने अपने मित्र की कन्या के नाम के अनुसार ही रक्खा। वह सुमति थी, यह अनुमति हुई!

तब से इन दस-ग्यारह वर्षों के भीतर इन दो रमणी-मित्रों के अन्य कई बालक पैदा हुए। उनका पत्र-व्यवहार भी, यद्यपि पहले से बहुत कम हो गया था, इन दस वर्षों में बराबर जारी रहा। इस बीच में अनुमति की माता कई बार अपने मायके गई थी और वहाँ हर बार सुमति की माता से उनकी मुलाक़ात हुई थी। पिछली बार तीन-चार वर्ष पहले, जब वह मायके गई और सुमति की माता से मिली, तो सुमति की आदतों को देख कर उसे बड़ा सन्तोष हुआ था। सुमति सीना-पिरोहना जानती थी, भोजन की अनेक चीज़ें बना लेती थी और कढ़ाई-बुनाई का काम सीख रही थी। उसने हिन्दी की दो-तीन किताबें भी पढ़ ली थीं और वह अपनी माता के हर एक काम में उसे सहायता देती थी। सुमति को देख कर अनुमति की माता ने स्वभावतः ही उसका अपनी कन्या के साथ मिलान किया और उस मिलान का परिणाम उनके लिए सुखद नहीं हुआ! तभी से उसने अनुमति को पढ़ाने-लिखाने

तथा अन्य काम सिखाने का सङ्कल्प किया ! परन्तु अनुमति की आदतें पहले ही बहुत कुछ खराब हो चुकी थीं और माता के इस नये इरादे से उसके भाग्याकाश में जोर-जोर से गरजने वाले बादल घिर आए !

❀ ❀ ❀

जब अनुमति की नानी उसे अपने घर लिवा लायी, तो उसकी माता को इस नई परिस्थिति के साथ धीरे-धीरे स-मझौता कर लेना पड़ा। उसने सोचा—"अनुमति वहाँ चली गई, तो यह भी एक तरह से अच्छा ही हुआ। सब से बड़ी बात तो यह है कि वहाँ दङ्गली बालकों की कुसङ्गत नहीं मिल सकती। जब कुसङ्गत नहीं मिलेगी, तो कुछ अच्छी बातें सीखेगी ही; पर अम्मा का एक डर है। वह धमकाना और तङ्ग करना तो जानती ही नहीं। कहीं लाड़-लाड़ में उसे और ढीठ तो न बना देगी। इस विचार से उसे कुछ चिन्ता सी हो गई, किन्तु थोड़ी देर बाद उसने फिर सोचा—"पर गौरी उसे सुधार लेगी। वह सुमति को किस तरह रखती है ! सुमति के साथ रहने से अनुमति को भी सीना-पिरोना, लिखना-पढ़ना आ जायगा। गौरी उसे भी अपनी बेटी ही की तरह समझेगी। सुमति उससे दो-तीन बरस बड़ी है। उसने सब कुछ सीख लिया है। वह अनुमति को हर-एक बात सिखा देगी। बालक जितनी जल्दी अपने साथियों से बातें सीख सकता है, उतनी जल्दी मास्टरों से नहीं।" आज यह पहला अवसर था कि

अनुमति की माता के हृदय में शिक्षकों और शैद्यों के इस पार्थक्य का विचार पैदा हुआ; परन्तु इस पार्थक्य का कारण क्या है, यह सोचने की भावना उनके मन में उत्पन्न नहीं हुई !

अनुमति को नानी के यहाँ रहते हुए एक वर्ष हो चला। समय की दीर्घता के साथ माता भी अपनी लाड़ली को देखने के लिए विकल होने लगी। साल भर के भीतर कई बार उन्होंने अनुमति के पिता से कहा कि मुझे कुछ दिनों को मेरी माँ के यहाँ पहुँचा दो; परन्तु ऐसा कभी मौक़ा ही न आया कि उसकी यह प्रार्थना पूरी की जाती। अनुमति के पिता को छुट्टियों के दिनों में भी शहर से बाहर जाने के लिए अपने हाकिम से आज्ञा लेने की जरूरत पड़ती थी और संयोग से जब दो रोज़ की एक छुट्टी होने पर उन्हें यह आज्ञा मिल सकी, तो उनकी पत्नी अपने घर से बाहर नहीं निकल सकती थीं—किसी को छू भी नहीं सकती थीं। ख़ैर, उन्होंने पति से कहा—"जाकर तुम्हीं देख आओ, मैं क्या करूँ ? तुम्हें छुट्टी भी मिली तो ऐसे वक़्त में !"

कन्या के पिता अपनी सुसराल से सन्तुष्ट होकर लौटे। अनुमति ख़ुश थी और पढ़ने-लिखने लगी थी ; उसने स्वयं आकर पिता को अपनी किताब पढ़ कर सुनाई थी और शाम को उनके लिए पूड़ियाँ बनाई थीं। माता यह बातें सुन कर सुता-प्रेम से विह्वल हो गई और अपनी लड़की को देखने के

लिए और भी विकल होने लगी। उसने कहा—"यह जरूर सुमति की अच्छी सोहबत का फल है। अब मेरी उसे बुलाने की हजार तबियत होगी, तो भी अभी साल-छ: महीने उसे वहीं रहने दूँगी; पर तुम मुझे दूसरे-तीसरे महीने उसे दिखा जरूर लाया करो। अब मेरा जी उसे देखने को और भी तड़फड़ाने लगा है!"

छ: महीने और बीत गए; परन्तु अनुमति की माता अपनी बेटी को देखने के लिए न जा सकी। एक माता के हृदय के लिए यह बड़ी कठोर परीक्षा थी! वह अनुमति के सम्बन्ध में अपनी माता और गौरी दोनों ही को लिखा करती। उसकी माता सब बातों का उत्तर टाल कर केवल यह लिखवा देती कि अनुमति अच्छी है और मन लगा कर पढ़ती-लिखती है। अनुमति की माता ऐसे उत्तर को पढ़ कर प्राय: झुँझला जाती; परन्तु इधर उसका पत्र लिखना भी बढ़ गया था। स्वयं न लिख सकती, तो अपने पुत्र से ही लिखवा देती। अपनी आखिरी दो-एक चिट्ठियों में अनुमति का भाई नानी को बार-बार यह लिख रहा था—"बाबू जी को छुट्टी न मिल सकने के कारण बऊ का आना नहीं हो पाता। एक-दो बार छुट्टी मिली तो और-और विघ्न पैदा हो गए। अब कृपा कर आप ही दो-चार रोज को अनुमति को लेकर यहाँ आ जाइए, फिर चाहे उसे अपने साथ ही वापिस लिवा जाइएगा।"

अन्त में, आखिरी चिट्ठी का जवाब आया—"जो तुम्हारे बाबूजी भेजें, तो तुम और तुम्हारी बऊ को लिवाने के लिए मैं तुम्हारे मामा को भेज दूँ। गौरी की बहिन आजकल यहीं रहती है। उसके यहाँ आज से छठे रोज़ एक ब्याह है। तुम्हारी बऊ उसमें शामिल भी हो जाएगी। गौरी और उसकी बहिन ने बहुत-बहुत कहा है कि, तुम दोनों को आने के लिए लिख दूँ। शायद गौरी ने भी तुम्हारी माता के पास चिट्ठी भेजी हो।" इस पत्र के साथ ही साथ गौरी की चिट्ठी डाकिए ने दी थी।

चौथे रोज़ अनुमति के मामा अपनी बहिन को लिवाने के लिए आ गए!

५

अनुमति की माता अपने भाई साथ मायके के लिए रवाना हुई! अनुमति का भाई नहीं जा सका—उसकी परीक्षा हो रही थी।

आज माता के हृदय में एक विचित्र उल्लास था—एक अजीब गुदगुदी-सी उठ रही थी। एक लम्बे-चौड़े अर्से के बाद वह आज अपनी प्यारी कन्या को देखने जा रही थी—उस कन्या को जो अब लिखने-पढ़ने लगी थी, जो पूड़ियाँ बना लेती थी और जिसने सीना पिरोना भी सीख लिया था। आज शायद उसके हृदय में यह शङ्का नहीं उठ रही थी कि विवाह हो जाने के बाद लड़की की सास उसके फूहड़पन का तमाम

दोष उसकी माँ के सिर ही मढ़ देगी। इस समय उसका हृदय अपनी कन्या के सम्बन्ध में उज्ज्वल से उज्ज्वल कल्पनाओं से परिपूर्ण था। बढ़िया से बढ़िया कल्पना करने की जितनी सामर्थ्य इसकी कविता में थी, वह सब उनकी सहायक हुई। दूसरे समय अनुमति के सम्बन्ध में जिन बातों को सुन कर वह उन लोगों की अतिशयोक्ति समझ ज़रा 'हूँ-हूँ' करके उपेक्षा के साथ हँस देती थीं, वह बड़ी-बड़ी और असम्भव-नीय बातें इस समय उनकी विचित्र अनुमति में साधारण बातों की तरह दिखाई देने लगीं। इस समय उनमें कोई बाहुल्य न था। मनुष्य के हृदय है और उसमें भाव रहते हैं। कठोर से कठोर और कोमल से कोमल भावों के बीज गुप्त निधि की भाँति उसकी भीतरी तहों में छिपे पड़े रहते हैं। इन्हीं भावों की कार्यशीलता के समय मनुष्य कवि बनता है। कविता मनुष्यता का स्वाभाविक अङ्ग है!

जब अपनी ऊँची से ऊँची कल्पना द्वारा भी अनुमति की माता को सन्तोष न हो सका—फिर भी उनके मन में एक अस्फुट विकलता सी बनी रही, मानो अभी भी कुछ बाक़ी रह गया है! कन्या की सदुपलब्धियों की अभी भी पूरी कल्पना नहीं हो सकी, तो उसने अपने भाई की शरण ली। ड्योढ़े दर्जे के लम्बे डब्बे में केवल दो-चार आदमी ही और थे, जो भाई-बहन से दूर बैठे हुए थे। पिछले दो-एक स्टेशनों पर पानी आदि के लिए पूछे जाने पर अनुमति की माता ने जिस शून्य

मनस्कता से संक्षेप में उत्तर दे डाला था उससे उसके भाई ने अनुमान किया था कि, शायद बहिन को नींद आ रही है। यह सोच कर वह भी एक ओर को लेट गया था। अब सहसा उसके द्वारा सम्बोधित किये जाने पर उसने आश्चर्य से कहा "अरे, जीजी! जाग रही है? मैं तो समझ रहा था तू सो गई है।"

"नहीं सोई नहीं थी। अनुमति ने अब तक के किताबें पढ़ ली हैं?"

अनुमति के मामा ने इस प्रश्न का उत्तर उसे एक रोज़ पहले उनके घर पर भी दिया था। उसने कहा—"तुझे कल बताया तो था। उसने अब तीसरी किताब खतम करके चौथी शुरू की है।"

इस प्रकार वह बहुत देर तक और भी कितनी बातें अपने भाई से पूछती रही। बात-बीच में कभी-कभी गौरी, उसकी लड़की और उसकी बहिन आदि के बारे में भी पूछा। गौरी के यहाँ किसका ब्याह है, यह पूछने पर भाई ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। थोड़ी देर बाद उसे भी कुछ-कुछ नींद सी आ गई। स्वप्न देखे तो वे भी अपने मायके के सम्बन्ध में ही!

यथा-समय भाई-बहिन घर पहुँचे। घोड़ा गाड़ी ज्यों-ज्यों मकान के समीप पहुँचती जाती थी, त्यों-त्यों अनुमति की माँ की आतुरता बढ़ती जाती थी। इस समय एक-एक मिनट

की प्रतीक्षा उनको भारी मालूम होती थी। बड़ी उत्कण्ठा के साथ बहुत काल से लालित की गई अपनी आशा के पूर्ण होने का समय जब निकटतम आ पहुँचता है, तो हमारी बेचैनी भी अपनी अन्तिम सीमा को पहुँच जाती है। कॉलिज के विद्यार्थी छुट्टियाँ होने पर जब घर जाने लगते हैं तो रास्ते भर वे सो कर या आपस में ताश खेल कर समय काट देते हैं, पर जब घर पहुँचने के लिए दो-एक ही स्टेशनों की कसर रह जाती है, एक-एक क्षण उनको असह्य हो उठता है।

मकान में पदार्पण करते ही उसकी माता ने उसका स्वागत किया। स्त्रियों की प्रथा के अनुसार माँ-बेटी मिल कर रोईं। मिल चुकने पर अनुमति की माता ने अपनी कन्या के बारे में पूछा। उसने आश्चर्य प्रगट किया कि अनुमति मुझसे मिलने क्यों नहीं आई?

लड़की की नानी ने इसका उत्तर दिया—"मालूम होता है लड़की के लिये कोई बड़ी नियामत लाई है, पर अभी उसे देख पाएगी, तो पकड़ के मारने-कूटने लगेगी।"

"हाँ-हाँ! और क्या, मेरा और काम ही क्या है?"

अनुमति उस समय गौरी की बहिन के यहाँ गई हुई थी। उसकी माता ने जब उसे बुलवाने के लिए कहा, तो नानी ने उत्तर दिया—"कुछ खाना-वाना खा ले। फिर चल, तू भी वहीं चली जाना। आज विदा है। इस लड़की ने ब्याह में बड़ा काम कराया है।"

भीतर ही भीतर प्रसन्न होती हुई; पर बाहर से आश्चर्य का भाव प्रकट करके अनुमति की माता ने कहा—"तू भी गज़ब करती है, अम्माँ? अनुमति और भला काम कराएगी। उसने कोई काम बिगाड़ा न हो; तो ही बहुत समझूँगी।"

इस पर नानी ने उनको ताने दिये। फिर अनुमति ने ब्याह में क्या-क्या काम करवाये थे, इसकी उसने गणना की। अनुमति ने साड़ियों पर बेलें लगाई थीं, सादी धोतियों पर कढ़ाई का काम किया था, कई एक छोटे-छोटे कपड़े सिये थे और उसने और सुमति ने मिल कर वर को भेंट में देने के लिए कई छोटी-छोटी किताबों का चुनाव किया था और उन पर दोनों बालिकाओं ने अपने-अपने हाथ से समर्पण-पत्र लिखे थे।

नानी इस तमाम गुणावली को एक ही साँस में वर्णन कर गई और माता ने भी साँस रोक कर उसे एक बार में सुन लिया। उसके हृदय में सुख और सन्तोष की अद्भुत लहरें उठने लगीं; परन्तु आत्मप्रतारणा के लिए वह इन बातों पर अपने अन्तरतम में विश्वास करती हुई भी सहसा उन पर विश्वास न कर बैठने की चेष्टा कर रही थी। अपनी माता की अन्तिम बात समाप्त होते न होते उसने कहा—"ओहो! यहाँ आकर तो वह एक दम से ही बदल गई, पर इतनी बात ज़रूर है कि सुमति के साथ रहने से वह कुछ न कुछ ज़रूर सुधर गई होगी।"

"तू यक़ीन न कर! तुझे तो अपनी लड़की से दुश्मनी है न! अरी, तुझे मालूम भी है, कुँवर-कलेऊ के दिन दुल्हे और उसके साथियों के लिए उसी ने पूड़ियाँ बनाई थीं।

"पूड़ियाँ या पत्थर!"

"न सही। जब अपनी आँखों से सब बातें देख लेगी, तब तो यक़ीन होगा? और यह जो तू खा रही है, यह किसी और का बनाया हुआ है क्या? सुबह अनुमति ही तो बना के रख गई थी।"

इधर अनुमति की माता के आने की खबर गौरी के पास भी पहुँच गई थी। गौरी इस समय अपनी बहिन के ही यहाँ थी। अनुमति ने भी यह खबर सुनी। वह पहले कई रोज से तो अपनी माता का खुशी-खुशी इन्तजार कर रही थी; पर आज सुबह से उसके मन में भय का एक अज्ञात-सा भाव पैदा होने लगा था, जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। इसलिए जब गौरी और उसकी बहिन अनुमति की माता को लिवाने के लिए घर से चली, तो अनुमति उनके बार-बार कहने पर भी उनके साथ न आई। गौरी और गौरी की बहिन ने आकर अनुमति की माता से 'राम-राम' की।

गौरी की बहिन का परिचय कराया गया। अनुमति की माता को अब एक बात याद आ गई। उसने पूछा—"ब्याह किसका है?"

गौरी बोल उठी—"लड़की इसकी एक दूर की रिश्तेदार है। अब तुम जल्दी चलो। बिदा का व़क्त हो आया है।"

"इस व़क्त तुम दोनों जनी कैसे चली आई? काम-काज की भीड़ में तुम्हें फ़ुरसत कैसे मिल गई?"

"अजी तुम्हीं को बुलाने आई हैं। इतने दिनों से तुम्हारा इन्तज़ार हो रहा था तुमने जवाब ही इतने दिनों में दिया। इस वक़्त बिदा में भी न आतीं, तो बस! इसी से काम छोड़ कर तुम्हें बुलाने आना पड़ा। अब उठो जल्दी करो!"

अनुमति की माता और नानी गौरी और उसकी बहिन के साथ गईं। बहिन के मकान के दरवाजे पर एक बन्धनवार लटक रही थी। मकान के भीतर पहुँच कर अनुमति की माता ने देखा कि विवाह के अवसर की कोई भी बात वहाँ मौजूद नहीं है। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"ब्याह किसी और मकान में हुआ है क्या? मण्डप-वण्डप कहाँ बनाया है? ढोलक तो कहीं पास ही में बज रही है!"

गौरी की बहिन ने उत्तर दिया—"मण्डप दूसरे आँगन में है। वहीं ब्याह का सब काम हुआ था। वहाँ ढोलक भी बज रही है, दो-एक तियलें ले चलने को रह गई हैं, उन्हें ज़रा ले लूँ; फिर चलेंगे।"

यह कहते-कहते गौरी की बहिन भीतर चली गई और एक छोटा-सा सन्दूक़ उठा लाई। उसे खोल कर कपड़े निकालते-निकालते वह कह उठी—"देखो, इस साड़ी पर सुमति ने काम

किया है।" फिर दूसरा कपड़ा निकाला और बोली—"और देखो यह तुम्हारी अनुमति का हुनर है।" इसी प्रकार उसने चार-पाँच कपड़े निकाल कर दिखाए, जिनमें कोई सुमति का और कोई अनुमति का 'हुनर' था। अनुमति की माता यह सब देख कर भीतर ही भीतर बड़ी हर्षित हुई और बोली—'तुम लोगों ने तो लड़की को एक दम बदल ही डाला। मैं समझे भी थी कि सुमति और गौरी के पास रहने से वह बहुत कुछ सीख जाएगी।"

जब कपड़े लेकर गौरी की बहिन चलने को हुई तो नानी ने कहा—"और वह किताबें भी ले ली हैं, जो लड़कियों ने दूल्हे की भेंट के लिए पसन्द की थीं ?"

"हाँ, उन्हें तो भूली ही जा रही थी।"—यह कह कर गौरी की बहिन भीतर जा कर किताबें भी ले आई। छोटी-छोटी बालकों की किताबें थीं। अनुमति की माता ने उन्हें देखा और पन्ना खोल कर समर्पण-पत्र पढ़ा तो चकित रह गई। कैसे मोती जैसे अक्षर थे। ऐसे हरूफ़ तो वह स्वयं भी नहीं बना सकती थी। वह मुग्ध हो गई! उसने कहा—"अनुमति की तो यहाँ आकर काया-पलट ही हो गई। वह है कहाँ ? मरी मुझे लिवाने भी न आई!"

गौरी बोली—"आती क्या! तुम से ऐसी डरती है, जैसे बिल्ली से चुहिया! जब से तुम्हारा आना सुना है; वह एक दम से सहम सी गई है। दूसरी तरफ़ ढोलक बजा रही होगी।"

दो दालान और एक कोठा पार करके गौरी प्रभृति दूसरे आँगन में पहुँचीं। वहाँ का ढङ्ग देख कर अनुमति की माता बोली—"ऐं! यहाँ कैसा ब्याह हुआ था! क्या गुड़िए-गुड्डों का ब्याह रचाया था?"

"हाँ, गुड़िए-गुड्डों का ही तो, तुम क्या समझी थीं? कल बरात चढ़ी थी; आज बिदा है। सुमति का गुड्डा और अनुमति की गुड़िया!"

अनुमति की माता के सामने मानो एक इन्द्रजाल सा हो रहा था। आँगन में एक बहुत छोटा-सा मण्डप बना हुआ था। बर-बधू के बैठने के लिए एक छोटा खटोला बिछ रहा था, जिसके ऊपर सुन्दर काम से सुसज्जित एक साफ़ चादर बिछी हुई थी। एक फ़ुट के वर महाशय खटोले के ऊपर दार्शनिक की भाँति चुपचाप और निश्चेष्ट; परन्तु बने-ठने बैठे थे। उनके चारों तरफ़ कुछ थालियों में बिदा के समय का सामान रक्खा था, बधू के आने का शायद इन्तज़ार था। भीतर ढोलक बज रही थी।

इतने में सुमति दौड़ कर आई और अनुमति की माता का हाथ पकड़ कर बोली—"मौसी! हमारे गुड्डे का ब्याह हो रहा है। चलो, तुम्हें उसका तिलक करना होगा। मौसी! बताओ हमारा गुड्डा कैसा बना है?"

अनुमति की माता ने गुड्डे की ख़ूब तारीफ़ की। वह एक विचित्र सुखदायी विस्मय के साथ इधर-उधर देख रही थी।

उसने प्यार के साथ सुमति से कहा—"और गुड़िया भी तो दिखा। बहू को लाकर अब पलङ्ग पर बिठाओ। अनुमति कहाँ है ?"

सुमति अनुमति को पुकारती-पुकारती दौड़ गई—"अनुमति ! अरी ओ अनुमति ! अपनी गुड़िया को ला !! विदा को देर हो रही है। देख, तुझे मौसी बुला रही हैं !" इधर अनुमति की माता ने गौरी और उसकी बहिन की ओर देखते हुए कहा—"यह तो तुमने ख़ूब स्वाँग रचाया। मैं घर से रास्ते भर सोचती आ रही थी कि, जाने किसका ब्याह है। सोच रही थी—"ख़ूब धूमधाम होगी, ख़ूब माल-चाल खाने को मिलेंगे। इसी लड़कियों के खिलवाड़ के लिए मुझे बुलाया था ?"

नानी ने ताने के साथ कहा—"लड़कियों का खिलवाड़ ही सूझता है। यह नहीं मालूम कि, इस ब्याह की साल भर से तैयारी हो रही थी। इसकी उमङ्ग में दोनों लड़कियाँ दिन-दिन और रात-रात भर बैठ के सिया करती थीं। खिलवाड़ कहती है, तो तू बना तो ले ऐसे गुड्डे और गुड़ियाँ !"

गौरी बोली—"यह गुड़िया की ही करामात है कि, सुमति और अनुमति ने यह सब काम इतनी जल्दी सीख लिए। एक रोज़ लड़कियों ने कहा था कि, हम गुड़िया-गुड्डे का ब्याह करेंगे। मैंने जवाब दिया कि, करना तो; पर ख़ूब धूम से करना—मुहल्ले के सब बालकों की जौनार करना, तियल-बियल रखना, बाजा बजवाना। दोनों जनी इस बात से बड़ी ख़ुश हुईं। तब मैंने फिर कहा कि, जल्दी-जल्दी ब्याह का कुछ सामान तैयार कर लो, कुछ तियलें बना लो और पूड़ी-कचौड़ी बनाना

सीख लो, क्योंकि सब काम तुम्हें अपने ही हाथ से करने पड़ेंगे। तब से ये दोनों लड़कियां भी ऐसी साथिन बनीं कि, हर वक्त, आपस में बैठी कुछ न कुछ करती ही रहतीं।

अनुमति की माता ने आश्चर्य से कहा,—"ओहो, गुड़िया की करामात बड़ी ज़बरदस्त निकली! अनुमति कहाँ बैठी है? दिखाई ही नहीं देती!!"

इतने में सुमति आई और बोली—"अनुमति को तमाम घर में ढूँढ़ लिया; कहीं मिली ही नहीं! जाने कहाँ गई?"

इस बात से सब को बड़ा आश्चर्य हुआ। पहले तो सुमति को बेवक़ूफ़ कह कर उस पर किसी ने यक़ीन नहीं किया; पर जब उसने पुनः यही कहा कि, मैं घर में सब जगह ढूँढ़ आई, तो वास्तव में चिन्ता हुई। फिर एक-एक कोठा, एक-एक कोठे का एक-एक कोना देखा गया, चारपाइयों और पलङ्गों पर के कपड़े उठा कर देखे गए कि, कहीं उनमें न छिप रही हो तथा और जहाँ कहीं भी उसके छिपे होने का सन्देह किया जा सकता था, उन सब जगह उसकी तलाश की गई; परन्तु पता कहीं भी न लगा! सब की चिन्ता विशेष रूप से बढ़ गई!!

सब से अधिक परेशानी इस समय नानी को थी। उसने सुमति को भेज कर उसके घर तलाश करवाया। एक और बालक को अपने यहाँ भेज दिया। बाद में उसके लौटने में देर होने पर वह स्वयं अपने घर गई। अनुमति न गौरी के यहाँ मिली और न अपनी नानी के यहाँ!

सहसा गौरी को ध्यान आया कि, छत पर नहीं देखा है। छत पर

कोई मकान नहीं था, इसी से किसी को अब तक वहाँ का ख़्याल नहीं हुआ था। सब जगह से निराश हो जाने पर अब छत का ध्यान आया। निराशा के सुदूर सीमा को पहुँच जाने पर हमारा स्वभाव अति साधारण और अकल्पनीय सम्भावनाओं पर भी भयभीत मन से विश्वास करने को प्रेरित हो जाता है। इसीलिए शायद कहावत है 'डूबता हुआ मनुष्य तिनके के सहारे की भी उपेक्षा नहीं करता।' "आओ, ज़रा ऊपर और देख लें!" कहती हुई गौरी की बहिन छत के ज़ीने पर चढ़ चली। गौरी और आधे पागल की भाँति बालिका की माता भी उसके पीछे हो ली!!

उनकी आशा बर आई। अनुमति अपनी गुड़िया को और गुड़िया के कपड़े-लत्तों की एक छोटी पोटली को लिए हुए पर्दे की दीवार से लगी हुई दूसरी तरफ़ को मुँह किये खड़ी थी। वह आधे घण्टे से सोच रही थी कि, गुड़िया को कहाँ छिपाऊँ। वहाँ एक छोटा-सा खोखला था; परन्तु गुड़िया और उसके कपड़े उसमें आते नहीं थे। इसी समय उसने अपने पीछे कुछ आहट सुनी। देखा कि, गौरी और गौरी की बहिन के साथ उसकी माता छत पर आ रही है। जिस प्रकार अकस्मात् किसी विपत्ति को सामने देख कर कोई मनुष्य किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो घबड़ा जाता है, उसी प्रकार बालिका अनुमति भी घबड़ा उठी! वह कुछ भी न सोच सकी और एक आकस्मिक प्रवृत्ति के वशीभूत हो उसने विद्युत-प्रवाह की भाँति शीघ्र गुड़िया और पोटली को दीवार की दूसरी तरफ़ फेंक दिया।

माता ने यह देखा और उसका भाव ताड़ गई! उसने झपट कर बालिका को अपने गले से लगा लिया!!

* * *

कौशल

[श्री० कुँवर राजेन्द्र सिंह]

"क्या उन्हें इसका भी व्यसन हो गया ? क्या मेरे भाग्य में यही बदा था ??"

"क्या कहूँ बहिन जब से मैंने सुना है कि राधाकृष्ण भैया बुरी संगत में पड़ गए, मेरे चित्त में बड़ी अशान्ति है। सच बात तो यह है कि जब से वह लखनऊ यह कह कर गए थे कि अब वहीं डॉक्टरी करूँगा तभी से न जाने क्यों मेरा हृदय एक भावी अमङ्गल की आशङ्का से सदैव ही दुखी बना रहता था। ईश्वर उन्हें शीघ्र सुमार्ग पर लावें।"

रात्रि का समय है। निद्रा देवी की शान्तिदायिनी गोद में सारा संसार विश्राम कर रहा है। चन्द्रमा अपनी उज्जवल किरणों से सभी वस्तुओं को रजतमय बना रहा है। सभी नीरव निस्तब्ध हैं। किन्तु प्रकृति के विशाल वक्षस्थल पर शुभ्र ज्योत्स्ना-पुलकित यामिनी में, कहीं-कहीं इस निस्तब्धता को भंग करने वाली चौकीदारों की आवाज़ सुनाई देती हैं। भारतेन्दु बाबू के शब्दों में इस समय भी :

सोए जग के सब नींद घोर।
जागत कामी, चिन्तित, चकोर॥
विरहिन, विरही, पाहरू चोर।
इन कहँ छिन रैनहु, हाय! कल न॥

संसार में दूसरे के दुःख से कातर होने वाले, दूसरे की विपत्ति में दो आँसू बहाने वाले, बहुत थोड़े सहृदय जन हैं। चाहे आप सुखी हों, अथवा दुखी, संसार आपके प्रति उदासीन है। प्रकृति भी उदासीनता ही धारण किये रहती है। हा ! निर्दय संसार ! कोयल का मधुर स्वर, पपीहे की हृदय हारिणी सुरीली तान, नदी का कलकलनाद, नक्षत्रों का आकाश में हँसना, ये सभी उदासीनता के द्योतक नहीं तो और क्या हैं ?

आज करुणा भी विरह कातरा, दुःखिनी है। परन्तु संसार को इससे क्या ? अर्धरात्रि के इस नीरव समय में भी वह अपने मकान की छत पर, अपनी सहेली, अपनी एकमात्र दुःख संगिनी के साथ, दुःख से, क्षोभ से, करुणा से भरे हुए शब्दों में बातें कर रही है। उसके बड़े-बड़े सुन्दर नेत्रों से आँसुओं की धारा बह रही है।

करुणा ने रुँधे हुए कण्ठ से, कम्पित स्वर में कहा,—"बहिन, मुझे तो अब यह संसार अन्धकारमय प्रतीत होता है। भला तुम्हीं बताओ अब क्या उपाय है ?"

तारा ने सहानुभूतिपूर्ण शब्दों में, अपने उमड़ते हुए आँसुओं के वेग को रोक कर कहा, "उपाय ! उपाय कुछ न कुछ तो किया ही जायगा परन्तु वह पत्र कहाँ तक विश्वास करने योग्य है, पहले इसका निश्चय हो जाना चाहिये।"

करुणा—"हाय ! उनकी उदासीनता देखते हुए तो यही जान पड़ता है कि निर्दय विधाता सचमुच मेरे ऊपर रुष्ट हैं। मैंने उनको कितने पत्र लिखे, कितनी विनीत प्रार्थनाएँ कीं। परन्तु उनको मेरा

ध्यान तक न आया। पूरे एक वर्ष से उन्होंने मुझको एक लाइन भी लिख कर नहीं भेजी।"

तारा—"भला एक बार लाओ उस पत्र को फिर तो देखें।"

करुणा—"क्या देखोगी बहिन! हाय आज मैं कहीं की भी न रही।"

धीरे-धीरे काँपते हुए हाथों से करुणा ने अपने प्रियतम—निठुर प्रियतम—के मित्र का पत्र लाकर तारा को दे दिया। तारा ने देखा कि पत्र में अतीव सभ्यता के साथ, सहृदयता प्रदर्शित करते हुए लिखा था :

"श्रीमती जी,

एक अनजाने पुरुष की पत्र लिखने की धृष्टता असह्य अवश्य है, परन्तु बाबू राधाकृष्ण मेरे मित्र हैं। उनको कुमार्गगामी होते देख कर मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। मुझे यह दुःख के साथ कहना पड़ता है कि वे अब मदिरा सेवन भी करने लग गए हैं। ईश्वर करे वे शीघ्र सुपथ पर आ जावें। यदि सम्भव हो तो आप किसी उपाय से उनको अच्छे रास्ते पर लाने का प्रयत्न कीजिए। बस और मैं क्या कहूँ?

आपका, एक शुभचिन्तक"

तारा ने उस पत्र को एक बार, दो बार, तीन बार पढ़ा। कुछ क्षणों के उपरान्त उसके मुख पर हास्य की एक मन्द रेखा दिखाई दी। उसने करुणा के कान में चुपके से न जाने क्या कहा? करुणा ने

दीर्घनिश्वास परित्याग कर कुछ ग्लानि-मिश्रित सन्तोष के साथ कहा "देखें !"

बाबू राधाकृष्ण लखनऊ मेडिकल कॉलेज से एम० बी०, बी० एस० की डिग्री लेकर वहीं पर डॉक्टरी करने लगे। आपका विद्यार्थी जीवन सदैव आदर्श रहा था। संसार में पदार्पण करने पर भी आप अपने सरल स्वभाव, अध्यवसाय, मधुर भाषण, सौजन्य आदि अनेक गुणों से विभूषित रहने के कारण कुछ ही समय में सर्वप्रिय बन बैठे। बुरी बातों में, बुरी चीज़ों से आपको बड़ी घृणा थी। जब कभी कोई इनके सम्मुख 'खाओ, पियो और मौज करो' (Eat, drink, and be merry) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगता, उस समय आप सच्चे हृदय से उसे यथाशक्ति समझाने का प्रयत्न करते। उनके मित्र-गण उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से तो देखते थे ही परन्तु डॉक्टर साहब से भय भी खाते थे। कारण, उनमें से अधिकांश, मदिरा सेवी, ऐसे लोग थे जिनके दाँत वास्तव में खाने के और दिखाने के और थे। मानव स्वभाव में जहाँ बहुत से दोष हैं, वहाँ अपने से ऊँचे को नीचा दिखाने की अभिलाषा भी है। उनके मौखिक मित्र इसी दुरभिलाषा से प्रेरित होकर उन्हें स्वयं विलासिता का क्रीत दास बनाने का स्तुत्य प्रयत्न करने लगे। उनकी अनुपस्थिति में प्रायः इसी बात की आलोचना-प्रत्यालोचना होती। एक दिन बहुत सोच-विचार के पश्चात् यह निश्चय हुआ कि गोमती के किनारे एक भोज दिया जाय और उसमें डॉ० राधाकृष्ण भी बुलाए जाएँ। बात पक्की हो गई। नियत समय पर, नियत स्थान पर सब लोग एकत्रित हुए। शरद् ऋतु का निर्मल

आकाश, फिर शीतल मनोहारी चन्द्रदेव, उसपर गोमती का कलकल-नाद और मित्रमंडल का एकत्रित होना। आहा! कितना हृदयग्राही दृश्य है, कितनी मधुरता, कितना उल्लास !!

भोजन के पहिले मिस्टर जैतली ने एक छोटा-सा भाषण दिया। इसमें आपने देश की दशा का बड़े ही मार्मिक शब्दों में विवेचन करते हुए, दरिद्र भारत का एक अत्यन्त करुण चित्र खींच कर यह बताया कि हमारे लिए एक ऐसे संगठन की कितनी आवश्यकता है जिसके प्रत्येक सदस्य में परस्पर प्रीति, सहानुभूति, सहृदयता तथा भ्रातृभाव हो। स्वतंत्रता, एकता, और भ्रातृत्व (liberty, equality and fraternity) पर आपने अपने ज़ोरदार शब्दों में बड़ा ज़ोर दिया। "अस्तु, इसी उद्देश्य को किसी अंश तक सफल बनाने के लिए ही आज का यह डिनर है। यह हमारे सौभाग्य की बात है कि डॉक्टर राधाकृष्ण साहब भी इसमें उपस्थित हैं। इस कर्तव्य मार्ग की ओर अग्रसर होते समय आप ही हमारे पथ प्रदर्शक होंगे। हमें यह आशा तथा विश्वास है कि हमारा यह छोटा-सा मित्रमंडल समय पाकर, आपके नेतृत्व तथा निरीक्षण में एक देश-व्यापी संस्था में परिवर्तित हो जायगा।" इत्यादि।

यद्यपि डॉक्टर साहब सम्मान के भूखे न थे, परन्तु तो भी न जाने क्यों इन प्रशंसासूचक वाक्यों ने उनके हृत्तंत्री के तार-तार को झंकृत कर दिया। अपने मित्रों की ओर उन्होंने प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देखा। ये लोग आज डॉक्टर राधाकृष्ण की दृष्टि में बहुत ऊँचे हो गए थे। समयोचित दो-चार और वक्तृताओं के पश्चात् भोजन आरम्भ हुआ।

मित्रों की चहल-पहल में सब लोगों ने भरपेट खाया; अन्त में बारी शरबत की रही। शीशे के सुन्दर गिलासों में सभी सज्जनों के सम्मुख शरबत रक्खा गया। इच्छा न रहने पर भी डॉक्टर साहब मित्रों के अनुरोध को न टाल सके, उनको भी पीना ही पड़ा।

* * *

घर पहुँचने पर डॉक्टर साहेब को एक प्रकार का हलका नशा-सा मालूम होने लगा। मानों वे इस लोक में नहीं हैं। एक प्रकार के अभूतपूर्व सुख, तन्मयता, उल्लास का वे अनुभव करने लगे। कुछ ही क्षणों में वे स्वर्ग का आनन्द उपभोग करने लगे। आहा! इस दशा में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं, कोई भी व्यथादायिनी बात नहीं। अमीनाबाद के एक विद्युत आलोक से आलोकित अट्टालिका में डॉक्टर साहेब सुख से लेटे हुए थे। क्रमशः सोच-विचारों में निद्रा आ गई। स्वप्न में देखा कि एक कोमलांगिनी युवती एक पुष्पहार उनके गले में डालने का उद्योग कर रही है। सारा कमरा पुष्पों के तीव्र मधुर सुवास से सुवासित हो रहा है। उस रमणी-रत्न ने मानों हँसते-हँसते कहा "राधाकृष्ण क्या तुम मुझे प्यार करते हो?"

राधाकृष्ण की निद्राभंग हुई। आहा! कितना मधुर स्वप्न था, कैसी तंद्रा!

३

डॉक्टर साहेब ने उसी आनन्द को पाने के लिए कितनी ही बार उस लाल शरबत का सेवन किया, किन्तु वह मायावनी मरीचिका भी पास न आई। क्रमशः यह जान लेने पर भी कि उस लाल शरबत

में, वास्तव में मदिरा का मिश्रण था, वे उसे त्याग न सके। वे अब पक्के शराबी बन चुके थे। तर्क का विवेक उनमें प्रायः लोप हो चुका था।

एक दिन वे अपने ड्रॉइंगरूम में बैठे थे कि उन्हें एक पत्र मिला। लिफ़ाफ़े पर के पते से मालूम होता था कि वह किसी स्त्री का लिखा हुआ है। स्वभाव से, उत्कंठित चित्त से उन्होंने उस चिट्ठी को खोला। यह तारा का पत्र था। उसमें लिखा था :

"भैय्या राधाकृष्ण,

करुणा तुम्हारे विरह में, वियोग में, बहुत दुबली हो गई है। पाँच दिन से उसे ज्वर आ रहा है। डॉक्टरों का कहना है कि यदि वह तुम्हें न देखेगी तो प्राणों का भय है। क्यों भैय्या, तुम मृत्युशय्या पर पड़ी हुई, सरलस्वभावा करुणा को एक बार दर्शन न दे जाओगे? मैं प्रार्थना करती हूँ, हाथ जोड़ती हूँ, अनुनय विनय करती हूँ कि एक दिन के लिए चले आओ। और सब कुशल है।

तुम्हारी—तारा"

राधाकृष्ण ने इस पत्र को देखा, वे अपनी ही दृष्टि में अपराधी हो रहे थे, आत्मग्लानि के बोझ से दबे जाते थे। कमरे में करुणा का एक तैलचित्र टँगा था। उन्होंने उसकी ओर देखा। मालूम हुआ मानो वह उनकी ओर उपेक्षा की दृष्टि से देख रही है। उसका मुख-मण्डल उन्हें आज बहुत उदास मालूम हुआ, जान पड़ा, जैसे करुणा उन्हें नीच, कृतघ्नी, नर-पिशाच समझती है। उनके शरीर में कँपकँपी होने लगी। माथे पर पसीना आ गया। वे और अधिक उस स्थान पर खड़े न हो सके। भाग कर दूसरे कमरे में आराम-कुर्सी पर लेट

रहे। चिन्ताओं ने उन्हें घर दबाया। उन्होंने काँपते हुए हाथों से, व्यग्र चित्त से, निराश हृदय से, एक गिलास में थोड़ी-सी शराब उँड़ेली और पी गए! थोड़ी ही देर में वे चिन्ताओं से मुक्त हो गए!!

* * *

जेल की यंत्रणा भोग कर जिस प्रकार कोई चोर चोरी के गुण में पक्का, तथा और भी अधिक प्रवीण हो जाता है, राधाकृष्ण की भी वही दशा हुई। उनमें इतना आत्मबल न था कि वे करुणा को अपना मुँह दिखाते। उनकी आत्मा मलिन हो चुकी थी। चिन्ताओं को दबाने के लिये मदिरा का वे अधिक सेवन करने लगे। करुणा की ओर से वे क्रमशः निराश हो गए। रसिक मित्रों के सहवास से, उन्हें अब सङ्गीत से भी कुछ-कुछ प्रेम हो चला। सङ्गीत की मधुर ध्वनि उन्हें तन्मय बना डालती थी। अंध मुग्धवत् की नाईं, उनका हृदय उस ओर बरबस आकर्षित हो जाता था। किन्तु चित्त के बहलाने का सब कुछ प्रयत्न करने पर भी कभी करुणा की याद उन्हें आ जाती थी, तो उनका चित्त चञ्चल हो जाता था। किन्तु उनकी दुःख सङ्गिनी मदिरा उनके इस मानसिक क्लेश के दूर करने में बड़ी सहायता देती थी।

अस्तु इसी प्रकार, दुःख-कष्ट, हास्य-परिहास, आनन्द-उल्लास के मध्य राधाकृष्ण अपने जीवन के दिन व्यतीत करने लगे। उनकी दशा उस जुवारी की सी थी जो अपना बहुत कुछ खो करके भी, उसे फिर पाने की लालच में पाँसे फेंकता ही जाता है। वे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये थे। मित्र मंडली से अब जो आनन्द उन्हें प्राप्त होता

उसका रसास्वादन उनको पहिले कभी स्वप्न में भी नहीं हुआ था।

४

संध्या समय क़ैसरबाग़ की शोभा बड़ी ही विचित्र रहती है। बसन्त ऋतु में, ठण्डे-ठण्डे वायु के झकोरों के साथ-साथ रमणी-कण्ठ से निकली हुई सुरीली तान क्लान्त पथिक को तन्मय बना डालती है।

डॉक्टर राधाकृष्ण अकेले कुछ चिन्ताओं में डूबे चले जा रहे थे। सहसा उन्हें अतीव कोमल कंठ से निकले हुए एक गीत की ध्वनि सुनाई दी। कोई गा रहा था :

अहो ! तुम झूठन के सिरताज।
छल के रूप, कपट की मूरति, मिथ्यावाद जहाज ॥

वे जड़ पदार्थ की नाईं उस गीत को सुनने लगे। उसका एक-एक शब्द मानों सुधावर्षण कर रहा था। गाने वाली रमणी का स्वर कुछ परिचित-सा जान पड़ा, परन्तु याद न आया कि इसका गाना कब और कहाँ सुना है। उनको अपने शरीर की सुधि न रही। मानों कोई अज्ञात शक्ति उनको उस मकान की ओर खींचे लिए जाती थी। वे चुपचाप उस ओर अग्रसर होने लगे। किन्तु लज्जा तथा संकोच उनके मार्ग में बाधक थे। थोड़ी दूर जा कर वे लौट पड़े, उनके पैर आगे न बढ़ते थे।

अब बाबू राधाकृष्ण प्रायः नित्य ही उस ओर जाते, गाना सुनते और स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करते। किन्तु उन्हें आज तक यह न मालूम हुआ कि यह स्वर्ग की अप्सरा कौन है ? यह

कौन है जिसने उनके हृदय में क्रमशः इतना बड़ा स्थान प्राप्त कर लिया है ? राधाकृष्ण की व्यग्रता उस रमणीरत्न से साक्षात करने की प्रतिदिन बढ़ने लगी। वे प्रायः अपने आपे में न रहे। उठते-बैठते, सोते-जागते वे यही सोचा करते कि यह कौन है ? क्यों मैं इसकी ओर इतना आकर्षित हूँ ? यह चञ्चलता क्यों ? रे चित्त ! कहीं तू अमूल्य रत्न के धोके में काँच के चमकते हुए टुकड़े पर तो नहीं फिसल पड़ा ? हा ! ईश्वर ! क्या मैं कभी उससे मिल सकूँगा ? क्या कभी मेरी यह चिरवांछित अभिलाषा पूर्ण होगी। इसी प्रकार वे उसके प्रेम में कभी डूबते, कभी उतराते थे।

* * *

एक दिन साधरणतः वे क़ैसरबाग़ में उसी मकान के सामने घूम रहे थे। आज अन्य दिनों की भाँति गाने की वह स्वर्गीय ध्वनि उन्हें न सुनाई दी। कोकिल कण्ठ से निकले हुए, हृदय तंत्र को झंकृत करने वाले सुमधुर राग का आलाप उन्हें आज न सुनाई दिया। अफ़ीम खाने वाले को यदि ठीक समय पर अफ़ीम न मिले, उसकी उस समय जो दशा होती है, वही दशा इस समय राधाकृष्ण की थी। वे क्रमशः व्यग्र हो उठे। चिन्ता के साथ इधर-उधर टहल रहे थे इतने में उन्हें एक दासी अपनी ओर आती दिखाई दी। समीप आकर उसने उस मकान की ओर चलने का राधाकृष्ण को संकेत किया।

उनके चित्त में हलचल मच गई। वे सोचने लगे कहीं वह मुझको नीच तो नहीं समझती, मुझे घृणा की दृष्टि से तो नहीं देखती ?

हे भगवान् ! आज यह मेरे ऊपर अनुग्रह है ? अथवा कोप ! वे नहीं जानते थे कि प्रेम सागर में बहती हुई उनकी नाव किनारे की ओर जा रही है अथवा डूब जाने वाली है। परिचारिका के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए डॉक्टर साहेब एक सुसज्जित कमरे में पहुँच गए। कमरे में एक ओर परदा पड़ा हुआ था। परदे के पास एक बहुमूल्य कुरसी पर डॉक्टर साहेब को बैठने का संकेत कर दासी चली गई।

क्रमशः एक मधुर ध्वनि उनके कानों में पड़ी। परदे के आड़ से किसी ने पूछा, "क्यों महाशय, क्या मैं आपका नाम जान सकती हूँ ?"

वे सहसा चौंक पड़े। डरते-डरते उन्होंने उत्तर दिया, "लोग मुझे डॉक्टर राधाकृष्ण कहते हैं। मैं यहाँ प्राइवेट प्रैक्टिस करता हूँ।"

इससे अधिक और कोई बातचीत न हुई। हाँ कभी-कभी दर्शन दे जाने का अनुरोध अवश्य किया गया।

सप्ताह में एक बार वहाँ जाना, उसी प्रकार पर्दे की आड़ से थोड़ी बातचीत करके अपने मन और प्राण को सुखी करना डॉक्टर साहेब का एक मुख्य कर्तव्य हो गया था। इतने दिनों से जाते रहने पर भी डॉक्टर साहेब को न मालूम हो सका कि वह सुन्दरी कौन है, मेरे ऊपर इतनी कृपा रखने पर भी मेरे सामने क्यों नहीं होती ? जब कभी उन्होंने परिचय जानने का उद्योग किया उन्हें यही उत्तर मिला कि "सब्र कीजिए, समय आने पर आपको आप ही सब मालूम हो जायगा।"

एक दिन डॉक्टर साहेब से उस दासी ने उसी कमरे में पूछा—"क्यों महाशय, आपका विवाह हुआ है अथवा नहीं ?" एक क्षण सोचने के उपरान्त डॉक्टर साहेब ने कम्पित स्वर में धीरे से कहा, "जी मेरा विवाह हुआ तो था, परन्तु मेरी स्त्री का देहान्त ··· ।"

इसी समय परदे की आड़ से हँसने का शब्द उनके कान में पड़ा। वे इसका कुछ भी अर्थ न समझ सके।

डॉक्टर राधाकृष्ण को आज मालूम हुआ कि वह युवती कब से अस्वस्थ है। वे पिछले दो-तीन सप्ताह से उसके यहाँ नहीं जा सके थे। तुरन्त ही वहाँ पहुँचे। द्वार पर ही वह परिचारिका मिली। उसने रूँधे हुए कण्ठ से कहा "शीघ्र जाइए।" इससे अधिक वह और कुछ न कह सकी।

रात्रि के १० बजे के लगभग वे वहाँ पहुँचे। चारपाई के पास एक कुरसी पर बैठ कर उन्होंने रोगिणी के नाड़ी की परीक्षा की। हृदय-परीक्षा करने के लिए उन्होंने अपना स्टैथेस्कोप जेब से निकाला ही था कि रोगिणी सहसा चारपाई से उठ कर राधाकृष्ण के चरणों पर गिर पड़ी। उसने कहा, "नाथ! क्या आप अपनी करुणा को नहीं पहिचानते ?"

इस समय यदि आकाश भी फट पड़ता तो राधाकृष्ण को इतना आश्चर्य न होता, जितना अपने पैरों पर सती, साध्वी करुणा को पड़े देख कर हुआ। तुरन्त ही वे सारा कौशल समझ गए।

*　　　*　　　*

राधाकृष्ण अब वे शराबी राधाकृष्ण नहीं रहे। करुणा और उनके बीच एक अविरल प्रेम की धारा बहती है। बहुत दिन बीत जाने पर भी तारा के कौशल की वे प्रशंसा किया ही करते हैं। करुणा तो सचमुच ही तारा के कृतज्ञतापाश में बँधी हुई है। यह एक सच्ची घटना का कलेवर है।

नोट के टुकड़े

[श्री० 'गिरिजेश']

"लो, तुम्हारा काम मेम साहेबा की देख-भाल होगा। उनको नहलाना, कपड़े बदलवाना, खिलाना-पिलाना, जूठे बरतन साफ़ करना, कमरे की सफ़ाई रखना इत्यादि—ये सब तुम्हारे काम होंगे। तुम्हें आठ रुपए मासिक वेतन मिला करेगा; सुना, पहाड़िन!"—एक साँस में ही मिस्टर के० शर्मा एक जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों वाली पहाड़िन को सम्बोधन करके कह गए।

"जी हाँ!"—पहाड़िन ने लजाते हुए उत्तर दिया।

मिसेज़ शर्मा को तपेदिक हो गया था। डॉक्टरों की सलाह से मिस्टर शर्मा उनको भुवाली सेनेटोरियम में ले आए थे। उन्हें अपनी पत्नी के लिए परिचारिका की आवश्यकता थी, पर तपेदिक वाले मरीज़ की सेवा के लिए नौकर ढूँढ़ना टेढ़ी खीर थी। अधिक वेतन का प्रलोभन देने पर भी मि० शर्मा को नौकर न मिल सका। आज अकस्मात् ही उन्हें जब भीमताल की ओर जाने वाली सड़क—नहीं, उसे पगडण्डी कहना ही उचित होगा—पर से घूम कर लौट रहे थे, तो उन्हें वह पहाड़िन मिल गई। उसने स्वयं पूछा—"बाबू जी, आपको घर में कोई नौकरानी चाहिए?"

मिस्टर शर्मा ने 'हाँ' उत्तर दिया और खुशी-खुशी उसे सेनेटोरियम ले आए।

पहाड़िन—उसका नाम बचुली था—अपने मालिक के रहन-सहन को देख कर चकित हो गई वह। प्रत्येक वस्तु जिस शुद्धता और क़रीने से उस मकान में रक्खी थी, उसे देख कर वह इतनी हिम्मत न कर सकी, कि किसी को छू भी दे। उसे डर होता था, कि कहीं उसके मैले-कुचैले कपड़ों से लग कर मकान की कोई वस्तु गन्दी न हो जाए! बचुली को उसी दिन नए कपड़े पहिनने को दिए गए, और जो खाना उसे उस दिन खाने को मिला, वह तो शायद ही पहले कभी नसीब हुआ हो। भोजन सामने आते ही, उसे अपने छोटे-से बच्चे की याद हो आई, जिसे वह बिलखता हुआ घर पर छोड़ आने को मजबूर हो गई थी—हाँ, ऐसे घर में जहाँ महीने में दो-चार दिन भले ही ऐसे जाते हों जब दोनों बार पेट भर के खाना मिल जाए। और बचुली को अपना घर छोड़ कर भुवाली क्यों आना पड़ा? कारण यह था, कि दो-तीन वर्षों से उस इलाक़े में बरसात अच्छी नहीं हुई थी; फलतः फ़सलें बरबाद हो गईं थीं, और लगान तक पूरा नहीं हो रहा था। उसके परिवार में कुल तीन प्राणी थे—वह, उसकी वृद्धा सास, और उसका तीन-चार साल का पुत्र। बचुली के आदमी को मरे हुए भी तीन साल हो चुके थे। कठिनाइयाँ इकट्ठी हो कर ही आती हैं, अलग-अलग नहीं। बचुली के पति का निधन और खुश्कसाली एक ही समय पर आए। पहले एक-दो वर्ष तो बचुली ने गाँव के साहूकार से ऋण ले कर लगान चुकाया, परन्तु पहला क़र्ज़ न लौटा सकने के कारण साहूकार ने अब अधिक

क़र्ज़ देने से इन्कार कर दिया। इसीलिए बचुली को 'बाध्य' हो कर नौकरी की खोज में भुवाली आना पड़ा था।

दो-चार दिन में भुवाली के नवीन वातावरण से वह पूर्णतया परिचित हो गई और अपने कार्य को सुचारुता से निभाने लगी।

२

प्रातःकाल चार बजे से ले कर रात के दस बजे तक, वह एक क्षण भी विश्राम न करती थी। मरीज़ की सेवा का सारा भार उसी पर था। रात के दस बजे जब काम से निबट कर वह अपने बिछौने पर लेटती, तो उसे अपने छोटे-से संसार के बारे में सोचने का अवकाश मिलता। वह सोचती, कि उसे केवल सौ रुपए ही का तो ऋण चुकाना है। एक वर्ष नौकरी की तो वह ऋण चुका देगी और फिर स्वतन्त्रता से अपने गाँव में सुखी जीवन व्यतीत कर सकेगी। हाँ, कभी-कभी भुवाली में 'सीज़न' के लिए आए अङ्गरेज़ों के हृष्ट-पुष्ट बच्चों को सड़क पर किलकारियाँ मार कर दौड़ते हुए देख कर अवश्य उसे अपने भोला की याद हो आती। भोला—यही उसके पुत्र का नाम था—को देखने की लालसा और अपनी मजबूरियों का स्मरण कभी-कभी अकस्मात हो आता। वह अपने हृदय में उठने वाले तूफ़ान को रोकने का असफल प्रयत्न करती, और उसकी आँखों से अश्रु गालों पर ढुलकने लगते।

माँ की ममता एक अद्भुत चीज़ है। ग़रीब माँ में भी वात्सल्य प्रेम की मात्रा उतनी ही होती है, जितनी अमीर माताओं में! अन्तर केवल इतना होता है, कि अमीर माताओं के पास अपना प्रेम व्यक्त करने की पर्याप्त सुविधाएं तथा साधन होते हैं, और ग़रीबों के

पास कम ! जब कभी बचुली को भोला की याद हो आती, तो वह अपनी मालकिन के बच्चों को अपनी गोदी में ले कर उन्हें चूम कर और प्यार करके अपनी मातृत्व की प्यास को बुझा लेती !

समय यूँ-ही बीतता गया । 'मेम साहेबा' की परिचर्या में बचुली ने कोई कसर उठा न रक्खी । मरीज़ की सेवा—विशेषतया एक टी० बी० वाले की—स्वयं उसके सगे-सम्बन्धी भी इतनी नहीं करते, जितनी बचुली ने की । अनपढ़, दरिद्रता की मारी हुई गाँव की औरत क्या जाने, कि वह नौकरी करके पैसे नहीं कमा रही थी बल्कि स्वयं मौत के साथ क्रीड़ा कर रही थी ?

एक दिन बचुली 'मेम साहेबा' के बच्चों के साथ खेल रही थी । उसने आवेश में आ कर एक बच्चे को चूमा और छाती से चिपटा लिया । यह दृश्य मि० के० शर्मा ने देखा । उनकी पश्चिमीय वातावरण से व्याप्त बुद्धि भला यह कब सहन कर सकती थी, कि एक नौकरानी और वह भी टी० बी० पेशेण्ट की सेवा करने वाली, उनके बच्चों से इतनी स्वतन्त्रता से मिले-जुले ?

"देखो पहाड़िन, तुम्हें जो काम दिया गया, वही किया करो । बच्चों के साथ 'मिक्स' होना तुम्हारे लिए ठीक नहीं । फिर कभी ऐसी धृष्टता न करना !"—मिस्टर शर्मा चिल्ला उठे । बचुली सहम गई । उसे सोचने पर भी अपनी कोई ग़लती न मालूम हुई । साहब के इस रूखे व्यवहार से उसके हृदय में टीस-सी होने लगी । वह सोचने लगी—क्या ग़रीब माँ का एक अमीर बच्चे के प्रति प्यार करना भी गुनाह है ? अपनी लाचारी को जान कर उसका हृदय रो उठा !

३

बचुली को भुवाली आए छः मास हो चुके थे। वह कुछ काल के पश्चात् अपने गाँव जाने के मन्सूबे बाँध रही थी। जब कभी उसे बाज़ार जाने का अवसर मिलता, तो अपने भोला के लिए एक-आध खिलौना मोल ले आती। इसी प्रकार आठ-दस खिलौने उसके पास, ट्रङ्क में, जमा हो गए। एक बार उसने अपने 'साहब' से घर जाने को पाँच दिन की छुट्टी भी माँगी, पर मिस्टर शर्मा ने उसे समझा-बुझा कर टाल दिया। वह जानते थे, कि बचुली के बिना घर में काम नहीं चल सकता।

उसी सप्ताह की बात है, बचुली ने एक भयङ्कर स्वप्न देखा. वह जाग उठी। उसका सारा ध्यान अपने भोला पर केन्द्रित हो गया। उसने अपने गाँव जाने की ठान ली। रात बड़ी कठिनता से कटी। प्रातःकाल होते ही वह अपनी मालकिन के पास पहुँची और कहा—"मेम साहेबा, आज मैंने एक भयङ्कर स्वप्न देखा है! मुझे भय है, कि कहीं मेरा लाल कष्ट में न हो। आप मुझे एक सप्ताह की छुट्टी दें, ताकि मैं घर हो आऊँ।"

मिसेज़ शर्मा बोलीं—"तुम गाँव वालों के साथ यही तो मुसीबत है। ज़रा दो-चार पैसे इकट्ठे हुए, तो तुम लोगों को गाँव को भागने की सूझती है। जिसकी कृपा से कमाते हो, उसके सुभीते को नहीं देखते।" मिसेज़ शर्मा का लम्बी बीमारी के कारण स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया था, और वह जो जी में आता बक देतीं। बचुली मालकिन की बातें चुपचाप सुन रही थी। इतने में मिस्टर शर्मा भी आ पहुँचे। उन्होंने अपनी पत्नी के पिछले वाक्य को सुन लिया और भाँप गए थे, कोई गोल-माल है।

"कहो पहाड़िन, क्या बात है ?"—उन्होंने प्रश्न-सूचक दृष्टि बचुली पर गड़ाते हुए कहा ।

"जी, मैं एक सप्ताह के लिए घर जाना चाहती हूँ ।"—बचुली ने उत्तर दिया ।

"तुम सात-आठ महीने यहाँ रह कर भी गँवार ही रहीं । तुम्हें यह भी समझ नहीं आया, कि अपने मालिक की आवश्यकताओं का सदैव ध्यान रखना चाहिए ।"

"और मालिक को भी तो नौकरों की आवश्यकताओं का सदैव ध्यान रखना चाहिये । क्या वह आदमी नहीं होते ?"—बचुली ने निराशा-जनित गुस्से में कहा । यह पहला अवसर था, जब कि उसने अपने मालिक को प्रत्युत्तर दिया था ।

मि० शर्मा ऐसे लहज़े में उत्तर पाने के लिए तैयार न थे । उन्होंने रोषपूर्वक कहा—"देखूँगा, तुम अपने गाँव कैसे जाती हो ?"—और यह कहते हुए वह बाहर चले गए ।

बचुली का इरादा पक्का था । दूसरे दिन मुँह-अँधेरे ही वह बिना कुछ कहे-सुने अपने गाँव को चल दी । ज्यों-ज्यों वह अपने गाँव के निकट पहुँच रही थी, त्यों-त्यों उसके दिल की धड़कन बढ़ती जा रही थी । गाँव में प्रवेश करते ही, उसे अपनी सहेली रधिया पनघट पर मिली । रोनी सूरत बनाते हुए रधिया ने कहा—"बहन, तुम हमें तो भूलीं सो भूलीं, पर क्या भोला के लिए भी प्यार नहीं रहा ? तुम्हारी रगों में ख़ून बहता है या पानी ? दो दिनों से वह सख़्त......!"

"बीमार है क्या ?"—बचुली ने वाक्य को पूरा करते हुए कहा ।

उसका स्वप्न सत्य निकला। अब उसे मालूम हुआ, कि उसका चित्त पिछले चार-पाँच दिनों से अपने आप ही विक्षिप्त सा क्यों रहता था? वह घर पहुँचने के लिए व्याकुल हो उठी और राधिया से अधिक बातें किए बिना ही घर की ओर लम्बे डग बढ़ाती हुई चल दी।

घर पहुँच कर उसने देखा, उसका भोला उसकी सास की गोदी में बेसुध पड़ा हुआ था। ज्वर बड़े ज़ोरों पर था। वह कभी-कभी 'माँ,-माँ' पुकार उठता। बचुली ने जाते ही उसे अपनी गोद में ले लिया। वैद्य बुलवाया गया। उसके निदानानुसार बालक को सन्निपात हो गया था। बचुली ने जब यह सुना, तो सन्न रह गई, पर वह जीवट वाली औरत थी; उसने वैद्य के आदेशानुसार उपचार जारी रक्खा। रात-भर तो बालक बेहोश पड़ा रहा, पर दूसरे दिन प्रातःकाल उसने आँखें खोलीं और पानी माँगा। बालक के मुख पर क्षण-मात्र के लिए खेलने वाली मुस्कान प्रकट हो गई। उसने अपनी माँ को पहचान लिया था। दिल को दिल से राहत होती है। माँ चाहे कितने ही समय के पश्चात् क्यों न मिले, बच्चा उसे पहचान ही जाता है। अस्तु, बालक की सुधरी हुई अवस्था को देख कर बचुली बहुत खुश हुई। वह सोचने लगी, कि पहले दिन उसने भगवती की जो मनौती मनाई थी, उसी के परिणाम-स्वरूप भोला चङ्गा होता जा रहा है।

"मैंने अपने बेटे के लिए सुन्दर-सुन्दर खिलौने मोल ले रक्खे हैं, ऐसे सुन्दर जैसे अमीर घरों में भी नहीं होते। अब मैं अपने बिटुआ को छोड़ कर कहीं न जाऊँगी; सुना लाल!"—भोला को गोद में लिए हुए वह ऐसी ही बातें करके उसे बहला रही थी।

४

"बचुली का यही घर है क्या ?"—बाहर से किसी ने आवाज़ दी। बचुली ने आवाज़ सुन कर बाहर झाँका, तो उसे पता लगा, कि बाहर पुलिस का सिपाही खड़ा था। वह काँप उठी। उसे प्रयत्न करने पर भी उस सिपाही के आने का कारण न सूझा। भोला को उस समय नींद आ रही थी, उसे बिस्तर पर लिटा कर वह बाहर निकली।

गाँव में पुलिस का आना कोई ऐसी साधारण घटना न थी, जिसकी गाँव के लोग अवहेलना करते। एक छोटी-सी भीड़ पुलिसमैन के समीप इकट्ठी हो गई थी। पुलिसमैन के लिए बचुली के मकान में चारपाई बिछा दी गई थी। वह उस पर इस रौब से बैठा था, मानो वही वहाँ का सर्वेसर्वा हो।

"क्यों री बचुली, भुवाली में तुमने क्या घपला किया है ?"—सिपाही ने भौंहें ताने हुए कहा।

"नहीं महाराज ! मैंने तो कुछ भी नहीं किया।" डरते-डरते बचुली ने उत्तर दिया।

"मिस्टर शर्मा के यहाँ से जो-जो माल उड़ा लाई हो, उसे जल्दी बतला दो।"—सिपाही ने डाँटते हुए कहा।

बचुली ने यह सुना, तो भौचक्की रह गई। वह कुछ बोलना चाहती थी, पर बोल न सकी।

"मैं तुम्हें गिरफ़्तार करके भुवाली ले॰ जाने के लिए आया हूँ। वहाँ स्वयं मिस्टर शर्मा से फ़ैसला कर लेना। अच्छा जल्दी करो।"

"पर सिपाही जी, मेरा बालक बड़ा बीमार है। मैं उसे छोड़ कर

कैसे जा सकती हूँ ?" बचुली ने गिड़गिड़ाते हुए कहा—"मुझसे जो चाहे क़सम ले लो। मैंने उनका एक तिल भी इधर-उधर नहीं किया है। उलटी मेरी सारी तन्ख़ाह उनके पास जमा है।"

"तुम झूठ बोलने से बाज़ नहीं आतीं! ख़ैर, तुम्हारा इलाज कर दिया जावेगा। जल्दी चलने के लिए तैयार हो जाओ।"—सिपाही ने अपना अन्तिम निर्णय दे दिया।

बचुली का हृदय भोला से अलग होने के विचार-मात्र से काँप उठा। पर जाने के सिवा और चारा ही क्या था? उसने विदा होने से पूर्व भोला को कस कर छाती से लगा लिया। भोला का ज्वर पहले से तो कम था, परन्तु अभी तक उसकी अवस्था चिन्तनीय ही थी। बचुली उसे छोड़ कर जैसे ही बाहर जाने लगी, वह रो पड़ा। बचुली के पाँव जम गए। वह भोला को गोद में ले कर पुनः बैठ गई—"बेटा, मैं जल्दी ही लौट आऊँगी। तुम मेरे लाए हुए खिलौने से खेलना, अच्छा!"—उसने बालक को पुचकारते हुए कहा।

"लाड़-प्यार फिर करती रहना!"—सिपाही बाहर से गरज उठा।

छाती से चिपटे हुए बालक को अलग करते समय बचुली को हज़ार बिच्छुओं के डङ्कों से भी अधिक पीड़ा का अनुभव हुआ। उसने भोला का बिलखना सुना, पर हृदय पर पत्थर रख कर वह घर से निकल आई।

५

सुवाली पहुँचने पर थानेदार ने बतलाया, कि मामला अभी उनके ही हाथों में है, अतएव यदि वह मिस्टर शर्मा के साथ समझौता कर

ले, तो अच्छा ही हो। बचुली इस इशारे को तो न समझ सकी, पर थानेदार के आदेशानुसार मिस्टर शर्मा के यहाँ चली गई। पहले ही कमरे में मिस्टर शर्मा अपने बच्चों के बीच में बैठे हुए दिखाई दिए, बचुली को आते हुए देख कर वह बोल उठे—"क्यों पहाड़िन, बिना पूछ-ताछ किए फिर जाओगी गाँव अपने? चोरी का इलज़ाम तो केवल तुम्हें यहाँ बुलवाने के लिए लगाया गया था। अब फिर ऐसा दुस्साहस न करना!"—मिस्टर शर्मा ने ठहाका मार कर अपनी विजय प्रगट की।

पर बचुली कुछ और ही सोच रही थी। 'दुस्साहस' वह मन ही मन में बोल उठी—दुस्साहस मैंने किया या तुमने? स्वार्थपरायणता के वशीभूत हो कर तुम मिथ्यारोप करने से भी न हिचकिचाए! अपने बाल-बच्चों के बीच में बैठे हुए तुम क्या जानो, कि मैं भी एक छोटा-सा हृदय रखती हूँ, जो अपने बालक के लिए वैसे ही तड़प रहा है, जैसे मछली पानी के लिए। भोला की बीमारी का स्मरण होते ही उसकी आँखों से आँसू निकल पड़े।

"जाओ, अपना काम सँभालो, फिर कभी घर जाने का नाम न लेना! हमें अभी तुम्हारे बदले में कोई दूसरी नौकरानी नहीं मिल रही है।"—मिस्टर शर्मा ने बचुली को सचेत करते हुये कहा और फिर बच्चों के साथ बातचीत में लग गये।

बचुली ने काम सँभाला। ठीक वैसे ही जैसे एक हृदयहीन मशीन निर्दिष्ट काम किया करती है। उसका हृदय वहाँ के घृणित वातावरण से ऊब गया, परन्तु उसे पूछता ही कौन था?

तीसरे दिन उसके गाँव का एक आदमी ढूंढ़ता हुआ आ पहुँचा। आशङ्काओं ने बचुली को इतना दबा दिया था, कि बारबार हिम्मत करने पर भी वह भोला के विषय में कुछ न पूछ सकी।

"भोला तो गया!"—आदमी ने दृष्टि पृथ्वी पर गड़ाये हुये कहा—"तुम्हें बहुत याद करता था। अन्तिम शब्द भी जो कहे, वह यही थे, "क्या अम्मा न आयेगी, मेरी अम्मा!"

'भोला तो गया'—यह सुनते ही मानो बचुली पर बिजली गिर गई। वह एकदम सन्न हो गई। फिर ज़रा होश आने पर फूट-फूट कर रोने लगी। वह रोती जाती थी और कोसती जाती थी उस दिन को जब वह यहाँ नौकरी करने आई थी। यदि वह गाँव में ही होती, तो अपने भोला को भी न जाने देती।

६

दिल के घाव आसानी से नहीं भर जाया करते। बचुली के लिए अब चारों ओर अंधकार था। गाँव में उसे अब कोई दिलचस्पी न रह गई थी, बल्कि वहाँ तो गत स्मृतियों के पुनः ताज़ा हो जाने का भय था। भुवाली के काम-काज में लगे रहने के कारण शायद वह दुःखों को भूल सके, इसी विचार से वह नौकरी में लगी रही।

खड़ा रहने का प्रयत्न करते हुए भी बचुली खड़ी न रह सकी! पुत्र-शोक ने उसे दबा ही लिया। उसे ज्वर रहने लगा। इधर बचुली की अनवरत सेवा और डॉक्टरों के इलाज से मिसेज़ शर्मा की अवस्था बहुत सुधर गई थी। एक दिन सेनेटोरियम के अध्यक्ष ने मिसेज़ शर्मा की परीक्षा की और मिस्टर शर्मा को सम्बोधित करते हुए कहा—"मिसेज़

शर्मा की 'रिकवरी' के लिए बधाई, पर अपनी नौकरानी का ध्यान रखिए। कहीं इसका 'कण्टेजन' औरों को न लग जाए। इसे टी० बी० हो गया है।"

* * *

उपरोक्त घटना के कुछ दिन बाद की बात है। सन्ध्या का समय था। बचुली अपने बिछौने पर पड़ी हुई ज्वर से कराह रही थी। इतने में मिस्टर शर्मा ने उस अँधियारी कोठरी में प्रवेश किया।

"देखो, दो-चार दिन में हम इलाहाबाद जा रहे हैं। अब हमें नौकरानी की आवश्यकता नहीं रही। तुम्हें हमारे यहाँ नौकरी करते हुए पूरा एक वर्ष हुआ है।"—मिस्टर शर्मा ने ज़रा सोचने का अभिनय करते हुए कहा—"आठ रुपए प्रतिमास के हिसाब से ९६) रु० होते हैं। यह लो एक सौ रुपए का नोट! चार रुपए तुम्हारा इनाम। यह कहते हुए मिस्टर शर्मा ने नोट बचुली की ओर फेंक दिया।

मिस्टर शर्मा से बचुली को ऐसे रूखे व्यवहार की आशा न थी। उसका हृदय घृणा और क्रोध से भर गया। आत्म-सम्मान ने उसे ललकारा। क्षीणप्राय देह में क्षणिक शक्ति का संचार हुआ और वह उसी समय उस मकान को छोड़ने के लिए तैयार हो गई।

जब बचुली एक अनिश्चित स्थान के लिए प्रस्थान कर रही थी, तभी मिस्टर और मिसेज़ शर्मा एक कमरे में बैठे गप्पें हाँक रहे थे। उसने साफ़ सुना, मिस्टर शर्मा कह रहे थे—"पहाड़िन को टी० बी० हो गया है। आज उससे भी पिण्ड छुड़ा लिया। वेतन दे दिया है। कल प्रातः-काल तक चली ही जावेगी।"

मिसेज़ शर्मा स्वीकृति-सूचक मुस्कान मुख पर लाते हुए बोलीं—"ठीक किया !"

भुवाली की जन-शून्य और अन्धकार-व्याप्त मोटर वाली सड़क पर बचुली बड़बड़ाती हुई चली जा रही थी—स्वार्थ का भी कोई अन्त है, जिनके कारण मेरी यह दशा हुई है, और यह कहते हुए उसका दायाँ हाथ, अनायास ही ज्वर के कारण तीव्र चलती हुई बाएँ हाथ की नाड़ी पर चला गया—हाँ, जिनके कारण मेरी यह दशा हुई है, उन्होंने मेरा और मेरे भोला का मूल्य सौ रुपए आँका है। छिः !—यह कहते हुए उसने सौ रुपए का वह नोट बाहर निकाला और टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिया। सायङ्कालीन तेज़ पर्वतीय वायु न जाने नोट के उन तिरस्कृत टुकड़ों को कहाँ ले उड़ी !

डाकिए के आँसू

[श्री० 'पङ्कज']

शम्भु डाकिए को मुहल्ले के सभी लोग जानते थे, और वह सबका मित्र था। मधुर स्वभाव का होने के कारण वह बच्चों से ले कर बूढ़े तक—सबका प्यारा था। "शम्भू चाचा, मेरी चिट्ठी है?" "शम्भु मामा, मेरा कोई मनीऑर्डर आया है?" "शम्भु भैया, मेरे नाम कुछ आया है?" इत्यादि सवालों के जवाब देते हुए शम्भु कभी थकता नहीं और मीठी मुस्कान के साथ उत्तर दे कर पूछने वाले को ख़ुश कर देता है।

शम्भु के परिवार में एक पत्नी, दो पुत्रियाँ और एक पुत्र के सिवा और कोई नहीं था। माता-पिता, भाई-बन्धु, कब के परलोक सिधार चुके थे। शम्भु को तनख़्वाह के पन्द्रह रुपए काफ़ी थे। दिवाली, होली और बड़े दिन के उत्सवों पर कुछ बख़्शीश भी मिल जाती थी।

शम्भु में सन्तोष की मात्रा अधिक थी। एक हिन्दू के जीवन में सन्तोष की मात्रा स्वभावतः अधिक होती है। वह सुन्दर परलोक के ख़्याल से भूखा रह कर भी सन्तुष्ट रहने में गौरव समझता है। अर्थशास्त्री इसे उसकी मूर्खता की हद भले ही कहें, परन्तु इसमें कुछ रहस्य है ज़रूर। शम्भु के थैले में आशा-निराशा, हर्ष-शोक, वेदना और आह्लाद—सबका स्थान रहता था। कितने ही हृदय-द्रावक पत्र उसके

थैले में रहते थे; अनेक सुन्दरियों के प्रेम-पत्र, कितनी ही उपेक्षिताओं केवेदना-पत्र और बहुत से लक्ष्मी के लाड़लों के लेन-देन के पत्र रहते थे। शम्भु उन सबका रक्षक होता हुआ भी उनसे निर्लेप था। उसका थैला औरों के लिए भले ही हर्ष या विषाद का कारण हो, पर स्वयं उसके लिए वह आनन्ददायक ही था!

रोज़ के फेरे में मिलने वाले सभी लोग सलाम, नमस्कार, प्रणाम, जय रामजी इत्यादि शब्दों से शम्भु का सत्कार करते थे। बच्चे भी अनेकों तरह से उसका स्वागत करते। एक दिन अन्य बालकों का अनुकरण करता हुआ एक बालक बोला—"शम्भु मामा, मेरी भी कोई चिट्ठी है?"

शम्भु ने बालक को देखा, तो वह अपरिचित-सा मालूम हुआ। उसने पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?"

"मेरा नाम विनोदकुमार है, और इस रास्ते के उस नाके के घर में हम रहते हैं।"

बालक की उम्र सात या आठ साल की थी। शम्भु बोला—"अच्छा, तुम्हारी चिट्ठी जब आएगी, तब मैं वहाँ दे जाऊँगा।"

शम्भु आगे बढ़ा। उसे ऐसा लगता था कि यह बालक इस मुहल्ले में हाल ही में आया है। बालक के निर्दोष मुख की तरफ़ उसका हृदय अज्ञातरूप से आकर्षित हो उठा था। रास्ते में शिवचन्द बनिए की दूकान पर शम्भु बीड़ी पीने के लिए ठहर गया। वहाँ दो-तीन कहार बैठ कर बातें कर रहे थे।

"उस नाके के घर में कौन आया है?"—शम्भु ने पूछा।

"क्या पता, कोई कहता था कि एक औरत एक लड़के के साथ हाल में ही उसमें आई है।"—एक कहार ने जवाब दिया।

"औरत क्या बेवा है?"

"भाई, हमने तो उसके मरद को देखा नहीं है, पर कहारिन कहती थी कि परदेस गया है।"

"क्या वह अमीर घर की है?"

"नहीं, मामूली घर की है। काम-काज के लिए एक बुड्ढा नौकर रख लिया है।"

शम्भु को इसमें कुछ रहस्य मालूम हुआ। कोई चिट्ठी आएगी, तो आप ही सब बातें खुल जाएँगी—यह सोच कर चुपचाप आगे बढ़ा।

शाम को लौटते समय शम्भु उसी दूकान के पास से निकला। उसे वही बालक फिर मिला। शम्भु ने पूछा—"तुम कहाँ से आए हो?"

"बहुत दूर एक गाँव है, वहाँ से आए हैं।"

"कौन-सा गाँव?"

"बीरपुर।"

एकाएक घर में से आवाज़ आई—"विनोद!"

"आया!" कहता हुआ वह बालक घर में चला गया।

२

कई दिन बीत गए, परन्तु उस बालक का कोई पत्र नहीं आया। उस बालक के मुख पर आशा के चिह्न हर रोज़ सवेरे दिखाई पड़ते, और 'चिट्ठी नहीं है' यह जवाब देते समय शम्भु का भी हृदय द्रवित हो जाता। "बाबूजी बहुत दूर गए हैं, इसलिए चिट्ठी आने में बहुत

दिन लग जाते हैं।"—कह कर वह बालक चुप हो जाता। हाँ, आशा के वे चिह्न लुप्त हो जाते। दूसरे बालक भी उससे सहानुभूति प्रकट करते हुए उसे ढाढ़स दे देते। किन्तु वह मानो अपनी निराशा छिपाने के लिए हँस पड़ता और खेलने में मस्त होने की कोशिश करता।

एक दिन एकाएक पन्द्रह रुपए का मनीऑर्डर उस बालक की माता के नाम आया। शम्भु आज प्रसन्न था और बालक की प्रसन्नता की कल्पना करता हुआ वह जब उसके घर आया, तो बालक ने उसी पुराने सवाल से शम्भु का स्वागत किया—"शम्भु मामा, मेरी कोई चिट्ठी है?"

"भैया चिट्ठी तो नहीं है, लेकिन मनीऑर्डर है।"

विनोद की माता शम्भु से परिचित हो गई थी और जब तब बातें भी कर लिया करती थी। वास्तव में शम्भु की सहानुभूति ने उसे उसके प्रति आकर्षित कर लिया था।

मनीऑर्डर की बात सुन कर अन्दर से विनोद की माता बोली—"शम्भु भैया, मनीऑर्डर कहाँ से आया है?"

शम्भु ने फ़ॉर्म उसके हाथ में दे दिया और उसने पढ़ कर वापस देते हुए कहा—"यह मनीऑर्डर वापस कर दो। मैं इसे नहीं ले सकती।"

क्यों?"

"नहीं, मुझे इसकी ज़रूरत नहीं है।"

शम्भु ने यन्त्रवत् मनीऑर्डर का फ़ॉर्म थैले में डाला। उसे वह स्त्री रहस्यमयी मालूम होने लगी। बालक चुपचाप खड़ा था।

शम्भु आगे बढ़ा। मनीऑर्डर एक बैंक के ख़ज़ाञ्ची ने भेजा था। शम्भु ने आकर वह मनीऑर्डर पोस्ट ऑफ़िस में वापस दे दिया।

एक दिन शम्भु ने उस बालक को नहीं देखा। लड़कों से पूछने पर उसे मालूम हुआ कि वह बीमार है। शम्भु उस बालक को देखने को व्याकुल-सा हो उठा। वह उसके घर जा कर बोला—"विनोद भैया ?" अन्दर से आवाज़ आई—"कौन ?"

"मैं, शम्भु !"

विनोद की माता बाहर आई। शम्भु को देख कर बोली—"क्या है, शम्भु भैया ?"

"विनोद भैया की तबीयत ख़राब है ?"

माता की आँख भर आई। वह बोली—"बुख़ार आता है।"

"किसी डॉक्टर को दिखाया है ?"

"नहीं भैया, परदेसी ठहरे, डॉक्टर कहाँ से बुलाएँ ! घर ही में काढ़ा बना कर पिलाया है।"

"भैया कहाँ है ?"

"आओ, दिखाऊँ।" शम्भु अन्दर गया। बालक ने शम्भु को देखते ही पूछा—"शम्भु मामा, मेरी कोई चिट्ठी है ?" शम्भु कुछ जवाब नहीं दे सका। बात टाल कर उसने कहा—"मैं शाम को दवा लाऊँगा।"

विनोद बोला—"शम्भु मामा, तुम मेरी चिट्ठी क्यों नहीं लाते ?"

शम्भु मौन था। विनोद की माँ के हृदय को यह शब्द विदीर्ण कर रहे थे। वह बोली—"बेटा, तेरी चिट्ठी ज़रूर आएगी। शम्भु मामा ले आएँगे।"

शम्भु चला आया।

माता ने बेटे को पत्र के लिए ढाढ़स दिया था, लेकिन मनीऑर्डर क्यों वापस किया, इस बात को शम्भु न समझ सका। उसने किसी दिन मौक़ा पा कर सब बातें पूछने का निश्चय किया।

दूसरे दिन शम्भु जब गया, तो विनोद का बुख़ार तेज़ हो गया था। दवा पिला कर माता ने उसे लिटा दिया था।

शम्भु बोला—"मैं आज डॉक्टर को बुला लाऊँगा।"

"भैया, वह तो फ़ीस लेंगे।"

"नहीं, मेरे काम के लिए डॉक्टर साहब फ़ीस नहीं लेते।"

"तुमसे फ़ीस नहीं लेते?"

"बहन, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। कई डॉक्टरों की मुझ पर विशेष कृपा है। और यदि फ़ीस लगे भी, तो इससे क्या? विनोद ने मुझे मामा बना कर सदा के लिए अपना लिया है!"

इसके बाद शम्भु चुप हो गया। फिर उसने ज़रा सकुचा कर कहा—"अगर बुरा न मानो बहन, तो एक बात पूछूँ।"

"क्या पूछना चाहते हो?"

"तुम इस स्थान में अकेले क्यों रहती हो, और विनोद भैया किसकी चिट्ठी की राह देखते हैं? तुमने वह मनीऑर्डर वापस क्यों किया?"

वह स्त्री नीचे मुँह किए कुछ देर खड़ी रही। फिर बोली—"शम्भु भैया, मैं सुहागिन होती हुई भी विधवा हूँ!"

"तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आती, बहन!"

"मैं परित्यक्ता हूँ। मेरे पति ने मुझे त्याग दिया है।"

"क्यों त्याग दिया ?"

वह एक सूखी हँसी हँस कर बोली—"मेरे पति तो पहिले मुझसे बहुत प्रेम करते थे। यह पुत्र हमारे उसी प्रेम का परिणाम है। परन्तु आई० सी० एस० की परीक्षा में पास होने के बाद, जब वह विलायत से आए, तो मेरा स्थान एक ग्रेज्युएट लड़की ने ले लिया। मैंने धर्म और समाज की दोहाई दी तो उन्होंने जवाब में शिक्षा और प्रेम की व्याख्या बताई। मैं तब से विनोद को लेकर अलग ही रहती हूँ। मेरे पिता मेरे लिए काफ़ी सम्पत्ति छोड़ गए हैं। खाने-पीने की कमी नहीं है। किन्तु, मैं स्वतन्त्र रूप से अपना निर्वाह करना चाहती हूँ। अब मुझे अपनी ही जाति से नफ़रत पैदा हो गई है।"

"परन्तु इसमें तो उस लड़की से ज़्यादा दोष तुम्हारे पति का है।"

"हाँ, लेकिन उस लड़की ने अगर मेरे अधिकार की ओर ध्यान दिया होता, तो मेरे पति कुछ भी नहीं कर सकते थे। लेकिन उसने मेरे पति को मेरे विरुद्ध उल्टी बातें सुझानी शुरू कीं। यदि सभ्यता और प्रेम के नाम पर ऐसा ही अनर्थ होता है, तो मैं अपने विनोद को उससे दूर रखना चाहती हूँ।"

"फिर मनीऑर्डर कौन भेजता है ?"

"वह तो मेरे ऊपर दया दिखलाई गई थी! भिखारिन को भीख दी गई थी!! यह काम उसी 'सुशिक्षता' का है। उसी ने बैङ्क के ज़रिए यह रुपया भिजवाया था। वह सोचती होगी कि इससे उसका पाप हल्का

हो जायगा और मेरे प्रति उसका कर्त्तव्य पूरा हो जायगा। शम्भु भैया, क्या मैं पन्द्रह रुपए के लिए अपना सुख बेच दूँ ?"

शम्भु का हृदय इस बात को सुन कर काँप उठा। उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। वह बोला—"बहन, आज से मुझे अपना धर्म का भाई समझो और मैं तुम्हें अब यह स्थान नहीं छोड़ने दूँगा।"

विनोद की माँ एक डाकिए की सहानुभूति देख कर अपने आँसू नहीं रोक सकी।

शाम को डॉक्टर ने दवा दी। माता ने शम्भु की ओर कृतज्ञता से भरी हुई एक दृष्टि डाली। शम्भु विनोद से कह रहा था—"कल तुम्हारी चिट्ठी ज़रूर आएगी, अपनी माँ से पढ़वा कर सुनना!"

३

दूसरे दिन शम्भु विनोद के घर गया। विनोद ने क्षीण स्वर से पूछा—"शम्भु मामा, मेरी चिट्ठी आई है ?"

"हाँ भैया, आज तो तुम्हारी चिट्ठी है। तुम्हारे मामा की चिट्ठी तुम्हारे नाम आई है।"

शम्भु ने पत्र दिया। विनोद की माँ उसे पढ़ने लगी। पत्र के प्रत्येक अक्षर में एक व्यथित हृदय के लिए सहानुभूति थी। शङ्कर मामा का पत्र था। उन्होंने विनोद के स्कूल का हाल और पढ़ाई के बारे में पूछा था। बालक के मुख पर प्रसन्नता की रेखा दौड़ गई। माता की आँखों से आँसू बह रहे थे। और शम्भु के आत्मिक आह्लाद को कौन समझ सकता है ?

जगत् में एक ओर एक परित्यक्ता की पीड़ा को परखने वाला, बालक की वेदना को समझने वाला और ईश्वर से डरने वाला एक सहृदय व्यक्ति खड़ा था। [redacted] जगत् की दृष्टि में वह अपढ़, असभ्य, हृदय के भावों को नहीं समझने वाला, पन्द्रह रुपए की तलब वाला एक डाकिया था!

दूसरी ओर सरकारी ऑफ़िस में बड़े ओहदे पर बैठ कर नारी के हृदय को तुच्छ और खिलौना समझने वाला और पैसे से अपने कर्त्तव्य को मिटा देने की चाह रखने वाला एक व्यक्ति था। लोगों की दृष्टि में वह विद्वान्, कुशल, भद्र और समाज का एक मुख्य व्यक्ति था। उसके यहाँ पन्द्रह रुपए की तनख़्वाह वाले कई नौकर थे!

जगत् इन दो प्रकार के व्यक्तियों की तुलना किस तरह करता है, यह बताना निरर्थक है।







समय और आदमी

[श्री० नलिनविलोचन शर्मा, एम० ए०, बी० ए० (ऑनर्स)]

जब नौकर ने सलवार पर रक्खे अर्जेण्ट तार को धीरेन के सामने रक्खा तब महफ़िल की भूमिका ख़त्म हो चली थी। बारह बजने के बाद साज़िए बाहर चले गए थे। धीरेन और उसके तीनों मित्र अब साथ में एक-एक नाचने वाली को ले कर अपने कमरों में उठ चलने के लिए कोशिश कर रहे थे। आख़िरी बार कह कर प्याले उठाते थे और उन्हें ख़ाली कर फिर भरने के लिए बढ़ा देते थे। दुनिया चक्कर खा रही थी, पर उन्हें दुनिया का सारांश साग़र और साड़ियों में साक्षात् दीख रहा था।

इस वक्त, ज़रूरी से ज़रूरी काम के लिए भी धीरेन के किसी आदमी को वहाँ आने की हिम्मत नहीं हो सकती। पर मुन्शी जी ने तार रिसीव कर उसके महत्त्व को थोड़ा-बहुत महसूस किया था। नौकर को उन्होंने दिलासा देकर बाग़ वाली कोठी में भेजा था, कि श्रीनगर से ज़रूरी तार आया है, यह कहने पर मालिक नाराज़ नहीं होंगे, तुरन्त तार न मिलने से पीछे सब पर बरस पड़ेंगे।

मुन्शी जी की ईमानदारी के बारे में दो राएँ हो सकती हैं, पर उनकी दूर-अन्देशी के सब क़ायल हैं। 'श्रीनगर से ज़रूरी तार आया है,' वाले मन्त्र ने धीरेन की झुँझलाहट को जादू की तरह भगा दिया।

मित्रों पर इसका कुछ असर नहीं हुआ। उन्हें अब इसकी पर्वाह नहीं थी, कि धीरेन का नौकर खड़ा है। पर धीरेन की शिथिल चेतना पर कोड़ा-सा पड़ा था! वह तार पढ़ रहा था—"लीला की हालत एक-बारगी ख़राब हो गई है। पहली गाड़ी से आ सको, तो शायद उसकी आख़िरी मुराद पूरी हो जाए—पिछली बातों के लिए मुझे क्षमा कर, यदि लीला के लिए इतना कर सको तो ऋणी होऊँगा—बङ्किम।"

तार पढ़ते ही धीरेन की सङ्कुचित चेतना विस्तृत हो गई, और वह सँभल गया। एक बार उसकी आँखों के सामने अन्धकार छा गया, पर उसने साहस से काम लिया; जैसा कि जीवन में शायद एक-दो बार ही आदमी करता है। वह उठा। उसने नौकर का अवलम्ब लेना अस्वीकार किया। वह धीरतापूर्वक लड़खड़ाता हुआ बाहर आकर कार में बैठ गया।

दो घण्टे बाद सुबह की मेल से वह रावलपिण्डी के लिए रवाना हुआ। वहाँ से वह श्रीनगर जाएगा। आज की तरह हवाई जहाज़ सुलभ नहीं था, नहीं तो काफ़ी रुपए धीरेन ख़र्च कर सकता था। उसके दिमाग़ में ख़्याल ज़रूर आया था; कि यदि वह हवाई जहाज़ से जा सकता, तो कुछ घण्टों में ही लीला के पास पहुँच सकता था। तब यह आशङ्का, कि वह वहाँ बहुत देरी से पहुँचेगा, उसे इस तरह एकदम गहरी निराशा में घुटने के लिए नहीं छोड़ती।...वह सोचता-सोचता सो गया। इतने वेग से जाती हुई, कि स्थिर-सी लगती मेल की लययुक्त खड़खड़ाहट, ठण्डी सुबह की हवा और नशे को दूर रखने के काम से परास्त हो कर वह जब तक सोया, ख़ूब सोया।

२

वह जगा तो दिन चढ़ आया था। उसका सर फटा जा रहा था। उसे ऐसा मालूम हो रहा था, जैसे डब्बे का तख़्ता उसके सर से टकरा जाया करता हो। गाड़ी रुकने पर उसने रेस्तराँ कार से एक पेग ब्राण्डी मँगा कर अपने सर-दर्द की अव्यर्थ दवा की। अब सो तो वह सकता नहीं। जीवन की भूली-बिसरी बातें जैसे पावनेदार की तरह झाँका देख रही थीं। वह कुछ नहीं याद करना चाहता। पर उसने रेस्तराँ कार के ब्वॉय की फिर से सहायता नहीं ली। वह जानता था, उस मौसम में काश्मीर पहुँचने में काफ़ी दिक़्क़तें उठानी पड़ती हैं, फिर उसे तो समय के साथ होड़ थी, एक-एक क्षण बहुमूल्य था। वह अभी लम्बी बीमारी से उठा था। उसने अपने जीवन की मोमबत्ती को दोनों ओर से ही नहीं बीच से भी, जला रक्खा था। शक्ति के अणुमात्र का अपव्यय वह नहीं करना चाहता था। याद करने से ही घबड़ा उठेगा, तो काश्मीर के रास्ते की वे चक्करदार पहाड़ियाँ कैसे पार होंगी। उन्हें वह पार कर लेगा तब तक...! वह सोचता क्या है। बङ्किम बाबू यों ही घबड़ा उठे होंगे। शायद जब तक वह पहुँचे लीला बिल्कुल चङ्गी हो जायगी। फिर भी बङ्किम बाबू उसे लीला से मिलने के लिए तो कहेंगे ही। वह चाहता क्या है? उसी से क्या चाहा जाता? क्या वह लीला के यहाँ जाने के लिए दुनिया का सबसे बड़ा पाप करने में भी हिचकता? और वह वहीं तो जा रहा है। लीला को उससे मिलने के लिए मना किया गया था। लीला ने भी उस दिन अपनी आँखों देख लिया था, कि सचमुच वह ऐसा आदमी नहीं था, जिसके लिए विवेकशील पिता की आज्ञा का उलङ्घन किया जाए। और उसे लीला के कहने से बङ्किम बाबू ने बुला भेजा है।

लीला क्या सचमुच नहीं बचेगी ? उसने सुना तो ज़रूर था, कि लीला की तन्दुरुस्ती ख़राब होने की वजह से ही बङ्किम बाबू आब-हवा बदलने के लिए काश्मीर गए थे, पर यह तो आज ही सुबह मुन्शी जी से मालूम हुआ था, कि उसे तो यहीं पर डॉक्टरों ने टी० बी० की शङ्का बतलाई थी। उसे मालूम ही कैसे होता?...तो वही लीला के भी अन्त का कारण होगा ?

धीरेन ने अपने जीवन में न जाने कितनी युवतियों को बर्बाद किया होगा। उसे इसका कभी परिताप नहीं हुआ। न उसने अपने को कभी अपराधी समझा! प्रो० शङ्कर की ग्रेजुएट सुपुत्री ने उसके उसी बाग़ वाली कोठी के बन्द दरवाज़े पर सर पटक-पटक कर हार जाने के बाद पिस्तौल से आत्महत्या कर ली थी। वह उसे मोटर पर शहर भेज कर निर्विकार भाव से अपनी उस रात्रि की प्रेमिका के पास चला गया था। मिस त्रिपाठी के विवाह के लिए डॉ० त्रिपाठी को बीस हज़ार दहेज के रूप में देने पड़े थे, क्योंकि धीरेन ने शादी करने के अपने वादे को मानने से इनकार कर दिया था। और फिर भी जब छः महीने के बाद ही चिन्ता ने एक स्वस्थ सन्तान का प्रसव किया, तो उसके पति ने उसे निकाल दिया था।...और, धीरेन के सामने आया—कैसे लीला का उसके जीवन में तभी आविर्भाव हुआ था, जब उसकी बदनामी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। उसे कोई भी शरीफ़ आदमी, जिसके वयस्क बेटियाँ हों, भरसक अपने घर में बैठने नहीं देना चाहता था। उसके आकर्षणों में शायद यह स्त्रियों के साथ प्रवादीभूत सफलता भी एक आकर्षण ही था, क्योंकि अभिभावकों की सतर्कता सदैव काम-

याब नहीं हो पाती थी। तभी की तो बात थी, कि उस दिन सोन के किनारे वाले बँगले में लीला से विचित्र परिस्थितियों में मुलाक़ात हुई थी।

वह दो-चार दिनों के लिए अपनी एक नई प्रेमिका को शहर से ले कर वहाँ आया था। उसे शहर भेज कर वह ख़ुद किसी काम से रुक गया था। एक दिन उस बड़ी रात में लीला, जिसे वह जानता भी नहीं था, घबड़ाई हुई-सी आई थी। उसने कहा था, कि वह अपने पिता और माता के साथ वहीं पड़ोस में ठहरी हुई थी। माँ की तबीयत ख़राब थी इसीलिए वह आई थी। अभी-अभी उनकी हालत अचानक न जाने कैसी हो गई थी, उनका यहाँ कोई परिचित भी नहीं था, शहर से डॉक्टर के आने का कोई उपाय था क्या?

और धीरेन उस रात में मोटर में जा कर डॉक्टर बुला लाया था। उसे विश्वास नहीं होता, वह कैसे किसी के लिए इतना कर सका था, और इससे भी ज़्यादा, तो यह, कि कैसे कोई उससे इसकी आशा कर सका था, उसे ऐसा कुछ करने के लिए कहने की हिम्मत कर सका था। उसने लीला की माँ की दिन-रात अबाधित सेवा की थी। उसे अपने माँ-बाप की याद नहीं। उसके भाई-बहन कोई नहीं। किसी के प्रति उसने कभी ऐसा सोचा-विचारा नहीं, पर जैसे उन दस-पन्द्रह दिनों तक उसके असामाजिक अस्तित्व का एक कारण मिट गया था। मातृत्व क्या चीज़ है; उसे कुछ आभास मिला था। उसे वह भूल नहीं सकता, यद्यपि उस पर विश्वास करने का भी उसे साहस नहीं होता।
...हाँ, तो तभी का परिचय शहर में लौट आने पर भी बढ़ता गया था। दो-तीन महीने तक उनकी यह घनिष्टता बढ़ती रही, और बङ्किम

बाबू के परिवार में यह निःसंदिग्ध-सी बात मान ली गई थी, कि यह आत्मीयता चिरसम्बन्ध में परिणत होगी ही। धीरेन को तो अब भी अपने तत्कालीन सुधार के स्मरण से आश्चर्य होता था। फिर अकस्मात् ही बङ्किम बाबू के व्यवहार में परिवर्तन होने लगा। अत्यन्त सौजन्यपूर्ण रीति से ही, पर स्पष्ट रूप से उन्होंने उसे यह जता दिया था, कि उन्हें उसका और लीला का मिलना-जुलना पसन्द नहीं था।

उसने साहस कर कहा था, कि वह लीला से विवाह करना चाहता था। इस पर बङ्किम बाबू ने केवल इतना कहा था, कि उन्हें उसके चरित्र के विषय में कुछ ऐसी बातें मालूम हुई थीं, जिनके कारण वह इस सम्बन्ध को स्वीकार नहीं कर सकते थे। हाँ, वह यदि उन अभियोगों को असत्य प्रमाणित कर सके, तो वे फिर से विचार करने को सदा तैयार थे। पर धीरेन ने यह कह दिया था, कि उसके अतीत के जीवन के विषय में अतिशयोक्ति का कोई डर ही नहीं था; पर...। बङ्किम बाबू बीच में ही बोल उठे थे, कि वे धीरेन से कभी उऋण नहीं हो सकते थे, पर उन्हें लीला के भविष्य का ख़्याल रखना ही पड़ेगा, और धीरेन को भी, यदि उसे उन लोगों के प्रति तनिक भी सच्चा प्रेम था, तो तदनुकूल आचरण करना चाहिए।

लेकिन लीला ने ही अपने पिता की आज्ञा मानने से इनकार कर दिया था। उसने साफ़ कह दिया था, कि उसे धीरेन के अतीत से कोई वास्ता नहीं था, आगे के लिए उसे आत्म-विश्वास था। पर धीरेन को यह मालूम नहीं था। लीला अपने विद्रोह को अभिव्यक्त करने के लिए उतावली नहीं थी, पर धीरेन ने तो कभी धैर्य का पाठ

नहीं पड़ा था। उसने अपने से सम्भव एक यह महान् कार्य किया, कि उसने लीला के जीवन से अपने को एक बारगी हटा लिया। उसे विश्वास था, कि वह ऐसा द्रव्य था, कि उसके सम्पर्क में आने पर सोना भी लोहा हो जाता। और तब एक दिन जब वह अपनी उसी अभिशप्त बाग़ वाली कोठी में विस्मृति की साधना कर रहा था, बिना ख़बर दिए हुए बङ्किम बाबू लीला के साथ हॉल में घुस आए थे। वह एक ओर क़रीब-क़रीब बदहोश-सा अपनी किसी प्रेमिका के साथ पड़ा हुआ था। दो-एक मित्र भी उसी तरह पड़े थे। वह लीला को देख कर चौंक कर उठ बैठा था। पर पत्थर की तरह बैठा ही रह गया था। उसने बङ्किम बाबू को कहते सुना था—'देख तो लिया न, अब अपनी आँखों से? चलो, चलो!' तब उसे अपने प्रति लीला की भावना के सातत्य का अनुभव हुआ था। उसने जब समझा था, कि तब उसने कुछ नहीं खोया था, पर उस वक़्त उसने सब कुछ खो दिया था। जीवन में उसके साथ सदैव ऐसा होता रहा। उसे मौक़ा नहीं मिला, वह मौक़ा पहचान नहीं पाया।...

और इस तरह वह लीला के अन्त का भी कारण होगा ही।...

वह जगते-जगते सोता, सोते-सोते जगता, दूसरी सुबह पिंडी पहुँच गया।

३

मौसम न होने के कारण पहाड़ों की तरह बस और टैक्सी वालों की भीड़ नहीं थी, फिर भी श्रीनगर तक मोटरों का नियमित रूप से आवागमन रुका नहीं था, और उसे आसा सेमीटैक्सी मिल सकती

थी। पर उसकी आत्मा जानती थी, कि यदि वह उसी दिन शाम तक श्रीनगर न पहुँच सका, तो जाना और न जाना बराबर था। कम्पनी वाले कहने को कह देते थे, कि वे ड्राइवर को कोशिश करने के लिए ताकीद कर देंगे, कि वह शाम तक श्रीनगर पहुँच जाए, लेकिन वह जानता था, कि शाम रास्ते में ही हो जाएगी, और कहीं पड़ाव पर डाक-बँगले में रात नहीं, सारा जीवन गँवा देना पड़ेगा। वह इधर कई बार आया-गया है, उससे कुछ छिपा नहीं। फिर उसने ख़ुद ड्राइवरों को तैयार करना चाहा। वह मुँह माँगी बख़्शीश देने के लिए तैयार था। सभी ड्राइवरों के मुँह से राल टपकी पड़ती थी। सभी कोशिश करने के लिए तैयार थे। पर कोई बीड़ा उठा लेता—ऐसा दिखाई नहीं पड़ता था।

समय भागा जा रहा था। क्या वह आशा छोड़ ही दे समय पर पहुँचने की? उसी समय उसकी हताश आँखें क़तार के अन्त में अपनी गाड़ी के अगले मडगार्ड के सहारे खड़े एक पठान ड्राइवर पर अटकीं। इस चौड़े, पर मोटे नहीं, शायद उससे भी ऊँचे मोटर चलाने वाले में, ज़्यादा क़ीमत की, ज़्यादा हॉर्स पावर वाली मोटर की तरह, असीम शक्ति अदृष्ट सन्निहित लगी। ज़मीन को चूमते हुए तहमत पर घुटनों तक लम्बी आधी बाँहों की क़मीज़ थी। उस पर कहीं-कहीं गन्दी ग्रीस और मोबिल ऑयल के धब्बे थे। उसके सर पर निर्दोष गुलाबी साफ़ा था, जिसका पिछला छोर गले से लिपटा हुआ आगे फहरा रहा था। बाहों और छाती पर पेशियाँ उभरी हुई थीं, जैसे साँप चिपटे हों। मुँह पर जैसे रोज़ मला हो—नङ्गी शक्ति का प्रतीक। श्रीरेन ने देखा, यदि उसे यहाँ भी विश्वास नहीं मिला, तो फिर कोई उपाय नहीं है।

उसने उसके पास जा कर रुपए लेने-देने की बातचीत नहीं की, बल्कि उसने उससे सीधे कहा—श्रीनगर में एक औरत है, जो बहुत बीमार है। वह उसे देखना चाहता है, यदि वह शाम तक श्रीनगर पहुँच जाता, तो शायद उसकी मुराद पूरी हो जाती; क्या...? धीरेन दुर्ललित मनुष्य है। आज तक उसने जो कुछ भी चाहा, उसे प्राप्त कर लिया है। पर उसे आश्चर्य है, जिससे वह रुपए देकर काम लेने जा रहा है, उसी तुच्छ मोटर-ड्राइवर के सामने उसकी वाणी में कैसे इतनी विवशता और याचना आ गई है। लेकिन उसका आश्चर्य आतुर आशा में परिणत हो गया, जब उसने अनुभव किया, कि उस अपरिचित यन्त्र-जीव में कुछ प्रतिध्वनित सा हो उठा।

अल्पभाषी पठान ने कुछ ठहर कर कहा,—उसने आज तक इस मौसम में श्रीनगर का रास्ता दिन-भर में कभी तय नहीं किया था, लेकिन वह समझ गया था, वह एक बार जान लड़ा देगा।

रुपयों के बारे में धीरेन को कुछ कहने का मौक़ा नहीं मिला। अकराम खाँ आदमी के दिल को पहचान सकता था, तो जेब को भी। उसने टैक्सी को तेल, पानी, हवा के लिए घुमाया और धीरेन को कम्पनी से काग़ज़ वग़ैरह ले आने के लिए भेज दिया।

४

स्टैण्ड से छूटते-छूटते नौ बज ही गए। पर एक बार वहाँ से चल निकलने पर धीरेन को अकराम की कुशलता में सन्देह नहीं हुआ। जन-संकुल शहर की सड़कों को ग़ैर-क़ानूनी रफ़्तार से पार करते वक्त, बग़ल में ही बैठे धीरेन ने देखा, अकराम के पैर क्लच, ब्रेक और एक्सि-

लरेटर पर ऐसे सधे पड़ते थे, जैसे हारमोनियम की चाभियों पर उस्ताद की उँगलियाँ। इशारे से गियर बदलता हुआ एक हाथ से भी निःशङ्क स्टियर कर सकता था। शहर के तुरन्त बाहर सीधी सड़क पर स्पीडो-मीटर की सुई साठ पर ठिठकी हुई थी। पर धीरे-धीरे चढ़ाई शुरू हो गई और गाड़ी सेकेण्ड गियर में धीमी पड़ ही गई। आगे के चक्कर ख़तरनाक थे, लेकिन बराबर सतह पर होने पर टॉप गियर में गाड़ी चलाई जा सकती थी। तब दो पहियों पर भी एकदम अन्धी मोड़ों को लेते हुए भी अकराम हिचकता नहीं था। उस वक़्त वेग में ऐंठी गाड़ी विरोध में चीख उठती थी; स्थिर अकराम के निचले होंठ पर दाँत गड़ जाते थे! गाड़ी का पिछला हिस्सा भागता-सा मालूम होता था, लेकिन अगले चक्कों की कुञ्जी इस्पात की उँगलियों में जकड़ी हुई थी, इसलिए वे पूँछ में लिपटे घिसटते चले जाते। हाँ जब चक्करदार चढ़ाई आ जाती, तो सेकेण्ड गियर में रहने के कारण घटी रफ़्तार में सतर्कता से मोड़ लेनी पड़ती थी। धीरेन खीझ उठता था! अकराम निर्विकार चलाता जाता था। वह जानता था मरी के बाद रास्ता अभी और बीहड़ मिलेगा। अभी तो ख़ैरियत है। गाड़ी कभी चार-पाँच मिन्टों से ज़्यादा के लिए नहीं रोकी जाती थी और वह भी जब रेडियेटर भाप उगलने लगता। ऐसे ही मौक़ों पर धीरेन ख़ुद भी पानी या थोड़ी-सी ब्राण्डी पी लेता और अकराम भी।

लेकिन मरी के बाद दिक़्क़तें बढ़ने लगीं। अब बर्फ़ का सामना था। सड़क वालों की सतर्कता और कोशिशों के बावजूद भी-कहीं कहीं बर्फ़ से पाला पड़ ही जाता था, और तब यन्त्र और मनुष्य का साहस

और उसकी कुशलता व्यर्थ हो जाती थी। पर बीच में काफ़ी दूर-दूर तक रास्ता साफ़ मिल जाता था, और सबसे बड़ी बात यह थी, कि उधर से आने वाली गाड़ियों का बहुत कम ख़तरा था। अकराम मौक़ा मिलते ही एक्सिलरेटर पर पाँव दबा देता था। बीच-बीच में पत्थर के ढोके खड्ड में लुढ़क गए थे, इसलिए सड़क की कगारें मुँह खोले भयङ्कर दीख पड़ती थीं पर अकराम अविचलित भाव से दो-एक इञ्च बचाकर सैकड़ों फ़ीट नीचे की झरनों में पुकारती खाई को धोखा दे जाता था!

अकराम ने उस दिन मृत्यु को चुनौती दे दे कर अनगिनत बार धोखा दिया था। जब अन्तिम पोल-गेट पर गाड़ी पहुँची, तब अकराम की घड़ी से समय हो चुका था, कि आगे जाने की इजाज़त नहीं मिलेगी। अकराम ने टूट कर स्टियरिङ्ग ह्वील पर सर रख दिया। पर गेट वालों की घड़ी से अभी आधा घण्टा समय बाक़ी था, और गाड़ी को आगे बढ़ने की आसानी से इजाज़त मिल गई!

श्रीनगर में बङ्किम बाबू के बङ्गले तक पहुँचते-पहुँचते सात नहीं बजे थे।

अकराम को धीरेन ने सौ-सौ रुपए के दो नोट दिए। फिर पूछ कर नोटबुक में उसका पता भी लिखा। अकराम फिर भी खड़ा रहा। धीरेन ने समझा, कि वह और कुछ चाहता है। उसने कहा कि घर लौटने पर वह उसे और रुपये भेजेगा।' वह ज़िन्दगी भर अहसानमन्द रहेगा।

अकराम ने नीची निगाह किए हुए कहा—"साहब, मुझे दस-बीस रुपये चाहिए, सो इस वक्त दे दीजिए, मौक़े-बेमौक़े यहाँ आप को रुपये

की ज़रूरत पड़ेगी, मेम साहब के इलाज में ख़र्च कीजिएगा। मैंने रुपयों के लिये आज मोटर चलाई भी नहीं थी। नाचीज़ की हमदर्दी समझ लीजिएगा!"

धीरेन ने अकराम के प्रशस्त कन्धों पर बङ्किम बाबू के नौकरों के सामने ही अपने हाथ रख दिए। फिर नोटों से भरी पर्स को खोल कर दिखला दिया। अकराम को फिर दूसरे दिन ज़रूर आने के लिए कहा और अन्दर चला गया।

५

दूसरे दिन जब धीरेन लीला की श्मशान यात्रा में निकला, तो उसने देखा अकराम पोर्टिको के एक कोने में सुन्न दुबका हुआ था। वह अपने गुलाबी साफ़े के गले से लिपट कर आगे निकले हुए छोर से अपनी आँख पोंछ रहा था!

और धीरेन को डर हुआ; उसकी बालू की तरह सूखी आँखें जैसे आख़िर भीग रही हों!!



विद्रोही

[श्री० वसन्त कुमार पाण्डे, बी० ए०]

"अगर आज शाम तक आपने पूरा किराया न दिया, तो लाचार हो कर मुझे पुलिस की सहायता लेनी पड़ेगी। आप समझ लीजिए, मैं शाम को आठ बजे आऊँगा !"—एक ही साँस में यह सब कह कर मकान-मालिक तेज़ी से दनदनाता हुआ सीढ़ियों से उतर कर चला गया।

सुरेश के थोड़े से मित्रों में न तो कोई उसके पूर्व इतिहास को जानता था, और न किसी को पूछने का साहस ही होता था, क्योंकि एक सज्जन के एक बार पूछने पर सुरेश ने बताने से साफ़ इन्कार कर दिया था, कि वह कहाँ से आया है, क्या करता है, उसके घर-परिवार का हाल क्या है, इत्यादि। हाँ, सिर्फ इतना लोगों को पता था, कि पाँच-छः महीने हुए सुरेश इस शहर में आ कर बड़े बाज़ार की एक तङ्ग गली के एक दुमञ्ज़िले कमरे में तीन रुपये माहवार किराया दे कर रहता था और बीस रुपये महीने ले कर एक एफ० ए० क्लास की लड़की को तर्क-शास्त्र, नागरिक-शास्त्र व अङ्गरेज़ी साहित्य पढ़ाता था। उसके घर भी कोई आता-जाता न था, क्योंकि वह प्रायः गैरहाज़िर ही मिलता। कभी-कभी वह स्वयं ही मित्र-मण्डली में पहुँच जाता, और तभी उसको मित्रगण देख पाते थे। बीस रुपए महीना ही सुरेश की

आमदनी थी, और इसी में से उसे खाने, रहने, लिखने-पढ़ने आदि सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती थी। नतीजा यह हुआ, कि उसके ऊपर बहुत क़र्ज़ हो गया और चार महीने का मकान का किराया, उस क़र्ज़ का एक छोटा-सा भाग था।

इधर सात-आठ दिन से मकान-मालिक रोज़ाना उसके घर पर आ कर किराए के लिए तकाज़ा करता रहता था; सुरेश आज और कल कह कर रोज़ ही उसे उम्मीद बँधाए था, लेकिन अब मकान-मालिक को कुछ सन्देह होने लगा और इसी कारण आज ऐसे समय, इस बड़े सुबह ही, जब कि बारिश हो रही थी, वह सुरेश को अल्टीमेटम दे गया।

मकान-मालिक के इस प्रकार चले जाने पर दो-तीन मिनिट तक तो सुरेश दरवाज़े पर ही खड़ा रहा, इसके बाद चिन्तित भाव से कमरे में लौटा और एक गहरी साँस लेकर उसने अपने लम्बे व पतले शरीर को आराम-कुर्सी में डाल दिया। पुलिस के ख़्याल ने उसे कुछ चिन्तित-सा कर दिया। कुर्सी में बैठे-बैठे वह सोच में पड़ गया। बीते हुए पाँच-छः महीनों की याद आई, और एक के बाद एक घटना उसके मस्तिष्क में चित्रपट की तरह आने लगी। विचारों का प्रवाह तेज़ी के साथ बह चला!

* * *

बारह बजे के भोंपू ने सुरेश का ध्यान भङ्ग किया। एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर उसने सामने की चारपाई पर से बीड़ी का बण्डल उठाया और एक बीड़ी सुलगाई। दो-तीन मिनिट तक उसे कुछ नहीं

बुझा। इसके बाद वह उठा और बीड़ी को नङ्गे सिमेण्ट के फ़र्श पर डाल कर पाँव की एड़ी से कुचल डाला। दीवाल पर लटके हुए दो पैसे वाले शीशे में उसने अपना मुँह देखा। हलकी बढ़ी हुई दाढ़ी-मूँछों पर उसकी नज़र पड़ी। पास की आलमारी से उस्तरा निकाल कर दाढ़ी-मूँछों में पानी लगाने लगा। इतने ही में उसे फिर मकान-मालिक की रौद्र मूर्ति व पुलीस का ध्यान आया। फ़र्श पर गिरे हुए मैले अँगोछे के टुकड़े से उसने अपना मुँह पोंछ डाला। इसके बाद कुछ सोच कर आलमारी से अपनी पुरानी फ़ाइल को निकाला और उसमें से एक कॉपी को चारपाई पर रख कर बाक़ी फ़ाइल आलमारी में रख दी।

इस समय बारिश कुछ बन्द हो चली थी। सामने सड़क के ऊपर के बिजली के तारों पर से दो-तीन बूँदें थोड़ी-थोड़ी दूर पर एक साथ टकरा कर नीचे गिर रही थीं। सामने वाले बन्द मकान के बरामदे के छज्जों पर बैठे हुए दो-तीन कबूतर अपने भीगे हुए पङ्खों को फड़फड़ा रहे थे। कॉपी को अख़बार में लपेट कर उसने चप्पल पहनी और दरवाज़े में ताला लगा कर वह धीरे-धीरे सीढ़ियों से उतरा।

लम्बी तङ्ग गली से निकल कर चौड़ी सड़क पर दो-ढाई मील चलने के बाद सुरेश एक बँगले के सामने आया और एक काग़ज़ के टुकड़े में अपना नाम लिख कर दरबान को दे दिया। थोड़ी देर में दरबान लौटा, और सुरेश उसके साथ अन्दर गया। बरामदे में ही लाला बनवारीलाल से भेंट हो गई। दरबान को लौटा कर लाला जी सुरेश को अपने प्राइवेट रूम में ले गए और दो-चार इधर-उधर

की बातों के बाद, सुरेश के हाथ में कॉपी देख कर हँसते हुए बोले— "आज कुछ लाए हो क्या ? मेरी तो आफ़त आ गई है। दो-तीन पत्रिकाओं के सम्पादकों के पत्र आए हैं। वे लोग कहानियाँ माँग रहे हैं। आपका तो कुछ पता ही नहीं चलता।"

सुरेश—"इस बीच तो कुछ लिखा नहीं, और आवश्यक कार्यों में पड़ गया था। (कॉपी देते हुए) ये सात-आठ कहानियाँ मैंने बहुत पहले लिखी थीं। विचार था, कि इनको पुस्तक के रूप में अपने ही नाम से प्रकाशित करूँ ; (उदास भाव से) लेकिन अब ऐसा नहीं कर सकता। इस समय रुपए की सख़्त ज़रूरत है, इसीलिए आपके पास लाया हूँ।"

लाला बनवारीलाल ने कॉपी को हाथ में लेकर उसके कुछ पन्नों को उलट-पलट कर देखा और कहानियों के शीर्षक देख कर बोले—"तो आप इसे यहीं छोड़ जाइए। मैं देख लूँगा, फिर आप से बातें हो जाएँगी।"

सुरेश—"जी नहीं ! मुझे इसी वक्त रुपए की ज़रूरत है। आप विश्वास रखिए, ये कहानियाँ बहुत अच्छी हैं। आप चाहें तो पुस्तक के रूप में निकालिए अथवा पत्र-पत्रिकाओं में भेजिए। इतनी कहानियाँ आप मुझसे ख़रीद चुके हैं, फिर भी आपको विश्वास नहीं होता !"

लाला—(कुछ झेंप कर) "नहीं, यह बात नहीं है। मेरा मतलब यह है, कि पढ़ लेने पर मैं इसके ज़्यादा दाम दे सकूँगा। ऐसे ही लेने पर तो आप स्वयं समझ सकते हैं, कि मुझे कितना 'रिस्क' लेना पड़ेगा,

(सिगरेट का पैकेट निकाल कर सुरेश की ओर बढ़ाते हुए) तो जैसा आप कहें, वैसा ही किया जाय।

सिगरेट जला कर कुछ तेज़ी के साथ सुरेश ने कहा—"आप जितना चाहें इसी वक्त दे दीजिए। अगर ठीक जँचा, तो ले लूँगा, वरना दूसरी राह देखूँगा।"

लाला—"अरे, आप नाराज़ न हूजिए। मैं अभी बताता हूँ। अगर आप ही लोग नाराज़ हो जाएँगे तब तो हमारा नाम-धाम सब डूब जायगा।"

सुरेश—"तो शीघ्र बताइए, मुझे और भी बहुत से काम करने हैं।"

लाला—"कुल आठ कहानियाँ इसमें हैं। उसी पुराने हिसाब से सोलह रुपए आप ले जाइए।"

सुरेश—"देखिए, बनवारी लाल जी! यह तो बहुत ही कम है। आप जानते हैं, मैं अपनी एक पुस्तक आपको दे रहा हूँ, जिसको अपने नाम से छपवाने से मैं सौ-दो सौ रुपए सहज ही कमा सकता हूँ। मेरी पिछली कहानियाँ जितनी भी आपके नाम से प्रकाशित हुईं, उन सभी की प्रशंसा हुई। उन्हीं के कारण आपका नाम आज कहानी-जगत में लिया जाता है। ऐसी अवस्था में दो रुपए फ़ी कहानी तो बहुत ही कम है।"

लाला—"और इससे अधिक तो मैं न दे सकूँगा। आप भी बतला दीजिए।"

कुछ दृढ़ स्वर बना कर सुरेश बोला—"पाँच रुपए प्रति कहानी से कम तो मैं हरगिज़ नहीं ले सकता। (आवेश में आ कर) आप नहीं जानते लाला जी, ये कहानियाँ मैंने किस अवस्था में और किस उम्मीद से लिखी थीं। आज तो कारणवश इन्हें बेचना पड़ रहा है, वरना अब तो मेरा पक्का विचार है, कि चाहे भूखा मरूँ ; पर कहानियाँ न बेचूँगा।"

कुछ घबड़ा कर लाला बनवारी लाल बोले—"अरे, सुरेश बाबू, ऐसा न कहिए। आपके ऐसा करने से हमें तो संन्यास धारण कर लेना पड़ेगा! (जेब से रुपए निकाल कर देते हुए) लीजिए, आप इसी हिसाब से ले लीजिए। यह मैं आपको भविष्य की आशा पर दे रहा हूँ, इतना ख़्याल रखिएगा।"

सुरेश—(रुपए ले कर जाते हुए) "जैसा आप समझें।"

* * *

सड़क पर पहुँच कर दरबान से पूछने पर मालूम हुआ, कि चार बज चुके हैं। आसमान में बादल तितर-बितर हो कर फैल रहे थे, और एक नीले विस्तृत कपड़े में जगह-जगह पर लगे सफ़ेद दाग़-से मालूम पड़ रहे थे। तेज़ी से क़दम रखता हुआ सुरेश घण्टे भर में ही मकान पर पहुँच गया। जेब से रुपए निकाल कर गिने और एक सन्तोष (?) की साँस ले कर फिर वहीं रख दिए। आलमारी से डौस्टोवस्की-लिखित 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' (Dostoveskey's Crime & Punishment) उपन्यास निकाल कर पढ़ने लगा।

सात बजे के क़रीब जब अँधेरा हो चला, किताब बन्द कर सुरेश उठा और सीधे भोजनालय की ओर चल दिया। चलते-चलते रास्ते में उसने क़र्ज़ का हिसाब लगाया, तो अनक़रीब पैंतीस रुपए के बैठा। भोजनालय पहुँचते ही मैनेजर ने पहले हिसाब माँगा। उससे बिल लाने को कह कर सुरेश भोजन करने बैठा। कल शाम से उसने कुछ नहीं खाया था। इस वक़्त ज़ोरों की भूख लग रही थी। भोजन के थाल पर सुरेश ने ज़ोरदार हमला कर दिया!

इस शहर में यह होटल मशहूर था। जैसा ही मध्यकालीन युग का यह शहर था, ठीक वैसा ही होटल भी! एक अँधेरी गली के अन्त में यह बना हुआ था। बाहर से देखने में मध्यकाल के किसी मुग़ल बादशाह की घुड़साल की याद आ जाती थी। अन्दर बीचोंबीच एक चौकोर आँगन था। सिमेण्ट की जगह लाल ईंटें काम में लाई गई थीं। आँगन के तीन ओर लम्बे सँकरे बरामदे बने थे। एक तरफ़ ख़ाली ऊँची दीवाल थी। इसी दीवाल के सहारे टीन डालकर रसोई बनाई जाती थी। रसोई के सामने ही ज़रा हट कर एक चौड़ा लकड़ी का सड़ा हुआ तख़्ता रक्खा रहता था। वह कहार के बरतन मलने का काम देता था। पास ही नल भी था। नल के बग़ल में एक पट्टा रक्खा रहता था। उस पर बैठ कर लोग स्नान कर सकते थे। रसोई के सामने वाले बरामदे में दो-तीन गाएँ और बछड़े बँधे थे। गोबर व गोमूत्र की प्रचुरता थी। रसोई के दाहिनी ओर का बरामदा दुमञ्ज़िला था। ऊपर की मञ्ज़िल में मैनेजर साहब सपरिवार निवास करते थे, नीचे के बरामदों में बैठ कर लोग भोजन करते थे। इमारत अन्दर से भी बिलकुल खँडहर थी।

मिट्टी की दीवालें धूएँ से काली हो गई थीं। सारे होटल में सिर्फ़ एक मेज़ और एक कुर्सी थी। वह भी बाबा आदम के ज़माने की। नीलाम में इसे मैनेजर साहब ने ख़रीदा था।

होटल में अधिकतर विद्यार्थी, प्रेसों में काम करने वाले व छोटे-मोटे बाबू आते थे। मैनेजर महोदय आर्यसमाजी थे और इसीलिए कुछ-कुछ राष्ट्रवादी और अङ्गरेज़ी शासन के विरोधी थे। वह सिर्फ़ इसलिए, कि उनके विचारानुसार अङ्गरेज़ी शासन ने भारत की प्राचीन सभ्यता को ख़त्म करना शुरू कर दिया था। प्राचीन सभ्यता को फिर से स्थापित करना इनका राष्ट्रवाद था। अक्सर इसी बात पर होटल में खाना खाते वक्त, बहस छिड़ जाया करती थी। मैनेजर व और सब लोग प्राचीनता का गुण गाया करते थे। उनका कहना था, कि एक समय भगवान रामचन्द्र के राज्य में, भारत में हवाई जहाज़, बिजली इत्यादि वर्त्तमान थीं। सुरेश इन सबका खण्डन करता। फल-स्वरूप कभी-कभी गर्मागर्म बहस घण्टों तक रहा करती थी।

उस दिन भी सुरेश के भोजन करते वक़्त इसी प्रकार की बहस चल रही थी, कि एक नौकर ने आकर ख़बर दी, कि होटल को चारों ओर से लाल पगड़ी वालों ने घेर लिया है, और दारोग़ा साहब मैनेजर को बुला रहे हैं। नौकरों के सिवा और किसी को बाहर नहीं जाने दिया जाता। तलाशी लेने को वह सब आए हैं। मैनेजर साहब जाने ही को थे, कि सुरेश ने उन्हें एक ओर ले जा कर कहा—"दारोग़ा अगर मेरे विषय में पूछे, तो कह दीजिएगा, कि वह नहीं है। अगर तलाशी लेने को कहें, तो आधा घण्टे के बाद लेने को कह दीजिएगा, समझे।"

मैनेजर चालाक था और सुरेश से सहानुभूति भी रखता था; वह बोला—"ठीक है, आप दुमञ्जिले पर चले जाइए। आपही के बताए अनुसार दारोग़ा से कह कर मैं अभी आता हूँ।"

खाना अधूरा ही छोड़ कर सुरेश मैनेजर के कमरे में चला गया। थोड़ी देर बाद मैनेजर लौट आया।

मैनेजर—"अब क्या किया जाय? थोड़ी देर में तलाशी होगी। नौकरों के सिवा कोई बाहर नहीं जा सकता।"

सुरेश—"आप किसी एक नौकर को बुलाइए, मैं उसको अपने कपड़े दे दूँगा और ख़ुद उसके कपड़े पहन कर बाहर निकल जाऊँगा।"

मैनेजर ने नौकर को बुलाया। उसे समझा कर सुरेश ने एक चवन्नी और अपने कपड़े दे दिए और उसके कपड़े स्वयं पहन लिए। सर के बाल फैला लिए। इस प्रकार एक फटी-पुरानी घुटने तक की धोती और मैला कुरता पहन, अएटी में रुपए रख कर, बीड़ी पीता हुआ, सुरेश दारोग़ा और पुलिस के बीच से निकल गया। जाते वक्त, मैनेजर ने उसे दही ले आने को चार पैसे दिए। सुरेश मन में हँसता हुआ गली को पार कर गया।

* * *

बड़े बाज़ार में पहुँच कर सुरेश पूरब की ओर चल दिया। कुछ दूर पहुँच कर एक गली में घुसा, आगे बढ़ कर बाईं ओर वाली एक गन्दी बदबूदार गली पार कर एक छोटे से बँगलानुमा मकान के पास पहुँचा। इस वक्त, रात के दस बज चुके थे। आसमान बिलकुल साफ़ था। चन्द्रमा की शीतल ज्योति चारों ओर फैल रही थी। गली के सब मकान

बन्द थे ! कुत्तों के कभी-कभी भूँकने व चौकीदारों के 'जागते रहो' के नारों के अलावा और सब शान्ति थी । दिन भर के थके-थकाए लोग निद्रा देवी की गोद में आनन्द ले रहे थे ।

यह मकान छोटा, किन्तु स्वच्छ व हवादार था । पिछवाड़े की तरफ़ एक छोटा-सा कमरा था, उसी में अमला रहती थी, जिसको बीस रुपये महीने पर सुरेश पढ़ाता था । पाँच-छः महीने में सुरेश ने अमला को कॉलेज के कोर्स के साथ ही साथ क्रान्तिकारी विचारधारा से भी परिचित करा दिया था । अमला स्वयं राजनीति की ओर आकर्षित होने के साथ-साथ मास्टर साहब की ओर भी काफ़ी हद तक आकर्षित हो चुकी थी । इसको वह सुरेश के सामने व्यक्त भी कर चुकी थी। सुरेश के ऊपर इसका क्या असर हुआ यह जानना मुश्किल है । हाँ, अधिकतर मास्टरी का रोब जमाते हुए वह कभी-कभी मज़ाक भी कर लिया करता था । उस समय अमला आपे से बाहर हो जाती, यदि सुरेश फिर तुरन्त ही मास्टरपना न दिखलाता ।

अमला के कमरे के पास पहुँच कर सुरेश ने धीरे से किवाड़ खट-खटाया । कमरे में अँधेरा था । अमला सो चुकी थी । दो-तीन बार किवाड़ खटखटाने पर, अन्दर से पड़े-पड़े ज़ोर से, शायद डर कर, अमला बोली—"कौन है ?"

सुरेश ने किवाड़ के दरार के पास मुँह ले जा कर कहा—"मैं हूँ सुरेश, ज़रा किवाड़ खोलो । एक ज़रूरी काम है । घर में किसी को मालूम न होने पाए ।"

अँधेरे में ही बिस्तर से उठ कर अमला ने किवाड़ खोल दिए। सुरेश की दृष्टि अमला पर पड़ी। हलका-पतला पेटीकोट व जालीदार जाकेट पहने वह दरवाज़े पर खड़ी थी। चन्द्रमा की रोशनी उसके काले घुँघराले बालों वाले सर से ले कर मेंहदी लगे सुन्दर नाखूनों वाले पाँवों तक पड़ रही थी। जालीदार कपड़ों में हो कर, उसके नए यौवन से भरपूर अङ्ग-अङ्ग को चन्द्रमा की किरणें आलोकित कर रही थीं। क्षण भर के लिए सुरेश विचलित हो उठा।

ऐसे वक्त में ऐसे भेष में सुरेश को देख कर अमला इतनी चकित हो गई, कि उसे अपनी सुध ही न रही। वह भी चुप रही। इसके बाद सुरेश बोला—"लाइट करो, मैं अन्दर आऊँगा।"

कुछ मुस्करा कर अमला ने कहा—"उजाला हो तो रहा है। चन्द्रमा के उजाले के सामने बिजली क्या शोभा देगी? आइए, लेकिन यह सब क्या है?"

सुरेश ने अन्दर पहुँच कर लाइट कर दी। किवाड़ बन्द कर वह बोला—"कम से कम कुछ ओढ़ तो लेतीं। (कुछ ठहर कर) होटल में खाना खाते वक्त, पुलिस ने मुझे ढूँढ़ने को होटल घेर लिया। लाचार हो नौकर का भेष बना कर मैं निकल आया। तुम मुझे अच्छी तरह जानती हो, इसलिए तुम्हारे पास आया हूँ। इस वक्त मुझे कपड़ा पहनने को दो। मैं शीघ्र ही यहाँ से चला जाऊँगा।"

अमला—"पर आप जायँगे कहाँ?"

सुरेश—"इस समय रेलवे स्टेशन जाऊँगा। सुबह पाँच बजे वाली गाड़ी से देहरादून जाऊँगा। वहाँ पर पार्टी के कार्यकर्त्ताओं की मिटिंग

है। देहरादून तो मुझे वैसे भी जाना ही था अब तो और आवश्यक हो गया है। इस शहर में रहना तो अब नामुमकिन है। मालूम होता है, पुलिस को मेरा असली नाम-धाम विदित हो गया है।"

कुछ घबरा कर अमला बोली—"अगर ऐसा है, तब तो आप कहीं न जायँ। कम से कम इस वक्त। पुलिस ने आपके मकान व स्टेशन आदि पर पहरा बैठा दिया होगा। अगर आप निकले, तो पकड़ जायँगे। इस वक्त आप यहीं रहिए, फिर देखा जायगा।"

सुरेश—(कुछ सोच कर) "बात तो ठीक है; पर मैं यहाँ नहीं रहूँगा। मुझे कपड़े दे दो, किसी मित्र के घर पर रात भर रह कर, सुबह किसी तरह यहाँ से निकल जाऊँगा।"

अमला—"कैसी बातें करते हैं आप! इस समय आप कहीं नहीं जा सकते। फिर मेरे पास कपड़े कहाँ हैं? (हँस कर) मेरे कपड़े पहनिएगा क्या?"

सुरेश—"अमला, यह नहीं हो सकता। मेरा तुम्हारे साथ रहना असम्भव है। मैं अवश्य जाऊँगा।"

अमला सुरेश के पास बैठ गई। उसका गला भर आया। बोली—"क्या पढ़ा-लिखा कर यों ही छोड़ जाइएगा, मास्टर जी? फिर न जाने कब भेंट हो। यह रात तो हमेशा की यादगार के लिए छोड़ते जाइए! अब आप न जायँ।"

सुरेश—"अमला, मैंने तुम्हें व अपने को सँभालने की बहुत कोशिश की। परन्तु असफल रहा। यदि तुम्हारी यही इच्छा है, त यही सही। (रुँधे हुए कण्ठ से) लेकिन तुम्हारा मेरा मिलना नहीं

हो सकता, अमला ! मैं ठहरा विद्रोही । घर से, माँ-बाप से, धर्म समाज आदि सभी से मैंने विद्रोह किया है ! अब तुम मेरे रास्ते में न आओ । मुझे जाने दो । तुम जानती हो, मैं शान्तिमय जीवन व्यतीत नहीं कर सकता; जब तक कि इस समाज, धर्म व सरकार का आमूल परिवर्त्तन न हो जाय, जिसकी कोशिश में हम सब लगे हैं । फिर यह सब जानते हुए तुम क्यों आग में कूद रही हो ?"

अमला—"मुझे आप लोग क्यों साथ नहीं लेते ? आप ही ने तो मुझ इन क्रान्तिकारी विचारों से परिचित कराया और अब आप ही मुझे भगा रहे हैं, सिर्फ इसलिए, कि क्रान्तिकारी भावनाओं के साथ-साथ प्रेम की भावनाएँ भी जाग्रत हो गई हैं । आप ही बताइए, इसमें मेरा क्या दोष है ? खैर, मेरी बात को तो छोड़िए, परन्तु मुझे छोड़ कर आप स्वयं भी तो अच्छी तरह काम न कर पाएँगे । साथ ही साथ एक साथी को भी गँवा देंगे । मेरा कहना है, कि मुझे साथ ले कर आप और भी तेज़ी से चल सकेंगे ।"

सुरेश—"मैं तुमको इस गुरुतर कार्य में साथी बनने से नहीं रोकता अमला ! परन्तु और किसी भी प्रकार अपना साथी मैं तुम्हें नहीं बनाना चाहता । अपनी कमज़ोरियों को मैं जानता हूँ । प्रेम-रस पान करते हुए क्रान्ति का कार्य करना मुझ-जैसे के लिए बहुत मुश्किल है । आज चार साल हुए, जब मुझे अपनी माँ से बिछुड़ना पड़ा था, उस दिन भी ऐसा ही प्रश्न उठा था । क्या मैं घर के सब बन्धनों के रहते हुए इस कार्य में पूर्ण रूप से भाग ले सकूँगा ? अनुभव व तर्क ने मुझे बताया, कि यह सम्भव नहीं । इन चार सालों में मैंने माँ का मुँह तक नहीं देखा । पता

नहीं, ज़िन्दा है या मर गई। जब कभी मुझे माँ का ख़याल आता है, तो मैं कुछ कर नहीं पाता। मेरी दशा ख़राब हो जाती है। माँ ने भी मुझसे कहा था, कि वह भी मेरे साथ जेल जायगी, क्योंकि उसकी समझ में जेल जाना ही राजनीति का सब से दुस्तर कार्य है!...''

अमला—''अरे हाँ, याद आया! यह तो बतलाइए, आप कब तक इस प्रकार जेल से बचते फिरेंगे? एक न एक दिन तो वे लोग आपको पकड़ ही लेंगे।''

सुरेश—''जब तक मेरे लिये यह सम्भव होगा, कि छिप-छिप कर भी कार्य कर सकूँ, तब तक मैं छिपा रहूँगा। जब देखूँगा, कि अब छिप कर कार्य नहीं किया जा सकता, तब अपने को गिरफ़्तार करवा, सज़ा भुगत कर फिर मैदान में आ जाऊँगा! जेल से हम नहीं डरते अमला! लेकिन साथ ही साथ जेल जाना मात्र ही हमारी राजनीति नहीं है। हम सब बातों के लिए प्रस्तुत हैं। लेकिन जेल जाने को हम मैदान से भागने के बराबर समझते हैं! हमारा ध्येय है क्रान्ति और तत्त राजनैतिक शक्ति पर क़ब्ज़ा करना। उसी के लिये हम जनता को तैयार करते हैं। इस काम में हमें फाँसी भी हो जाय, तो हम उसके लिए भी तैयार हैं। हमारा काम है, जनता को विद्रोह के लिए तैयार करना और वह हमारे अथवा किसी और के जेल जाने से होगा नहीं, बल्कि बाहर काम करने से, ताकि आख़िरी मोर्चे की तैयारी हो सके। जेल जाने से व्यक्तिगत रूप से नाम हो सकता है, लेकिन तुम जानती हो नाम पैदा करना व लीडर बनना हमारा ध्येय नहीं है। दूसरे देश आज़ाद हुए, कोई इसलिए नहीं, कि उन्होंने जेलख़ाने भरे, परन्तु

इसलिए, कि वहाँ के कार्यकर्ता बाहर रह कर जनता को संगठित कर सकें। जानती हो, जेल से बचने के लिए उन देशों के सच्चे वीरों ने कई-कई दिनों तक भूखे रह कर और भेष बदल कर जनता में काम किया। क्या वे जेल से डरते थे? नहीं! लेकिन जेल जाकर वे जनता को असंगठित नहीं छोड़ सकते थे। राजनीति शक्ति का खेल है, अमला! उसमें संगठित शक्ति चाहिए, ताकि दुश्मन का मुक़ाबला किया जा सके।......"

ठीक इसी वक्त गिरजे की घड़ी ने टन-टन बारह बजाए। चौंक कर सुरेश ने अमला की ओर देखा। मन्त्र-मुग्ध हो ललचाए हुए नेत्रों से वह सुरेश को ताक रही थी। कुछ देर तक दोनों चुप रहे। फिर उठ कर सुरेश बोला—"अब तुम सो जाओ, अमला, मैं जाता हूँ।"

तीर की भाँति उठ कर अमला जाते हुए सुरेश का रास्ता रोक कर खड़ी हो गई और उसकी ओर टुकुर-टुकुर देखने लगी।

"अच्छा!"—कह कर सुरेश उस रात को वहीं रुक गया।

सुबह साढ़े चार बजे उठ कर सुरेश वही नौकर वाले कपड़े पहने देहरादून की ओर चल दिया।

उत्सर्ग

[श्री० चण्डी प्रसाद जी, बी० ए०, 'हृदयेश']

सारा गाँव एक स्वर में चिल्ला उठा कि कलावती विष-कन्या है; पिशाचिनी है। राक्षसिनी है पूर्वजन्म की भयङ्कर पापिन है; उसके देखने मात्र से पाप लगता है। उसकी छाँह पड़ने से शरीर अपवित्र हो जाता है; उसका बोल सुनने से अपशकुन होता है। युवती-मण्डल उसे देखते ही किसी भावी अमंगल की आशंका से उद्विग्न होकर उसके निवारण के लिये देवता को प्रसाद चढ़ाने का संकल्प करता; वृद्ध समाज उसे देखकर उसके पूर्वकृत पापों के लिये उसे धिक्कारता। गाँव के उत्सव उसके लिये मरण समारोह हो गये; तीज का त्यौहार उसके लिये रुदन दिन हो गया। पर कलावती छाती पर वज्र बाँध कर सब सहने लगी। उसने किसी से कुछ न कहा; किसी के मर्म भेदी व्यङ्ग को सुन कर उसने उसे कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। वह अपने मन में ही कुढ़-कुढ़ कर अपना व्यथामय जीवन व्यतीत करने लगी। उसका एक प्रधान उद्देश्य था और वह उसी उद्देश्य की पूर्ति में तन, मन, प्राण से लग गई। अपने पति-देव की अन्तिम आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करने के लिये ही वह विश्व के व्यङ्ग-बाण अपने कोमल वक्षस्थल पर निर्विकार होकर सहती रही। मुँह से उसने किसी के सामने आह तक नहीं निकाली।

प्रथम सौभाग्य-रात्रि के अवसान के साथ-साथ ही उसका सौभाग्य चन्द्र भी सदा के लिये अस्त हो गया था। जिस कुक्षण में वह अपने पिता के यहाँ से अपने परमाराध्य पति के पवित्र घर में आई थी, उसके दूसरे ही दिन उसके हिम्र-शुभ्र ललाट का सिन्दूर दैव के कठोर विधान से पुछ गया। प्रथम रात्रि के शुभ मिलन के उपरान्त ज्योंही प्रातःकाल के समय उसके आराध्य देव विलासमय कक्ष से बाहर आये, त्योंही उनकी तबीयत घबड़ाने लगी। गर्मी के दिन थे—पहिले तो कला ने समझा कि वह गर्मी से उत्पन्न होने वाली साधारण-सी व्याकुलता-मात्र थी; पर जैसे-जैसे दिन चढ़ता गया तैसे-तैसे वह साधारण-सी व्याकुलता असाधारण वेश धारण करती गई और देखते-देखते वह विभीषिकमयी विषूचिका में परिणित हो गई। और सायंकाल होते-होते वे इस नश्वर धरा-धाम को छोड़ कर अक्षय स्वर्ग को चले गये। जिसने पहली रात्रि को पति के पर्य्यंक पर आनन्द से उन्मादिनी होकर अपने परमाराध्य परमेश्वर के प्रणय-पूर्ण वक्षस्थल का शीतल-विलासमय आलिङ्गन प्राप्त किया था, वही नूतन वधू दूसरी रात्रि के आते-आते—बारह घंटे बीतने से पहिले ही—अपने प्राणेश्वर के मृत-शव के पूज्य पाद-पद्म में पतित होकर हाहाकार करने लगी। हा! दैव का कैसा कठोर, कैसा निर्मम, कैसा भयंकर विधान है!

यही कारण था कि सारा गाँव कला को विष-कन्या कहने लग गया था। संसार की गति ऐसी ही है कि वह दारुण दुःख में सहानुभूति दिखाना तो दूर, और उल्टे उसे पूर्व जन्म के पापों का अवश्यंभावी परिणाम कह कर घृणा करने लगता है। यह विश्व-व्यथा को

देखकर आँखों में आँसू भर लाना तो दूर; प्रत्युत मरते हुए के मुख पर दो लातें और मारना जानता है। यही कारण था कि सारा गाँव का गाँव, युवती-युवक-बाल-वनिता सब के सब कलावती के सिन्दूर पुछ जाने पर उसके दुःख में रोये तो नहीं, और उसके प्रति घृणा से भरा हुआ निर्दयता का व्यवहार करने लगे! बेचारी निःस्सहाय, निर्बल विधवा इन सब दुर्वाच्यों को, दुर्व्यवहारों को चुपचाप घर के निभृत कोण में नीरव रुदन करके, मध्यरात्रि के घन अन्धकार को अपनी वेदनामयी विश्वास से कण्टकित करके एवं अपने हृदय के उत्थित हाहाकार को अपूर्व संयम से दमन करके, सहती रही।

वह समय की प्रतीक्षा करने लगी। वह एक प्रकार से कठोर तप में प्रविष्ट हो गई और वह उस दिन के आगमन की बड़ी साध से बाट देखने लगी जिस दिन के लिये उसने अपने इस व्यथित जीवन की रक्षा की थी। उसी दिन के लिये उसने अपने ललाट का उज्ज्वल सिन्दूर पुछ जाने पर उस पर तप्त अंगार रख लिया था; हाथों की चूड़ी तोड़ कर उनमें उसने दुःख की हथकड़ी पहिन ली थी; पैरों के नूपुर निकाल कर उनमें उसने व्यथा की बेड़ी डाल ली थी और अपने स्वर्ग-सदृश सदन को उसने कठोर कारागार में परिणित कर दिया था। कलावती बन्दी-जीवन व्यतीत करने लगी। छोड़ दिया उसने संसार के मोह को; तोड़ दिया उसने सम्बन्ध समूह को, त्याग दिया उसने उल्लासमय जीवन को, ठोकर मार दी उसने जीवन के ममतामय व्यापारों को!!

कठोर साधना—एकान्त तप—यदि सफल होती है तो कलावती अब सफलता से वञ्चित नहीं रह सकती।

२

कला के पूज्य पतिदेव का शुभनाम था—विजयचन्द्र। उनका पैतृक गृह तो था महेन्द्रपुर नामक क़स्बे में पर वे रहते थे विशेषतया लखनऊ में क्योंकि वे वहाँ इलाहाबाद बैंक की शाखा में नौकर थे। उनका वेतन था ८०) । इन ८०) रुपयों में उनका और उनकी पहिली पत्नी का निर्वाह बड़े आनन्द से हुआ चला जाता था। वे थे ज़रा ख़र्चीले स्वभाव के। जो मिलता, जो कमाते सब का सब ही ख़र्च कर देते न तो क़र्ज़ लेकर ख़र्च करते और न वे विचारशील गृहस्त की भाँति संग्रह पर ही कुछ विशेष ध्यान देते। रोज़ कुवाँ खोदना, रोज़ पानी पी लेना। चरित्र के थे पक्के, स्वभाव के थे खरे, और बचपन ही से व्यायाम के थे परम प्रेमी। आरोग्यता भी इसीलिये उन्हें भगवान् ने पूर्ण रूप से दी थी। न तो उन्होंने कभी तीव्र अनुभव किया किसी मानसिक ग्लानि का और न वे जर्जर हुए किसी भयंकर दैहिक व्याधि से; प्रेममयी सुशीला भार्य्या का अतुल, अक्षय, अखण्ड स्नेह पाकर, वे आनन्द में मग्न हो कर अपनी इहलोक की जीवन-यात्रा में निश्चित भाव से, चले निकलते थे। विवाह के सातवें वर्ष उनकी स्नेहशीला सुशीला पत्नी ने उन्हें अपने पवित्र प्रेम का उपहार-स्वरूप एक पुत्ररत्न भेंट किया और वे उस कोमल शिशु को पाकर एक बार ही परमानन्द को प्राप्त हो गये। इहलोक पहिले ही से आलोकमय था; परलोक के अन्धकार को दूर करने के लिये भगवती ने उन्हें एक अमूल्य प्रदीप दे दिया। दोनों लोक सुधर गये।

पर महामाया की रहस्यमयी इच्छा; दैव का निर्भय प्रकोप, भावी का निष्ठुर प्राबल्य। जब वह पुत्र लगभग २ वर्ष का हो गया—तब सहसा उसकी पुण्यमयी जननी को प्रलय-कल्प प्लेग ने भयंकर रूप से आक्रान्त कर लिया। डॉक्टर और वैद्यों ने उसके जीवन से निराश होकर उत्तर दे दिया; धीरे-धीरे मृत्यु की अगाढ़ वीभत्स छाया ने उस सुन्दरी सती के तेजोमय मुखमण्डल को, आषाढ़ के कृष्ण मेघ-मण्डल से समाच्छादित चन्द्रमा की भाँति; अन्धकारमय बना दिया।

प्रातःकाल का समय था। मन्द-मन्द वायु बह रही थी। नियम ही ऐसा है कि प्रातःकाल के समय प्रायः भयंकर से भी भयंकर व्याधि कुछ न कुछ अंश में शान्त हो जाती है; कम से कम व्याकुलता में तो अवश्य कमी हो जाती है। विजयचन्द्र अपनी प्रेम प्लावनी पत्नी की रोग शय्या के पास बैठे हुए एक टक उसके पवित्र, कृष्ण छाया से आवृत वदन-मण्डल को देख रहे थे। निर्वाणोन्मुख प्रदीप जिस भाँति अंतिम बार प्रोज्वल हो उठता है, उसी प्रकार उस महासती का पावन आनन्द भी सहसा तेजोमय हो उठा। धीरे-धीरे क्षीणस्वर में, करुणा से सने हुए शब्दों में, स्नेह से भरी हुई वाणी में, वह बोली—"नाथ! अब मैं जाती हूँ! इस अपने २ वर्ष के बच्चे को मैं तुम्हारे हाथों में सौंपे जाती हूँ। पर तुम ठहरे पुरुष। तुम्हें उसका लालन-पालन करना एक बार ही कठिन हो जायगा। इसलिए प्राणेश्वर, तुम बहुत शीघ्र विवाह कर लेना। स्त्री ही लालन-पालन करना जानती है—सच पूछो तो हमने संसार में औतार ही इसीलिए लिया है। तुम पुरुषों

का न तो यह कार्य ही है और न तुम इसे सुचारु रूप में सम्पन्न ही कर सकते हो। इसीलिये मैं चाहती हूँ कि तुम शीघ्र ही दूसरा विवाह कर लेना। नहीं तो तुम्हें महा कष्ट होगा और बच्चा भी मातृ-स्नेह से वञ्चित रह जायगा।"

विजयचन्द्र ने बड़े दुःखपूर्ण स्वर में कहा—"न प्रिये! सो नहीं होगा। मैं स्वयं ही सब कुछ कर लूँगा। तुम्हारे इस निस्वार्थ स्नेह का क्या यही समुचित प्रतिकार होगा कि तुम्हें इस लोक से विदा करके मैं तुम्हारे उस काञ्चन पीठ पर दूसरी प्रतिमा को लाकर प्रस्थापित कर दूँ? न यह बड़ा निष्ठुर, निर्मम, स्वार्थमय, नीच कृत्य होगा। स्त्री पुरुष का सम्बन्ध ऐसा तुच्छ एवं सहज छिन्न नहीं है। न-न मैं ऐसे धर्म निशिद्ध पापमय कृत्य को नहीं कर सकूँगा।"

उस महासती ने अनुनयपूर्वक कहा—"पर मेरा कहना तो मानना ही पड़ेगा। मेरी यह अन्तिम विनय तुम्हें स्वीकार करनी ही होगी। मृत्यु के द्वार पर खड़े होकर, अपने इस अन्तिम क्षण में मैं तुम्हारे पवित्र प्रेम के नाम पर तुमसे हाथ पसार कर भिक्षा माँगती हूँ। तुम क्या मेरी इस अभिलाषा को—अन्तिम समय की इस आकुल विनय को—अस्वीकार करके मुझे निराश कर दोगे, प्यारे?"

उस महासती के स्निग्ध श्यामल लोचन में दो बिन्दु आँसू के झलक उठे।

विजयचन्द्र ने बड़ी व्यथित वाणी में कहा—"प्यारी! तुम नहीं जानती, तुम सरल हो—संसार को भी सरल ही जानती हो। विमाता आकर बच्चे को और भी कष्ट देगी।"

महासती ने विश्वास से भरे हुए शब्दों में कहा—"न मैं आशीर्वाद देती हूँ—अपने जन्म भर के पुण्य-पुञ्ज को साक्षी बना कर तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि भगवती राजराजेश्वरी कल्याण सुन्दरी की असीम अनुकम्पा से तुम्हें ऐसी भार्या प्राप्त होगी जो हमारे इस सरल शिशु को अपनी गर्भजात सन्तान से भी अधिक स्नेह करेगी। मुझसे भी अधिक तुम्हारी सेवा करेगी और नाथ! विश्वास करके मानो, तुम उसे पाकर कदापि पश्चात्ताप न करोगे। वचन दो तुम मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार करोगे। यदि तुमने इतने पर भी अस्वीकार कर दिया तो नाथ सत्य मानना मेरे यह प्राण सदा आकुल भाव से इस घर के चारों ओर मंडराते फिरेंगे। प्राणेश्वर! मेरे ऊपर दया करके मेरी इस अनुनय की रक्षा करो।"

विजयचन्द्र ने रोते-रोते कहा—"मुझे स्वीकार है।"

महासती के शुचि-स्वच्छ नयन सन्तोष की आभा से उद्दीप्त हो गये। उसने उस सरल, हास्य वदन, शिशु का कोमल कपोल चूम लिया और उसे अपने जीवन-धन के कर कमल में दे दिया। विजयचन्द्र की चरण रज उठा कर उसे मस्तक पर लगा ली! इतना करके वह पवित्र तेजोमयी आत्मा अविनश्वर तुरीय धाम को अपने पवित्र तेज से समुद्भासित करने के लिए प्रस्थान कर गई!!

सतीत्व-सूर्य की सुवर्ण वर्ण किरण माला के प्रेममय स्पर्श से पुण्य-पद्म प्रस्फुटित होता है।

३

हमने प्रथम परिच्छेद में इस बात की सूचना दी थी कि कला ने

किसी विशेष उद्देश्य को सम्मुख रख कर अपने ज्वालामय जीवन की गाड़ी के मार्ग को बदल दिया था। यद्यपि हम उसके पूज्य प्राणेश्वर की अकाल-मृत्यु का समाचार विवृत कर चुके हैं, पर तो भी नीचे के दो परिच्छेदों में हम उस सम्बन्ध की घटनावली का उल्लेख करेंगे। उसके विवृत किये बिना उसके उद्देश्य के मर्म एवं महत्व को पूर्ण रूप से हृदयङ्गम करना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायगा।

शिक्षा थी पर्य्याप्त, जीवन-निर्वाह के साधन थे यथेष्ट, शरीर था निरोग, देखने में थे सुन्दर और तिस पर भी थे प्रभाकर के अवस्थी। विवाह होने में क्या देर थी? शीघ्र ही—पहिली स्त्री के मरने के ४ महीने बाद ही—एटा ज़िले के एक श्रीसम्पन्न डिप्टी-कलेक्टर की सुन्दरी, सुशीला, सुशिक्षिता कन्या से उनका शुभ-विवाह सम्पन्न हो गया।

इस कन्या का नाम था—कला। सोने में सुगन्ध की भाँति, इसमें सौन्दर्य्य और सुशिक्षा दोनों का पूर्ण रूप से सम्मिश्रण था। वह अपने परिवार की एक-मात्र कन्या होने के कारण सब की लाड़ली थी। उसके केवल एक छोटा भाई था—उसका नाम था विमल। एक कन्या और दूसरा पुत्र—दोनों माता-पिता के नयन रूप थे—वे दोनों उनकी आत्मा के प्रकाश थे। कला का बाल्य-जीवन बड़े आनन्द और पवित्रता के साथ व्यतीत हुआ था—उसके पिता ने उसका विवाह भी बड़े सुयोग्य वर के साथ किया था। पर दैव के अटल विधान को कौन मेट सकता है? दैव के जिस आवश्यंभावी विधान से चन्द्रमा सहस्र-सहस्र तारिकाओं से अलङ्कृतीभूत हो कर भी राहु का कवल बन जाता है; भाग्य के जिस प्रबल प्रकोप से प्रसन्न वन-श्री की कोमल गोद में झूमने वाली

सरल, कोमल, गुलाब-कली ग्रीष्म की प्रचण्ड वायु के भयंकर आघात से छिन्न-भिन्न हो कर गिर पड़ती है, जिस ललाट लिपि की अटल रेखा के प्रभाव से अमृत हलाहल में परिणत हो जाता है, जो नियति की निश्चित गति मनुष्य को अज्ञेय प्रेरणा से आक्रान्त करके हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर ले जाकर उसे सहसा, सोचने का समय न देकर, विचारने का अवसर न देकर, अन्धकारमयी कन्दरा में ढकेल देती है—उसे डिप्टी साहब कैसे लौटा दे सकते थे? उस पर न तामील हो सकता था सम्मन, न कट सकता था वॉरण्ट, न दी जा सकती थी कठोर दण्ड की आज्ञा। वह तो समय के रूप में अक्षय, विधान के वेश में अमिट, भावी के स्वरूप में निश्चित एवं कर्म फल के रूप में अटल होकर अपने कार्य में सतत रत रहता है। बाधा का भय नहीं; विरोध का आशंका नहीं; प्रतिरोध की चिन्ता नहीं। पाषाण-रेखा की भाँति उसके अटल विधान से डिप्टी साहब अपनी प्राणोपमा पुत्री की रक्षा न कर सके।

विवाह के साथ ही साथ द्विरागमन की भी रीति पूरी कर दी गई। श्वशुर-सास-विहीन घर में कला जब अपने छोटे भाई विमल को साथ लेकर आई—तब उसके पति ने सब से पहले अपने हृदय के प्रोज्वल रत्न को—२½ वर्ष के उस प्रफुल्ल शिशु-कमल को—उसके कर-कमल में उपहार-स्वरूप अर्पण किया। कला ने हर्षोत्फुल्ल लोचनों से उसके मृदुल-कुसुम—हास्यमय मुख-चन्द्र को देखा। आनन्द से, प्रसन्नता से, बड़े प्यार से, उसने शिशु का कमल-कोमल चूम लिया। पति को प्राप्त करते ही उसे परम प्रिय पुत्र की भी प्राप्ति हो

गई। सरला कला आनन्दातिरेक से उन्मत हो गई। दिन भर वह उस शिशु को, परम मूल्यवान् रत्न की तरह, अपने वक्षस्थल से लगाये रही और एक क्षण भर के लिये भी उसने उसे अपनी प्रेममयी गोद से नीचे नहीं उतारा। वह सरल शिशु एक ही दिन में उससे अत्यन्त स्नेह करने लगा। उस मातृ विहीन बालक को मिल गई स्नेहमयी माँ और कला को मिल गया प्रेम-पात्र पुत्र। दोनों— शिशु औ रकला— मानो खोई हुई सम्पत्ति को पाकर प्रफुल्ल हो गये।

धीरे-धीरे, सायंकाल का समय आ गया। धीरे-धीरे मन्द मातङ्ग-गति से, उसने पति के विलास-शोभी प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। इस प्रथम प्रवेश की सुखमयी स्मृति को कोई रमणी विस्मृत नहीं कर सकती—आजन्म इस आनन्द की पुण्य पुराणप्रभा से उसका हृदय अक्षय प्रदीप की आलोक माला से उद्दीप्त पुण्य-निकेतन की भाँति, समुद्भासित रहता है। उस प्रथम मिलन का स्फटिक-स्वच्छ सुख पवित्र-अक्षय-स्मृति का सौन्दर्यमय स्वरूप धारण करके उसके जीवन को मधुर बनाये रखता है। उस प्रेम प्रभा से प्रोज्ज्वल पर्य्यंक पर एक ओर थे पति परमेश्वर और दूसरी ओर निद्रित था सारल्य-शोभी शिशु और मध्य में, उद्दीप्त दामिनी की भाँति, कान्त-कलेवरा कल्पना की भाँति, पुण्य प्रतिमा पवित्रता की भाँति, स्थित थी सौभाग्य सुन्दरी कला। एक ही दिन, एक ही समय में—उसने प्राप्त किया था पति के प्रेम-प्लावी वक्षस्थल का आनन्दमय आलिङ्गन एवं प्राणप्रिय स्नेह-स्रावी सरल शिशु। सरला कला—सौभाग्य-गर्विता होकर प्रफुल्ल गुलाब-श्री की भाँति शोभायमाना हो गई।

पर प्रायः यह देखा जाता है कि जब मनुष्य को पूर्णानन्द प्राप्त होता है—जब वह सौभाग्य की चरम-सीमा पर पहुँच जाता है—जब हिमाचल के सुवर्णोज्ज्वल शिखर पर आरूढ़ हो जाता है—तभी उस पर सहसा वज्रपात होता है। वैसा ही हुआ—कलावती के पुण्य ललाट पर सहसा वज्रपात हुवा। दूसरी रात्रि के आते ही आते वह दुर्भागिनी होकर भूतल पर लुण्ठित होने लगी। कैसा व्यथापूर्ण दृश्य था; कल जो परम सौभाग्य के रत्न-जटित सुवर्णपीठ पर आसीन हुई थी—कल जिसने सब कुछ—पति-पुत्र-प्रेम—पाया था-आज वह सहसा मेघ-गर्जन-शून्य वज्रपात से, चूर्ण विचूर्ण होकर पतिदेव को खो बैठी—सहसा सुवर्णासन स्खलित होकर भूतल पर पतित हो गई। पतिदेव प्रस्थान कर गये—पुत्र ही केवल उसकी सान्त्वना के लिये अवशिष्ट रह गया। उसका सरल हास्य ही उसका एक मात्र अवलम्ब रह गया।

यही देखकर शास्त्रकारों ने संसार को क्षण भंगुर, असार, कहा कहा है। कितने ही प्रासाद नित्य भग्न होते हैं, कितने राजमुकुट नित्य स्खलित होते हैं, कितने सौभाग्य-बिन्दु नित्य विलुप्त हो जाते हैं, कितनी स्नेह-सरिताएँ नित्य शुष्क हो जाती हैं—सो कौन कह सकता है। सब कुछ खोकर कला भिखारिणी हो गई। आँखों की ज्योति जाती रही—प्राण वायु की सुरभि विलीन हो गई—आनन्द का अम्बुज विरस हो गया। सधवा से विधवा होने में उसे पूरे ४ प्रहर भी न लगे।

"विधि कर लिखा को मेटन हारा।"

४

सारे दिन विजय चन्द्र विशूचिका की विभीषिका से जलते रहे।

वमन और दस्त—दिन भर यही तारतम्य रहा। उसका सारा शरीर गौर से कृष्ण वर्ण का हो गया। उनका मुख विकृत हो गया। सायंकाल होते-होते उनका शरीर एक बार ही शिथिल हो गया और मृत्यु के अविलम्ब आगमन की सूचना उनके मुख पर स्पष्ट रूप से झलकने लगी। महा-आह्वान सुन कर वे जाने के लिये प्रस्तुत हो गये।

उनकी रोग-शय्या के एक पार्श्व में बैठी थी नव-वधू कलावती और और दूसरी ओर बैठा था १२ वर्ष का तरल-विमल। दिन भर वह नववधू अपने स्वामी की सेवा में, मूर्तिमती सुश्रूषा बनकर, लगी रही, सारे दिन उसके मुख में अन्न का एक दाना भी नहीं गया, पानी का एक घूँट भी उसके गले के नीचे नहीं उतरा। वह सब कुछ भूल गई, आत्म-विस्मृति की गोद में वह पड़ गई। यहाँ तक कि भाई विमल को भोजन कराना भी उसे स्मरण नहीं आया। एक ही ध्यान, एक ही चिन्ता, एक ही भावना, एक ही तन्मयी धारणा। स्वामी की सेवा ही उसका महामन्त्र था। किसका ध्यान, किसकी चिन्ता। धीरे-धीरे उसका सर्वस्व-हृदय का हार, आत्मा का प्रकाश, जीवन का अवलम्ब, सिन्दूर का रंग, चूड़ी की ध्वनि, नूपुर की झंकार, सेवा का सौरभ, भक्ति की प्रतिमा, श्रद्धा का भाजन, प्रणयपद्म का विलास, लोचन की ज्योति, पुण्य का प्रभाकर, सौभाग्य का सुधांशु, सब कुछ धीरे-धीरे मृत्यु की अन्धकारमयी कन्दरा में पतित हो रहा था। कला नीरव, बिना रुदन किये, बिना हाहाकार किए, अपने कर्तव्य पालन में संलग्न थी। फल भगवती के आधीन है—कर्म हमारा निज का है। कला मानो इस सिद्धान्त की जीवधारिणी प्रतिमा के स्वरूप

में प्रकट होकर विजयचन्द्र की स्नेहमयी सुश्रूषा में एकान्त चित्त से लगी हुई थी।

धीरे-धीरे रोगी के मुख पर मृत्यु की छाया और भी गाढ़तर होने लगी। उसी समय उन्होंने—विजयचन्द्र ने—एकबार आँख खोलकर कला की ओर देखा। उन आँखों की भाषा, उस दृष्टि का भाव, उस म्रियमाण पुत्तलिका की नीरव वेदना कौन वर्णन कर सकता है। कला ने उनके मुख में गंगाजल दिया।

विजयचन्द्र ने बड़े करुण, क्षीण स्वर में कहा—"प्यारी! मैं जाता हूँ। और इस अपने २½ वर्ष के बच्चे को तुम्हारे हाथों में दे रहा हूँ। यह मेरी पहली स्त्री की भेंट है—यह मेरे उस मृत-प्रेम का एक मात्र अवशिष्ट चिह्न है। कल ही तुम्हें मैंने प्राप्त किया था—और आज ही तुम्हें मैं खो रहा हूँ। कल के ही सहवास में मैंने तुम्हारे प्रेमाप्लुत, सतीत्व, सुन्दर, स्नेह, कोमल हृदय का परिचय पा लिया है। इस बच्चे की माँ इसे मरते समय मेरे हाथ में सौंप गई थी और उसी की अन्तिम इच्छा को पूर्ण करने के लिये मैं इस विवाह बन्धन में आबद्ध हुआ था। उसने आशीर्वाद दिया था कि मैं एक सुशीला, सती, स्नेहमयी भार्या को पाऊँगा। उसका आशीर्वाद तो सच्चा हुआ पर मैं तुम्हें एक प्रकार से चिर व्यथा में जकड़ कर जा रहा हूँ। पर मैं क्या करू? मैं विवश हूँ। किसी तरह इस जीवन को—इस कष्टमय वैधव्य को—काटना ही होगा। पर मेरा यही तुमसे अन्तिम अनुरोध है कि तुम मेरे इस बच्चे का—मेरे इस लाल का—प्रथम प्रणय के इस कोमल प्रसन्न पल्लव का—बड़े यत्नपूर्वक लालन-पालन करना। इसे

पालपोस कर यथार्थ मनुष्य बनाना। यही मेरा अन्तिम अनुरोध है। बोलो प्यारी—पालन करोगी ?"

कला ने आँखों के मोती आँखों ही में रोक कर कहा—"नाथ ! मेरे दुर्भाग्य से आप जा रहे हैं। जाएँ। इस बालक को—अपने इस परम प्रिय पुत्र को—बड़ी दीदी के लड़ैते लाल को—मैं आप के स्नेह की शेष स्मृति—चिह्न मानकर लालन-पालन करूँगी। प्राण देकर भी यदि मैं इसे आदर्श मनुष्य बना सकी—तो मैं उन्हें त्याग देने में क्षण भर भी आगा-पीछा नहीं करूँगी। प्रियतम ! तुम्हारी आज्ञा की—तुम्हारे अनुरोध की—आवश्यकता नहीं थी ! यदि इस बालक के प्रति मेरा सहज स्नेह न होता—यदि इस निर्बोध शिशु का सरल मुख मेरे हृदय में पुत्र-स्नेह की धारा प्रवाहित न करता—तो कला—आप की एकान्त दासी—आप को इस महायात्रा में अकेले नहीं जाने देती। दासी आप के साथ ही चलती—पर नाथ मेरी भी एक विनय है—प्रभो ! उसे स्वीकार करना। दासी की यह प्रथम और शेष भिक्षा है।"

विजयचन्द्र के मुख पर सन्तोष के चिह्न परिस्फुट रूप में परिलक्षित हो रहे थे। वे सस्नेह बोले—"कला ! प्राणेश्वरी ! तुम्हारे लिये मेरे पास कुछ भी अदेय नहीं है।"

कला ने रुद्ध कण्ठ से कहा—"पर मुझे यह वर देते जाइये प्रभो कि जब मेरा यह शिशु—मेरा यह प्यारा अधर—मनुष्य हो जाय; संसार में पूर्ण रूप से अपनी स्थिति को संस्थापित करले, तब मैं आपके लोक को प्राप्त होऊँ—तब मैं निर्विकार हृदय से, विगत-प्रलोभन हो

कर—आपके पाद-पद्म में फिर से समुपस्थित होऊँ—यही आशीर्वाद दीजिये मेरे दीनानाथ।"

विजयचन्द्र ने स्नेह-सरसित स्वर में कहा—"एवमस्तु।"

यही उनके अन्तिम शब्द थे। इसी 'एवमस्तु' पर—इसी पुण्यश्लोक आशीर्वाद पर—इसी इष्ट पर—इसी शुभ वाक्य पर—कला का जीवन स्थित था।

कला उस अबोध शिशु को हृदय से लगाकर पति के पूज्य पाद में नीरव रुदन करती हुई लुण्ठित होने लगी—विमल—भूखा, प्यासा विमल भी बहिन के इस दुर्भाग्यकाण्ड को देखकर हाहाकार कर उठा।

आत्मा के प्रलय का यह जाज्वल्यमान चित्र था। इसी को देखकर कवि का हृदय विस्मय से अवाक्, दुख से कातर, एवं समवेदना से व्यथित हो जाता है।

५

सब समाप्त हो गया। आत्मा अनन्त में विलीन हो गई—शरीर भी भस्म हो गया और भस्म मोक्षदायनी मन्दाकिनी में प्रवाहित कर दी गई। अब रह गई कला के हृदय में प्रणय के प्रोज्ज्वल वर्णों से चित्रित विजयचन्द्र की कल्पना-कल्पित छवि, उनके प्रेम का शेष स्मृति-चिन्ह शिशु अमर और कर्त्तव्य के आवरण से ढकी हुई कला के हृदय की प्रलयाग्नि!

मध्याह्न काल का समय था—कला वैधव्य-वेश में अपनी कोठरी में बैठी हुई थी। आनाभिलम्बित केशकलाप का कहीं नाम भी नहीं था—पति की भस्म के साथ वे मन्दाकिनी के अनन्त गर्भ में विसर्जित कर

दिये गये। मस्तक का सिंदूर दुर्भाग्य के कृष्णाम्बर से पुंछ गया था—हाथ की चूड़ी वज्राघात से टूट गई थी। पैरों के नूपुर बहिष्कृत हो चुके थे। शुभ्र सारी में वह व्यथित कलेवर आच्छादित था। रंग-विलास—सब चिता पर भस्म होगए—धूलि ही अब उसके शरीर की भूषण थी। विमल बैठा था एक कोने में—उदास, बेचारे का मुख कुम्हलाया हुआ और सामने ही कुशासन पर सौम्यदर्शन, ऋषिकल्प डिप्टी साहब बैठे हुए थे। अश्रु धारा से उनका गण्डस्थल आर्द्र हो रहा था।

वे बड़े दुःख भरे कण्ठ से बोले—"बेटी! अब तू इस घर में रहकर क्या करेगी? चल! अपनी माँ की गोद में चल—जहाँ से आई थी वहीं चल। चल तुझे लेकर मैं संन्यासी होकर, मन्दाकिनी-दुकुल पर कुटी बनाकर, रहूँगा। इस घोर व्यथा को शान्त करने का एकमात्र उपाय है तन्मयी साधना।"

कला ने गंभीर स्वर में कहा—"न पिता! पति का पवित्र घर ही रमणी के लिये पावन तीर्थ है। उसी की धूलि से अपने शरीर को धूसरित करके वह पवित्र हो सकती है।"

पिता ने करुण-कण्ठ से कहा—"सो ठीक है बेटी। पर तेरा है नूतन वयस। तू इस घर में एकाकी कैसे रहेगी। तेरी सास नहीं, श्वशुर नहीं—किसके लिये तू विपत्ति में गुहरावेगी?"

कला ने पवित्र तेज के साथ कहा—"पर पिता! पति की स्मृति तो अक्षय रूप से मेरे साथ चिर-सहचरी की भाँति रहती है। सतीत्व का अच्छेद्य कवच धारण करके मैं पति के इस चरण-पूत घर को अभेद्यदुर्ग में परिणत कर दूँगी। पति की अमर स्मृति ही अन्धकारमय

जीवन के कण्टकाकीर्ण मार्ग को आलोकित करती रहेगी। पिता ! तुम्हीं तो इस सम्बन्ध में मेरे दीक्षा-गुरु हो।"

पिता ने कुछ अप्रतिभ होकर कहा—'सो मैं जानता हूँ बेटी ! पर तेरे ऊपर एक बालक का बोझा है। जहाँ तक मुझे ज्ञान है तेरे पति तो कुछ विशेष सम्पत्ति भी नहीं छोड़ गये हैं। तब तेरा निर्वाह कैसे होगा ?"

कला ने उसी आत्मविश्वास के साथ कहा—"इन्हीं चूड़ी-रहित हाथों से ! आपने मुझे कला-कौशल सिखाया है। काढ़ूँगी—सीऊँगी—आवश्यकता होने पर चक्की पीसूँगी। उसी से जो उपार्जन करूँगी—उस से इस शिशु का पालन करूँगी। पिता ! पति की इस आज्ञा को उनकी दासी प्राण देकर भी पालन करेगी।"

पिता ने कुछ-कुछ अनुनय के भाव में कहा—"बेटी ! तू क्या मेरी नहीं है ? मैं क्या तेरा नहीं हूँ ? यदि मेरे घर ही पर इस शिशु का पालन-पोषण होगा तो क्या उसमें कुछ हानि है ?"

कला ने बड़े उज्जवल आत्म-प्रकाश के स्वर में स्वर मिलाकर कहा—"हे ! पिता—पूज्य पितृ-देवता—अप्रसन्न मत होना। यदि कदाचित् बड़ा होकर यह बालक यह जान पावेगा कि मैंने इसके पिता की आज्ञा न मानकर स्वयं अपने हाथों से नहीं किन्तु ननिहाल के द्वारा इसका लालन-पालन करवाया था—तो वह आजन्मव्यापी आत्मग्लानि पावेगा और स्वयं मैं पति की अन्तिम आज्ञा का उल्लंघन करने वाली नीच पापिन मानी जाऊँगी। पिता—मेरे देवता—इस कलंक से मुझे बचाइये।"

पिता ने एक बार अन्तिम प्रयास करते हुए कहा—"न सो मैं नहीं चाहता—पर तू मेरी स्थिति को देख। देख मेरा यह बूढ़ा शरीर—उस

कर यह वज्र—सा आघात-में तेरा यह कठोर जीवन देख कर कैसे जीवित रहूँगा बेटी ?" कला ने विशुद्ध धार्मिक अनुभूति की प्रेरणा से कहा—"इसीलिये में चाहती हूँ कि आप दो मास में—१ मास में कम से कम एक बार मुझे दर्शन दे जाया करें ! मैंने जिस प्रकार अपने जीवन-निर्वाह की क्रिया को सम्पादन करने का संकल्प किया है—उसमें आपकी सहायता अनिवार्य्य रूप से आवश्यक है। मुझे विश्वास है कि आपके चरण-कमल की पुण्य-पराग को मैं अपने मस्तक पर धारण करके अपने इस वैधव्य-व्रत को सफलतापूर्वक उद्यापन कर सकूँगी। पिता ! मुझे मार्ग दिखाओ—तुम्हारी यह अधम पुत्री तुम्हारे चरणों में यह भिक्षा माँगती है। आशीर्वाद दीजिये पिता ! मैं अपने इस पुण्य संकल्प को पूरा कर सकूँ।" पिता ने अन्ततः साश्रुलोचन, एवं गद्गद् कण्ठ होकर कहा—'ऐसा ही हो बेटी ! यद्यपि तू आज वैधव्य वेश में है पर मैं तेरी जैसी सती-साध्वी का अभागा जनक हूँ—यह बात मेरे मन को शीतल-सा कर रही है। ओहो ! ऐसी पुण्यमयी सती की ऐसी दुखमयी जीवन लीला ! हा महामाया ! हा जगज्जननी।"

वृद्ध पिता के स्निग्धोज्ज्वल लोचन से अविरल अश्रुधारा पतित होने लगी। पिता के आँसू अपने अञ्चल से पोंछकर दुखी बेटी उनके दुःख में उन्हें सान्त्वना देने लगी—बोली—"पिता ! वैधव्य एक प्रकार की अग्नि-परीक्षा है। उसमें हम स्त्रियाँ अपनी शरीर की आहुति देकर पवित्र होती हैं। पिता ! पुण्य को दुख में देख कर ही उसके पावनत्व और महत्व का परिचय प्राप्त हो सकता है। पाप तो नित्य पतित है। जैसे सोने का खरा-खोटापन अग्नि की ज्वलन्त शिखा में

प्रकट होता है—स्त्री का सतीत्व भी वैधव्य की कठोर यातना में पूर्ण-रूप से प्रमाणित होता है। पिता! धीर गम्भीर मेरे पिता! आपके चरणों की दासी, आपकी यह अधम सन्तान आपके सम्मुख पूर्ण विश्वास के साथ कहती है कि वह व्यथा के महादुस्तर सागर को अतिक्रम करके पतिलोक को प्राप्त कर लेगी। पिता! माँ को भी समझाइयेगा—मेरे इस बज्रपात को सुन कर वे मर्माहत हुई होंगी—जिसमें उनके प्राणों की रक्षा हो—उस पर विशेष लक्ष्य रखना होगा। पिता! चरण-रज दीजिये।"

कला ने पूज्य पिता के वंद्य पादारविन्द की पुण्य पराग को अपने चिर-पुण्य ललाट पर लगा लिया। वाष्पावरुद्ध कण्ठ से पिता ने, उसके पुण्य मस्तक पर शान्त शीतल कर स्थापन करके कहा—"बेटी! तेरी यह वैधव्य-व्यथा पति की पवित्र स्मृति-सरिता से सदा शीतल बनी रहे।"

देवताओं ने आकाश में, धर्म ने निखिल सृष्टि के सत्य-सिद्धान्त-सदन में, एवं जगद्धात्री ने प्रत्येक परिमाणु में स्थित होकर कहा—'एवमस्तु।'

६

हिन्दुओं के यहाँ जितने नियम हैं—सब में एक प्रकार की आन्तरिक सहानुभूति का शुद्ध परिचय मिलता है। जब हमारे यहाँ कोई रमणी दैव-प्रकोप से विधवा हो जाती है तब निकट के सम्बन्धी उसे कुछ रुपया देते हैं। कला को भी इस प्रकार लगभग १२०) रुपये मिल गये थे। ८०) घर में नक़द शेष थे। इस प्रकार उसके पास २००

नक़द, कोई २०००) का गहना और वह पैतृक गृह था। ३ महीने के लिये भोजन भी पर्य्याप्त था। पर उसका आदर्श था इतना ऊँचा कि उसकी सफलता के लिये लगभग १०,०००) की आवश्यकता थी।

वह अधर को विलायत भेजकर उच्च शिक्षा दिलाना चाहती थी। जब संकल्प दृढ़ हो जाता है; अध्यवसाय अशिथिल हो जाता है, और महामाया के श्री चरणों में अखण्ड विश्वास हो जाता है—तब उद्देश्य की सफलता भी निश्चित हो जाती है। सुना है संकल्प की शुद्धि और दृढ़ता ने भगवान तक को लगटों कच्चे धागे में बाँधकर नाच नचाया है!

इसी २००) का उसने काढ़ने के लिये कपड़ा, सूत, रेशम, सलमा इत्यादि मँगाया। साल भर में यह काम उसने पूरा किया। २००) के लगभग ४२५) उसे प्राप्त हुए। इसी भाँति जब तक अधर ११-१२ वर्ष का हुआ—तब तक उसने लगभग २०००) रुपया जमा कर लिया। वह उसने अधर के नाम से बैङ्क में जमा कर दिया था।

भगवती की कृपा से अधर की प्रतिभा बड़ी प्रखर थी। महेन्द्रपुर का स्कूल था केवल ८वीं कक्षा तक। वहाँ की पढ़ाई की समाप्ति करके वह लखनऊ पढ़ने गया। अपने कला-कौशल से, रात्रि-दिन परिश्रम करके वह उसे खर्चा भेजती रही! अधर ने इतिहास में एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास किया। इधर बैङ्क में २०००) के हो गए ३२००)।

अब अधर चले विलायत को। उस समय का दृश्य करुणा, स्नेह और ममता का महा समारोह था। ३२००) बैङ्क से निकाल कर पूरे ३८००) में अपने समस्त आभूषण बेच कर उसने अधर के वास्ते

२०००) का प्रबन्ध कर दिया। पर उसे विलायत भेज कर कला का वह अध्यवसाय, वह साहस, वह स्फूर्ति—सबके सब अन्तर्हित हो गये। जब उद्देश्य सिद्ध हो जाता है, जब मनुष्य सुदूरवर्ती लक्ष्य पर पहुँच जाता है—तब स्फूर्ति तो अन्तर्हित हो जाती है और आत्म-सन्तोष एवं आत्मानन्द का सम्मिश्रित अलसभाव उसके स्थान पर अधिकार कर लेता है।

कला अधर के पुनरागमन की प्रतीक्षा करती हुई अपने घर में बैठी रहती। किसी प्रकार कुछ कर लेती और उसी से उसका भोजन चल जाता।

❀ ❀ ❀

आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि उसी गाँव के वे ही लोग जो उसे विष-कन्या, राक्षसिनी, पिशाचिनी कहते थे—अब उसे देवी अन्नपूर्णा, कहने लगे। इतने बड़े, ऊँचे, शिक्षित पुरुष की पुण्यमयी जननी होकर कला गाँव भर में पुजने लगी।

लग्नमयी साधना ही सिद्धि का एकान्त साधन है।

७

अधर बैरिस्टर हो कर विलायत से वापिस आ गये। अब वे लखनऊ में बैरिस्टरी करने लगे। प्रतिभावान थे—शीघ्र ही उनका यह व्यवसाय चल पड़ा। वे शीघ्र विपुल धन के स्वामी हो गये।

यद्यपि अधर ने बहुत कुछ कहा पर कला अपने पति के पैतृकगृह को छोड़ कर लखनऊ नहीं गई। वह पति ही के घर को काशी मानती

थी—अब तो पति-लोक जाने का समय था—अब क्या अन्तिम समय में वह काशी को छोड़ कर चली जाए ? असम्भव !

अधर प्रति शनिवार को आकर मातृवन्दना करते—प्रति सोमवार को वे जननी के पद पंकज की पराग मस्तक पर धारण करके अपने कार्य क्षेत्र को लौट जाते।

इतवार का दिन था। प्रातःकाल का समय था। सूर्य देव अपने सुवर्ण वर्ण किरणों से पीताम्बर गूँथ कर परम-प्रिया पृथ्वी देवी को प्रेमपूर्वक पहिना रहे थे। मन्द समीर पल्लवपुंज से प्रेममय परिहास कर रहा था। पक्षिगण महामाया का गुणानुवाद गा रहे थे।

अधर ने आकर माता के श्रीचरणों में प्रणाम किया। कला ने सस्नेह उनके शिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया। उन्होंने उसे अपने पास ही बैठा लिया। वह एक टक अधर के प्रसन्न मुखमण्डल को देखने लगीं।

कला के मुख पर एक स्वर्गीय तेजोमय भाव उदित हुआ था। उसके मुख पर एक विशेष प्रकार की आभा परिलक्षित होती थी। अधर भी माँ के पवित्र मुखमण्डल पर अनिमेष दृष्टि का प्रवाह बहाने लगी। थोड़ी देर बाद अधर ने पूछा—"माँ ! आज तुम्हारा यह भाव कैसा है ? आज तो तुम मानो किसी विशेष संकल्प की आभा से जगमगा बैठी हो।"

कला ने कहा—"हाँ ! बेटा ! आज मैं अपने शुद्ध संकल्प की प्रसन्न-सफल-मूर्ति को देख कर आनन्द से उत्फुल्ल हो उठी हूँ। मैंने जिस उद्देश्य से, जिस भावना से, आज तक प्राणों की मोह-ममता

को नहीं परित्याग किया था, वह आज पूरा हो गया। तू संसार में प्रविष्ट हो गया—तेरा सुख-सूर्य चमक उठा। तुझे २½ वर्ष का मेरे हाथों में सौंप कर मेरे स्वामी मुझे यह आज्ञा दे गये थे कि मैं तुझे मनुष्य बनाऊँ। भगवती के श्री चरणों की कृपा से मेरी वह कामना सफल हो गई। इस लोक में मेरा जो उद्देश्य था—वह सफल हो गया। बेटा! अब मैं आज तुमसे विदा लूँगी। तेरे पिता मुझे वचन और वर दे गये हैं कि अधर के मनुष्य होते ही वे फिर मुझे अपने पाद पद्म की सेवा में ले लेंगे—वे मुझे अपने पास बुला लेंगे। अब आज मैं उनके पास जाऊँगी। बेटा प्रसन्न मन से अपनी माँ को विदा करो। भगवती तुम्हारा कल्याण साधन करेंगी—वे ही अब से तुम्हारी माँ होंगी।"

अधर बालकों की तरह रो पड़े। बोले—"माँ मैं नहीं जाने दूँगा। तुमने विमाता हो कर भी मुझे जिस प्रकार पाल-पोस, सब कुछ करके अकाल परिश्रम रात्रि-दिन अध्यवसाय करके मुझे शिक्षित बनाया ऐसी तो गर्भधारिणी माँ भी नहीं होती। पर माँ! पिता का अधिकार है तो पुत्र का भी माता पर अधिकार है। न माँ! मैं नहीं जाने दूँगा।" अधर माँ का शुभ्र-स्वच्छ अञ्चल पकड़ कर बालकों की भाँति रोने लगे—किसी भी भाँति उन्हें सन्तोष नहीं होता था।

कला ने उसके आँसू अपने आञ्चल से पोंछ डाले—वे बोलीं—स्नेह भरे, करुणा से सने, प्रेम से परिपूर्ण शब्दों में बोलीं—"बेटा! ज़रा सोच तो सही। तेरे पिता को स्वर्ग में मेरे बिना कष्ट होता होगा! मैं जानती हूँ कि तेरी माँ—मेरी बड़ी दीदी—उनकी सेवा करती होंगी

पर तो भी उनका हाथ बटाना मेरा परम कर्तव्य है। वे जब थक जाएँगी—मैं दोनों की सेवा करूँगी। बेटा! तू मुझे मेरे कर्तव्य से रोकता है। इस प्रकार का भाव तुझे शोभा नहीं देता बेटा! मा लाल! स्त्री के लिए पति-देव के श्री पाद-पद्म ही पुण्य तीर्थ है। इस पावन तीर्थ यात्रा में बाधा डालना पाप है।"

अमर चुप हो गया—माता के चरणों में प्रणाम करके, उनके उस तेजस्वी, पवित्र भाव से उद्भासित, बदन-मण्डल को एक टक होकर देखने लगा।

सती उठी। गोबर से लिपी हुई पृथ्वी पर वह लेट गई। देखते-देखते क्षण भर में, उस प्रफुल्ल-चन्द्र से एक पवित्र तेज निकल कर अनन्त आकाश की ओर चला गया।

पराग उड़ गया, विरस पुष्प रह गया। प्रकाश चला गया, स्नेह-शून्य प्रदीप रह गया। पुण्य चला गया, पाप मात्र रह गया।

※ ※ ※

अमरचन्द्र ने एक बड़ा विशाल कला भवन स्थापित किया। उसमें देश के नवयुवक कला-कौशल की शिक्षा पाने लगे। वही कला-कौशल जिसके आश्रय से महासती कला ने धन उपार्जन करके अमर-चन्द्र को उच्च शिक्षा से विभूषित किया था।

उस विशाल मन्दिर के सर्वोच्च सुवर्ण मण्डल पर सूर्य देव और चन्द्रदेव, नित्य ओजस्वी वर्णों में लिख देते हैं—"उत्सर्ग" !!

भाभी

[श्री० अखौरी गंगा प्रसाद सिंह]

रामेश्वर के विवाह के तीन वर्ष बाद, उनकी माता ने अपनी भौतिक लीला समाप्त कर चिरकाल के लिये महायात्रा की।

रामेश्वर की स्त्री उमा की उम्र तब प्रायः पन्द्रह वर्ष की थी। रामेश्वर का एक छोटा भाई था। उसका नाम था जगदीश्वर। जगदीश्वर उमा से दो वर्ष छोटा था। उमा के एक दो वर्ष का भाई था, उसका नाम भी जगदीश्वर था। वह उमा के विवाह कुछ दिन पहले ही मर गया था। उमा ने ससुराल में आकर अपने इस समवयसी देवर को देखकर पहले दिन ही न जाने क्यों घूँघट के भीतर से स्नेह की दृष्टि से देखा। फिर जब उसने यह सुना कि, देवर का नाम जगदीश्वर है तो उसकी आँखों में आँसू छलछला आए।

नई बहू के बुलाने में जगदीश्वर को अधिक श्रम नहीं करना पड़ा; कारण, उमा पहले से ही उत्सुक मन से बैठी थी कि, कब उसका देवर उससे बातचीत करने आवेगा।

जगदीश्वर ने आकर कहा—"भाभी, क्या मुझ से नहीं बोलोगी? अगर नहीं बोलोगी तो मुझसे तुमसे खुट्टी हो जायगी।"

उमा ने एक मीठी हँसी हँस कर कहा—क्यों? क्या मैंने यह कहा था कि मैं आप से बात नहीं करूँगी।"

जगदीश्वर ने बाज़ी मार ली; 'कारण, उमा ने घर में आ कर सब से पहले उसी से सम्भाषण किया। इसके पहले भी अनेक लोगों ने उसे बुलाने की चेष्टा की थी; किन्तु उमा ने जगदीश्वर को देख कर यही स्थिर किया था कि, पहले-पहल वह उसी के साथ बातचीत करेगी। जगदीश्वर अपने विजय के अभिमान को छिपा कर रख नहीं सका; विजित के प्रति स्नेह से अथवा अनुग्रह से द्रवित होकर वह कई एक काले जामुन और अमरूद उसके सामने प्रेमोपहार स्वरूप रख, नए उपहार की खोज में चला गया।

कुछ दिनों के परिचय के बाद उमा ने जिस दिन डबडबाई हुई आँखों से जगदीश्वर से कहा कि, मेरे एक छोटा भाई था और उसका नाम भी जगदीश्वर था। उस दिन जगदीश्वर की आँखों में भी आँसू उमड़ आए। उसी दिन से जगदीश्वर ने उमा से अपना हेल-मेल बढ़ा लिया और उमा की सुख-शान्ति के लिये जो कुछ व्यवस्था उसकी बालकोचित बुद्धि में समाती थी, उसके करने से वह बाज़ नहीं आता था।

हठात् एक दिन स्कूल से आकर उसने उमा को अकेले में बुला कर कहा—"अच्छा भाभी, जगदीश्वर तुम्हें क्या कह कर पुकारता था?" उमा ने उदास मन से कहा—"जीजी।"

"अच्छा, मैं तो तुम्हें आज तक भाभी कह के पुकारता था, अब इसे छोड़ जीजी ही कह के क्यों न पुकारूँ? और तुम मुझे मेरे नाम से पुकारना, समझीं, यह कह कर जगदीश्वर ने एक बार इधर उधर देखा।"

"हाँ ऐसा हो सकता है।" उमा ने मृदु स्वर से कहा।

अपने शोक की तीव्रता को दूर करने का, बालक के इस यत्न को देख, उसने अपने हृदय में सान्त्वना पाई।

जगदीश्वर ने सङ्कोच से पूछा—"अच्छा हाँ, तुम अपने जगदीश्वर को क्या कह कर पुकारती थीं?" उमा उसके हृदय के भाव को समझ सकी या नहीं, यह विचार कर जगदीश्वर मन ही मन लज्जित हुआ।

"मैं उसे जगदीश कहके पुकारती थी।" यह कहते-कहते उमा का गला शोक से रुँध गया।

"अच्छा, मुझे भी यही कहके पुकारना।" यह बात उमा से किस भाँति कहे इसी दुविधा में जगदीश्वर पड़ा था।

उमा ने कहा—"आपको जगदीश कहके पुकारने की मेरी बहुत दिन से इच्छा है, लेकिन इससे आप अपने मन में क्या सोचेंगे और लोग सुन कर क्या कहेंगे, इसी डर से मैं आपको कुछ नहीं कहती थी।" इसी समय उमा के गालों पर कई बूँद आँसू बह आए।

जिस बात को कहने में लज्जा जगदीश्वर को बाधा दे रही थी, उसे उमा ने कह कर दूर कर दिया; इससे जगदीश्वर के चित्त को बड़ी शान्ति मिली।

थोड़ा पास खिसक जगदीश्वर ने उमा का हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे कहा—"देखो जीजी, आज से मैं तुम को जीजी कहके पुकारूँगा और तुम जब कोई न रहे, तो जगदीश कहके पुकारना और अगर कोई रहे तो बबुआ कहके पुकारना। समझीं? और एक बात है, अगर तुम मुझे 'आप' कहोगी तो फिर तुमसे मुझसे कुट्टी हो जायगी। समझीं?"

उमा इस अकपट स्नेह में एक बारगी जकड़ गई। उसके अतुल भ्रातृ-स्नेह का उमड़ता हुआ सोता केवल भाई के अभाव से निश्चय ही रुका हुआ था, आज वह जगदीश्वर को अपनाकर पवित्र गङ्गोदक की भाँति सहस्र धाराओं में उमड़ कर बहने लगा।

जगदीश्वर ने माँ के पास आकर कहा—"माँ, मेरे तो कोई जीजी नहीं है इसलिए मैं भाभी को ही जीजी कहूँ?"

"अच्छी बात है।"

दो वर्ष के बाद जब माँ मृत्यु-शैया पर पड़ी थी तो उन्होंने बहू को बुलाकर कहा—"बहू! जगदीश तुम्हारा ही भाई है, उसे तुम्हीं देखना, तुम स्वयम् बुद्धिमती हो, तुम्हें और अधिक क्या कहूँ"—जगदीश से कहा—"जगदीश, बहू इतने दिनों तक तुम्हारी जीजी थी, आज से तुम्हारी माँ के समान हुई, तुम दोनों भाई-बहिन खूब हिल-मिल कर रहना।"

२

सास की मृत्यु के बाद उमा को विवश होकर मालकिन का दायित्वपूर्ण पद ग्रहण करना पड़ा।

रामेश्वर मेडिकल कॉलेज में पढ़ते थे। कॉलेज के तीसरे और चौथे वर्ष में श्रम अधिक करना पड़ता है। कभी-कभी वहीं पर रुक जाना पड़ता है। इसी से रामेश्वर को घर जाने की छुट्टी नहीं मिलती थी। जो दो बार आए, उसमें पहली बार उमा से कई दिनों तक साक्षात् नहीं हुआ, दूसरी बार जब वे आए, तो उमा अपने मायके गई थी, इसलिए भेंट नहीं हो सकी; अस्तु, पति-पत्नी में घनिष्ठता बढ़ने का कोई अवसर नहीं

मिला। विशेषतः रामेश्वर अपनी डॉक्टरी सीखने की ओर एकाग्र मन से झुके हुए थे और उमा भी हिन्दू घर की लज्जावती बधू थी।

माता की मृत्यु के बाद उमा और जगदीश्वर को पटना के एक भाड़े के मकान में छोड़ कर रामेश्वर फिर चले गए। परिवार में कुल यही तीन प्राणी थे। गाँव पर जो कुछ जगह-ज़मीन थी, उसी की आमदनी से गृहस्थी चलती थी। दीवान जी को उपरोक्त सम्पत्ति के देख-भाल का भार देकर रामेश्वर, उमा और जगदीश्वर को लेकर पटना चले आए।

दीवान जी पुराने कर्मचारी थे, विश्वासी और रामेश्वर के पिता के हितैषी मित्र थे। रामेश्वर इस बात को भली-भाँति जानते थे कि, उनके ऊपर सम्पत्ति का भार छोड़ने से किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं है।

अस्तु, रामेश्वर पटने के घर में आकर, मनुष्य की हड्डी आदि को तथा जगदीश्वर और उमा के लिए नितान्त दुर्बोध कठिन-कठिन डॉक्टरी की पोथियों को लेकर निश्चिन्त मन से अपने अध्ययन में लग गए।

उमा रामेश्वर के पढ़ने के घर में अदब के कारण प्रवेश नहीं करना चाहती थी। दीवाल पर झूलता हुआ बर्फ़ के सामान सफ़ेद नर-कङ्काल उसके सामने एक कल्पनामय प्रेत-लोक की सृष्टि करता था। वह मन ही मन में सोचती थी कि, कङ्काल के आस-पास एक अतृप्त आत्मा "हा, हा" करती हुई नाचती है। कङ्काल की भावना ने उसके मन को ऐसा जकड़ लिया था कि, वह उससे किसी भाँति भी छुटकारा नहीं पाती थी।

उमा इन सब बातों को लेकर जगदीश्वर के साथ जितनी ही आलोचनाएँ करती, उतना ही रामेश्वर के पढ़ने का घर उसे एक विराट् भय का आवास-स्थल जान पड़ता था। अस्तु, रामेश्वर बाहर जाने के पहले अपने पढ़ने के घर में प्रतिदिन ताला बन्द कर जाते थे।

उमा ने एक दिन रामेश्वर से अपना कमरा बन्द रखने के लिए अनुरोध भी किया था। वह सोचती थी कि, जब तक रामेश्वर घर में रहते हैं तब तक तो वह कङ्काल भी उनके सामने कल्पित प्रेतात्मा की भाँति निरीह भाव से रहता है, किन्तु रामेश्वर के बाहर जाने पर अगर वह अपना सिर उठा कर आगे बढ़े तो बेचारा जगदीश्वर इस अकेले मकान में क्या करेगा ?

रामेश्वर कॉलेज चले गए थे। उमा अपने घर में बैठी हुई पान लगा रही थी। एक गुड्डी कुछ फट गई थी, जगदीश्वर उसी को लेई से चिपका रहा था, पास ही एक नख से लपेटा हुआ परेता पड़ा था। हठात् उमा ने पूछा—"आदमी मरने के बाद क्या होता है जगदीश ?"

"क्यों ? हड्डी हो जाता है।" विज्ञ की भाँति जगदीश्वर ने उत्तर दिया।

उमा जब कि, इस विषय से पूर्ण अनभिज्ञ थी तो जगदीश्वर अपनी विज्ञता दिखाने से क्यों चूके ? विशेषतः जब वहाँ पर कोई भूल पकड़ने वाला भी नहीं था।

"नहीं, तुम ठीक नहीं बता सके जगदीश—"

"वाह, क्यों नहीं बता सका, अच्छा तुम्हीं बताओ ?"

"उमा ने अपनी शान्त आँखों से उसकी ओर देख कर कहा—मैं जानती —"

"तब क्या होता है ? कहती क्यों नहीं, जीजी ?"

"आदमी मरने के बाद स्वर्ग जाता है।"

"स्वर्ग—हूँ, तो मेरी माँ भी स्वर्ग गई ?"

"निश्चय—"

"तब मैं भी जाऊँगा !—"

"जाओगे ?"

"कौन आगे जायगा जीजी ?" जगदीश ने गुड्डी चिपका कर रख दी और उमा की ओर उत्तर के लिए देखने लगा।

बहुत दिनों के बाद माँ की बात याद आने से जगदीश्वर का हृदय कचोटने लगा।

तब उमा ने एक मीठी हँसी हँस कर कहा—"मैं आगे जाऊँगी।"

"हत् ! मैं आगे जाऊँगा।"

नहीं ? मैं आगे जाऊँगी।"

जगदीश्वर ने देखा कि, इस तरह बातचीत करने से तार्किक मीमांसा नहीं हो सकेगी; अतः कहा—"अच्छा जीजी, इस बात को जाने दो। यह बताओ कि, जो पहले स्वर्ग जायगा, वह—जो यहाँ रहेगा,—उसे दिखाएगा।"

"हाँ, अगर ऐसी बात हो, तो तुम डरोगे तो नहीं ?"

जगदीश्वर ने हा-हा करके हँसते हुए कहा—"तुम्हें देख कर डरूँगा, जीजी ? तब तो बड़ी विचित्र बात होगी !"

इसी भाँति उस सरल बालक और सरला किशोरी के दिन कटते थे।

३

रामेश्वर की प्रकृति में साधारण मनुष्यों की अपेक्षा एक विशेषता थी। वे जब जिस काम में लगते थे, तब उन्हें उसका एक नशा-सा चढ़ जाता था। वे उसी में तल्लीन हो जाते थे।

डॉक्टरी सीखने की उन्हें लड़कपन से ही एक झक थी। एफ० ए० पास करके जब से वे मेडिकल कॉलेज में भरती हुए, तब से डॉक्टरी की पोथियाँ और प्राणियों की हड्डियाँ ही एकमात्र उनके साथी थे। अब अन्तिम परीक्षा का समय बहुत निकट आ गया था; इस समय विश्व में ऐसी कोई भी चीज़ नहीं थी जिसका आकर्षण उन्हें पाठ-गृह से बाहर ला सके। बड़ी रात तक वे अपने पढ़ने के घर में अनेक प्रकार की आलोचनाओं में लगे रहते थे। उमा उनका आसरा देख रही होगी, यह बात उनके ध्यान में एक बार भी न आती। उमा रात में बहुत देर तक बैठी-बैठी आसरा देखती रहती थी, धीरे-धीरे नींद से उसकी पलकें भारी हो जातीं और आप ही आप बन्द हो जातीं, इसके बाद कब वह सो जाती, यह उसे तनिक भी मालूम न होता।

उमा, लज्जाशीला और बड़ी अभिमानिनी कन्या थी। किस भाँति स्वामी से प्रेम करना चाहिए और उनके प्रेम को अपनाना चाहिए, इस कौशल से उमा अनभिज्ञ थी। वह सोचती थी कि, "स्वामी का कर्त्तव्य स्वामी जाने, मुझे अपने कर्त्तव्य से मतलब है। वे जो कुछ देंगे उसी में सन्तुष्ट रहूँगी, उससे अधिक पाने की लालसा से क्या उनके सामने जाकर मुँह खोलूँ? छिः।"

किन्तु, भीतर ही भीतर उसकी तृषित नारी-प्रकृति रामेश्वर से समुचित न्याय पाने के लिए रह-रह कर उन्मुख हो उठती थी। जब वे उमा के अभाव आकांक्षा को समझ कर आते नहीं तो उमा ही क्यों अपना अमृत-कोष उनके भावों पर लुढ़काने जाय? वह मन ही मन कहती—"जब वे नहीं बोलते हैं, तो यह मेरी क्षुधा और पिपासा मर क्यों नहीं जाती?"

उमा के सब मनोभावों को अच्छी तरह न समझ सकने पर भी जगदीश्वर बहुत कुछ समझता था। रामेश्वर जब एकाग्र चित्त से अपने अध्ययन में लगे रहते थे, तो जगदीश्वर बीच-बीच में अपनी छोटी कोठरी से बाहर आकर अपने भाई के पढ़ने के कमरे के पास खड़ा होता।

खुले हुए जँगले से वह बहुत देर तक भाई के अवनत मुख की ओर देखता रहता। इन बड़ी-बड़ी पोथियों में उसके भाई किस अमूल्य-रत्न को पाते थे इसे जगदीवर प्रयत्न करने पर भी किसी भाँति नहीं समझ पाता था।

पास ही उमा के सोने का कमरा था, धुँधले प्रकाश में एक चारपाई पर तकिए में मुँह छिपाए उमा पड़ी थी। वह क्या सो गई थी? नहीं, कदापि नहीं। जगदीश्वर का हृदय भाई के विरुद्ध अत्यन्त विरक्त हो उठता था।

बरामदे में वह अपने जूते का टप-टप शब्द करता हुआ अपने कमरे में चला जाता।

जगदीश्वर के पाँव का शब्द और उसके किवाड़ बन्द करने का शब्द सुन कर क्षण भर के लिए रामेश्वर का मनोयोग भङ्ग हो जाता।

"कौन है ? जगदीश !" किन्तु जगदीश तो उत्तर देने के लिए शब्द करता नहीं था। रामेश्वर कोई उत्तर न पाकर फिर पढ़ने बैठते ?

जगदीश्वर अब कुछ बड़ा हुआ, किन्तु अपनी जीजी के साथ उसका हेल-मेल और पारस्परिक व्यवहार ठीक बाल्यकाल के समान ही है। वह अपनी जीजी को अपने स्नेह-सुधा-सागर में सर्वदा सराबोर रखने की चेष्टा में रहता है।

रामेश्वर उसकी जीजी के साथ समुचित न्याय नहीं करते, इसके लिए वह उमा के सामने मानों कुछ सङ्कोच खाता था। उमा ने किसी दिन भी रामेश्वर की उदासीनता के विषय में कोई भी बात जगदीश्वर से नहीं कही। किन्तु, कितनी ही बातें ऐसी होती हैं जिनका प्रभाव न कहने से ही अधिक पड़ता है। उमा ने किसी दिन भी कुछ नहीं कहा, फिर भी उसके हृदय में जो एक वेदना का अंश छिपा हुआ था, वह उमा के मौन साधन से और भी अधिक प्रज्वलित हो उठता था।

स्वर्गीय माता-पिता की बातें स्मरण आने पर जब-तब उमा की आँखें आँसुओं से डबडबा आती थीं। जगदीश्वर उन आँसुओं के भीतर रामेश्वर की उपेक्षा का अंश स्पष्ट देखता था। उमा के हृदय की सब वेदनाओं को दूर करना रामेश्वर का ही कर्त्तव्य था।

जगदीश्वर घूमने-फिरने के समय पटने की सड़कों पर जहाँ जो कुछ देखता था, उसका सविस्तार वर्णन घर लौटने पर नित्य उमा से करता था। प्रति दिन कोई न कोई छोटी-मोटी चीज़ वह बाज़ार से ख़रीद लाता था, उसी के निर्माण-कौशल की निन्दा और स्तुति में इन दोनों असहाय प्राणियों का सारा दिन बीतता था।

जगदीश्वर की श्रद्धा और एकान्त सहानुभूति, उमा के हृदय-क्षेत्र पर निशि-दिन एक शीतल प्रलेप के तुल्य लगी रहती थी !

इधर रामेश्वर की परीक्षा के दिन धीरे-धीरे निकट आने लगे ! वे निशि-दिन अपनी पाठ्य-पुस्तकों में तल्लीन रहते हैं।

जँगले के बाहर से उमा देखती कि, रामेश्वर एकाग्र मन से अपनी पुस्तक के पन्ने उलटते जा रहे हैं। पृथ्वी का एक कोना यदि भूकम्प से नष्ट-भ्रष्ट भी हो जाता तो भी जान पड़ता । है रामेश्वर का ध्यान भङ्ग न होता । तब उमा कहाँ है—किस जँगले से उनकी ओर शान्त दृष्टि से देख रही है, यह रामेश्वर कैसे देख सकते थे ? और फिर उमा उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने तो जाती नहीं थी, वह तो केवल उन्हें देखने जाती थी। यदि रामेश्वर की दृष्टि तनिक भी इधर-उधर होते हुए देखती, तो वह धीरे से खिसक जाती थी।

इस भाँति यह अतृप्त-हृदया किशोरी अपनी उमड़ती हुई जवानी की सारी उमङ्गों और आशाओं को स्वामी को लक्ष्य करके निःशब्द शून्य में निवेदन करती थी। किन्तु उसके एकाग्र चित्त देवता के सम्मुख उसका सकरुण नैवेद्य अछूता ही पड़ा रहता। देवता ने उसे स्पर्श भी न किया ! सम्भवतः एक बार उस ओर देखा भी नहीं।

४

आज रामेश्वर की परीक्षा समाप्त हो गई। पाँच वर्ष से वे जिस बोझ को अनन्य मन से ढोते आ रहे थे, आज परीक्षा-मन्दिर में उस बोझ को उतार कर उन्हें एक विशेष प्रकार की शान्ति मिली।

अभी सन्ध्या नहीं हुई थी। अस्ताचलगामी अंशुमाली की स्वर्ण रश्मि-माला पटना के विशाल भवनों के समुच्च मस्तक पर अब भी शोभित थी।

रामेश्वर कोलाहलमय रास्ते को पार करते हुए घर पर आए। उमा के सोने के कमरे की ओर से होकर उनके पढ़ने के कमरे में जाना होता था। उमा के कमरे के सामने आकर वे खड़े हो गए। न जाने क्या समझ के उन्होंने पुकारा—"जगदीश!"

आज परीक्षा के समाप्त होने पर जान पड़ता है उमा से भेंट करने के लिए उनका हृदय चञ्चल हो उठा।

जगदीश्वर ने कमरे के भीतर से ही उत्तर दिया—"भैया, क्या आप एक बार इधर आवेंगे? जीजी को बड़ा तेज़ बुख़ार चढ़ा है।"

उमा के बुख़ार की बात सुन कर रामेश्वर अपने पढ़ने के कमरे में नहीं गए, पत्नी की शैया के पास आकर खड़े हो गए। घबड़ा कर पूछा—"कब ज्वर आया?" हाथ फेरते हुए कहा—"आपके कॉलेज जाने के बाद ही बुख़ार आया और बराबर बढ़ता ही जा रहा है।" उमा का गोरा मुख ज्वर के उत्ताप से लाल हो उठा था।

जगदीश्वर ने पुकारा —"जीजी, भैया आए हैं।" उमा ने आँख खोल कर देखा, फिर अञ्चल खींच कर सिर को ढँपने की चेष्टा करने लगी

"जीजी थोड़े ही देर पहले कहतीं थीं कि, उनके सारे शरीर में बड़ी वेदना है। आप ज़रा अच्छी तरह देखें क्या बात है।", जगदीश्वर का कण्ठस्वर ममता और वेदना से पूर्ण था, उमा का ऐसा बुख़ार जगदीश्वर ने और कभी नहीं देखा था। वह बहुत घबड़ा उठा था।

उमा की नाड़ी और शरीर आदि की परीक्षा करने पर रामेश्वर को मुख सूख गया। वे उलटे पाँव घर से बाहर चले गए और थोड़ी ही देर में एक बहुत बड़े डॉक्टर को साथ लेकर लौट आए।

डॉक्टर ने उमा की परीक्षा करके रामेश्वर को बाहर बुला कर कहा —"आपने जो सोचा था सही तो है। यह लड़का कौन है? शायद आपका भाई है! इसे किसी और जगह भेज दीजिए और इनकी विशेष देख-भाल करनी होगी और आपसे अधिक क्या कहूँ?" डॉक्टर दवा लिख कर चले गए।

जगदीश्वर को कुछ दूर ले जाकर रामेश्वर ने कहा—"जगदीश्वर अब तुम्हारी जीजी अब कुछ अच्छी मालूम पड़ती हैं। तुम्हें विनोद भैया ने बुलाया है—आज जाओ रात भर वहीं रहना। दवा आदि देने के लिए मैं यहाँ पर हूँ ही।" इसी समय उमा ने क्षीण कण्ठ से बुलाया।

"जगदीश्वर भैया"—जगदीश्वर दौड़ कर जीजी के पास आकर बैठ गया और सिर नीचा करके बोला—जीजी क्या है—"यहीं तो मैं हूँ?'

उमा ने अपने ज्वर-तप्त हाथ से जगदीश्वर का एक हाथ पकड़ कर कहा—"मुझे थोड़ा पानी दो, भैया!"

जगदीश्वर ने जल देकर दृढ़ता से रामेश्वर से कहा—"मैं जीजी को छोड़ कर कहीं नहीं जाऊँगा, भैया! आप जीजी की दवाई का ठीक इन्तज़ाम-बन्दोबस्त करें।"

डॉक्टर की बातचीत का रङ्ग-ढङ्ग देख कर जगदीश्वर समझ गया था कि, उमा को प्लेग हो गया है।

जीजी को दुख में छोड़ कर, अपना प्राण बचाने के लिए दूसरे के घर में जाकर छिपने की अपेक्षा और कौन-सी मर्मभेदी बात हो सकती है, जगदीश्वर सोच कर भी कुछ स्थिर न कर सका। उसका रोम-रोम उसके विरुद्ध हो उठा। जिस जीजी ने उसके मातृ-शोक को भुला दिया था, जिसने बहिन की भाँति उसे अपनी ममता में बाँध रक्खा था, उसी स्नेहमयी जीजी को रोग-शैया पर छोड़ कर अपने प्राण के भय से भाग जाय ?

वह अपने आप ही आवेश में आकर कहने लगा—"नहीं नहीं, यह कभी नहीं हो सकता, मैं किसी तरह नहीं जा सकता।"

इसके बाद दो दिनों तक दोनों भाई, जगदीश्वर और रामेश्वर ने उमा की अहर्निश सेवा-सुश्रूषा की। कॉलेज के अध्यापक और पटना के प्रायः सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध डॉक्टरों ने उमा को देखा। किन्तु इस संसार से जाने के लिए जिसका हाथ भगवान पकड़ते हैं, उसे मनुष्य की चेष्टा और प्रयत्न किस तरह रख सकती है ? दूसरे दिन रात के अन्तिम पहर में जगदीश्वर और रामेश्वर का सब उद्योग और परिश्रम व्यर्थ कर, उमा स्वामी को छोड़ कर, स्नेह के धन भाई का स्नेह-पाश तोड़ कर न जाने किस अनजान लोक में चली गई, एक बार फिर कर देखा भी नहीं।

५

उमा के बुख़ार की ख़बर पाकर गाँव से दीवान जी भी आए थे। दीवान जी इस परिवार के पुराने शुभाकांक्षी थे। रामेश्वर और जगदीश्वर की इस सरल हृदय वृद्ध पर पिता के तुल्य श्रद्धा और भक्ति थी।

उमा की मृत्यु के बाद एक महीना कट गया । बाहरी बैठक में बैठे हुए रामेश्वर एक समाचार-पत्र के पन्ने उलट रहे थे । इसी समय दीवान जी वहाँ आए ।

"रामेश्वर"—रामेश्वर अन्यमनस्क थे, दीवान जी का कण्ठ-स्वर सुन कर उठ खड़े हुए ।

"बैठो भाई, तुमसे कई एक बातें कहने आया हूँ । दीवान जी चौकी पर बैठ गए, रामेश्वर भी एक ओर विनीत भाव से बैठ गए । दीवान जी ने कहा—"अब क्या करने का विचार है ?"

"अभी कुछ भी तो विचार नहीं किया है । आपकी क्या राय है ?"

"मेरी तो इच्छा है कि, पटने में एक डिसपेन्सरी (दवा-खाना) खोलें ।"

"मेरी इच्छा काशी की ओर कोई नौकरी ढूँढने की थी ।"

रामेश्वर का परीक्षा-फल अभी भी नहीं निकला था । अब तक वे प्रति वर्ष प्रत्येक परीक्षा में प्रथम होते आए थे, इस बीच में छिपे-छिपे उन्होंने कई एक विषयों का फल भी मालूम कर लिया था । उनके इस अन्तिम परीक्षा में भी प्रथम होने में किसी भी अध्यापक या छात्र को सन्देह नहीं था ।

रामेश्वर का उत्तर सुन कर दीवान जी ने कुछ गम्भीर होकर कहा—"रामेश्वर, मन की अस्थिरता में कोई काम ठीक नहीं होता । विशेषतः मैं जब तक जीवित हूँ, तब तक बाबू लक्षमणप्रसाद के पुत्र को नौकरी नहीं करने दे सकता । इस बुड्ढे के मर जाने पर जो इच्छा हो करना । आपकी डिसपेन्सरी खुलवा कर मैं घर जाऊँगा ।"

रामेश्वर सब बातें समझते थे, किन्तु बातों में पकड़ाए नहीं; कहा—"अच्छा, जगदीश्वर को क्या किया जाए ? वह बहुत उदास रहता है।"

हरिकिशोर ने दीवानगिरी ही में अपने बाल पकाए थे, वे समझ गए कि, रामेश्वर बातों में पकड़ाना नहीं चाहते, इसी से बातों का रुख दूसरी ओर ले जा रहे हैं। किन्तु, जो बहुत दिनों से सांसारिक कार्यों में लगे रहते हैं, उनमें प्रतिकूल अवस्था को अनुकूल बना लेने की क्षमता अधिक देखी जाती है। हरिकिशोर ने कहा—"अभी वह बच्चा है। छोटी उम्र में ही माँ मर गई तब से बराबर वह बहू की गोद में रहा। एकाएक उसका भी साथ छूट जाने से कलेजे पर बड़ी कड़ी चोट पहुँची है, अब बिना साथी पाए उसका चित्त कैसे ठिकाने हो सकता है।"

रामेश्वर चुपचाप बैठ रहे। कुछ अनमने भाव से समाचार-पत्र का एक कोना पकड़कर उसे लपेटने लगे। सूर्य की किरणों से तपाए हुए कुन्द के कुसुम की भाँति उमा के ज्वर-ताप से पीड़ित सुन्दर मुख की स्मृति बार-बार उनके मन को व्यथित करने लगी। जो नवल लतिका रामेश्वर का आश्रय चाहती थी, उसे उन्होंने सहारा नहीं दिया। क्यों नहीं दिया ? यह प्रश्न उनके हृदय में एक बार भी नहीं उठता था। उठे कैसे ? वे उमा की उपेक्षा तो करते नहीं थे। केवल परीक्षा के लिए वे अखिल ब्रह्माण्ड को भुला कर देवराज इन्द्र की भाँति तपश्चर्या में लगे थे; किन्तु उमा इस बात को नहीं समझती थी। वह अभिमानिनी बालिका कितनी ही बार उनके पाठ-गृह के पास जाती,

कितनी ही बार उनकी शान्त भव्य मूर्ति को अपने पिपासित लोचनों से जँगले के बाहर से देखती, किन्तु रामेश्वर ने एक बार भी बुला कर न कहा—"उमा, मैं तुम्हारा ही हूँ।"

फिर भी रामेश्वर उमा की उपेक्षा नहीं करते थे। हा ! अब उमा कहाँ है ! किस तरह रामेश्वर उन्हें यह बात समझा सकेंगे !

भूल हो जाने पर जब मनुष्य क्षमा चाहने के लिए तैयार होता है; उस समय यदि जिसके ऊपर अन्याय किया गया होता है, वह खोजने पर नहीं मिलता, तो मनुष्य के लिए उसका सन्ताप औरों की अपेक्षा बड़ा ही हृदय-ग्राही होता है। हाय, उमा !

रामेश्वर की आँखों में आँसू उमड़ आए। हरिकिशोर उनके मन की अवस्था समझ कर चुपचाप उठ कर चले गए।

६

जगदीश्वर के कैशोर हृदय पर इस शोक का भारी धक्का पहुँचा था। वह मन ही मन सोचता कि, उसकी जीजी—वह आनन्दमयी, स्नेहशालिनी जीजी कहाँ गई ? उसके क्रीड़ा-कौतूहल की सङ्गिनी, स्नेह-निर्झरिनी जीजी, उसे छोड़ कर कहाँ जा सकती है ? अब वह जीजी को फिर कभी नहीं देख सकेगा। एकमात्र स्वत्वाधिकारी होकर फिर कभी उसे तङ्ग नहीं कर सकेगा, वे बातें जगदीश्वर के मन में भूल से भी नहीं उठती थीं।

प्रातः सायम् अपनी छोटी कोठरी की खिड़की पर बैठे-बैठे जगदीश्वर उदास मन से कुछ सोचा करता था। सन्ध्याकालीन नील आकाश की नक्षत्र-राशि की ओर देखता—तत्क्षण जीजी का ध्यान आ जाता। जीजी

ने एक दिन कहा था कि, मनुष्य मरने पर नक्षत्र होता है और सानन्द पृथ्वी के प्रियजनों की ओर अनिमेष दृष्टि से देखता रहता है। जीजी क्या नक्षत्र हो गईं ? इतने नक्षत्रों के बीच से वह अपनी जीजी को किस तरह खोज निकाले ?

उसका हृदय उथल-पुथल करने लगता, फिर एक दीर्घ निश्वास के साथ उसका यह करुण आह्वान वायुमण्डल में विलीन हो जाता—"जीजी—जीजी !"

पड़ोस के एक घर की छत पर उस घर की एक बहू कपड़ा फैलाने आती थी। जगदीश्वर बार-बार देखता कि, वह उसकी जीजी के समान ही छोटी और उसी की भाँति सुन्दर है। छत के ऊपर से बुला कर उमा ने कई बार उसके साथ बातचीत की थी। उमा की मृत्यु के बाद भी वह बहू नित्य छत पर आती और जगदीश्वर के घर की ओर देखती। वह देखती कि, जगदीश्वर सजल नयन, उदास मन अपनी खिड़की पर बैठा है। हा, उसकी जीजी उसे छोड़कर कहाँ चली गई ? सहवेदना से बहू का हृदय भर आता था।

हृदय की चोट की कड़क तीव्र होने पर मनुष्य का शरीर सहन नहीं कर सकता। उमा की मृत्यु के बाद जगदीश्वर का शरीर सूखने लगा, फिर थोड़ा-थोड़ा ज्वर आने लगा। अब खिड़की के पास उतना अधिक नहीं बैठ सकता था। जिस दिन वह सायंकाल के समय भी अपनी छोटी चारपाई पर पड़ा रहा उस दिन उसे धुआँधार बुखार चढ़ा था और उसका मुख लाल हो रहा था

रामेश्वर ने जाकर देखा कि, उसका शरीर आग सा हो रहा है। और वह अपने दोनों हाथों को अपनी छाती पर रक्खे आँखें मूँदे सो रहा है। रामेश्वर ने सस्नेह कोमल स्वर से पुकारा—"जगदीश !"

जगदीश्वर ने आँखें खोलीं, उसकी दृष्टि अवलम्बविहीन की भाँति उदास और चकित थी।

"बुख़ार अधिक आ गया, जगदीश ?" यह कह कर रामेश्वर, जगदीश के माथे पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगे। जगदीश्वर ने आँखें मूँद लीं; उत्तर नहीं दिया।

उमा की मृत्यु के बाद से अब तक किसी दिन भी रामेश्वर के निकट जगदीश्वर ने उमा की चरचा नहीं की। उमा को रामेश्वर अपने पास नहीं बुलाते थे, इससे उसकी मर्म-वीणा से वेदना और अभिमान का जो एक सुर उठता था, उसे उमा के खुलकर न कहने पर भी, जगदीश्वर उसके तीव्र भाव का अनुभव करता था।

जिनकी माँ बचपन में ही मर जाती हैं, उनमें अभिमान का भाव सहज ही उत्पन्न हो जाता है।

उमा चली गई तब भी जगदीश्वर यह किसी तरह न भूल सका कि, रामेश्वर उसके ऊपर अन्याय करते थे, वह रामेश्वर को क्षमा नहीं कर सका। मुँह खोलकर उसने कुछ कहा भी नहीं। अपनी रुद्ध वेदना की अग्नि में आप ही आप दग्ध होने लगा।

जगदीश्वर के तरुण हृदय पर कैसी चोट पहुँची है, इसे रामेश्वर समझते थे। किन्तु, किस भाँति वे उसकी हृदय-वेदना को दूर करें इसका उपाय करने पर भी वे नहीं ढूँढ़ सके।

जगदीश्वर को रोग-शैया के पास बैठे-बैठे रामेश्वर उसके मुख की ओर देखा करते ; सरल शिशु की भाँति उनका मुख भी अन्तर्वेदना से मलिन हो उठता। इस मिट्टी की पृथ्वी के साथ मानो उसका और कोई सम्बन्ध नहीं है, सम्पर्क नहीं है। संसार में आकर जिसने स्नेह के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया है, अनभिज्ञ रामेश्वर किस भाँति उसे सञ्जीवित रख सकते हैं, यह किसी भाँति भी स्थिर नहीं कर सके।

७

दूसरे दिन घर से एक टेलीग्राम ने आकर रामेश्वर के जीवन के हल्के भाव को और भारी कर दिया और जो जीवन एक सीधे रास्ते पर चल रहा था, उसे एक नवीन टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर लाकर खड़ा कर दिया।

दीवान जी ने गाँव के प्रबन्ध के विषय में कुछ आवश्यक परामर्श करने के लिए कह कर टेलीग्राम दिया था। जगदीश्वर को साथ लेकर रामेश्वर घर गए।

कुशल क्षेम तथा और दो-एक बातों के पूछने के बाद दीवान जी ने कहा—"जगदीश की दशा तो दिन पर दिन गिरती ही जाती है, क्या करना स्थिर किया ?"

"मैंने उसे लेकर पश्चिम जाने का निश्चय किया है, क्या राय है ?"

"पश्चिम में किसी अच्छे जगह पर कुछ दिन रहने से अच्छा ही होगा, किन्तु—" दीवान जी ने रामेश्वर की ओर एक तीव्र दृष्टिपात करके कहा—"किन्तु, उसके दुखित मन को स्थिर करना चाहिए।"

"तो क्या करना चाहिए ?" रामेश्वर का स्वर वेदना से भरा हुआ था।

"इस समय उसके लिए एक समवयस्क साथी की ज़रूरत है। इससे बहुत कुछ काम बन जायगा।"

इतनी देर बाद रामेश्वर को इन बातों का सुस्पष्ट तात्पर्य समझ में आया। उनका हृदय न जाने कैसा होने लगा। एक बार इच्छा हुई कि, हृदय को दोनों हाथों से चाँप कर उसी मसहरी पर लेट करके ख़ूब रोएँ—किन्तु, वहाँ पर चाचा जो बैठे थे।

दीवान जी ने अन्यान्य बातों के उपरान्त कहा—"देखो रामेश्वर, जगदीश का जीवन तुम्हारे ही हाथ में है। उसके उत्तरदाता तुम्हीं रहोगे। ऐसा न हो कि, कोई लाञ्छन तुम्हें लगे।"

दीवान जी चले गए। रामेश्वर वहीं पर बैठे-बैठे सोचने लगे।

जगदीश्वर के दुःख को दूर करने के लिए वे क्या नहीं कर सकते; रामेश्वर के हृदय में जगदीश्वर के स्नेह की एक विशेष तन्त्री थी। दीवान जी उसी स्नेह पर अपने एक मधुर आघात से स्वर निकाल कर चले गए। रामेश्वर के कानों में उसी स्वर की झङ्कार बारम्बार पड़ने लगी।

उमा जब जीवित थी, तब रामेश्वर के मन में एक दिन भी यह ध्यान नहीं आया था कि, वे उसके ऊपर अन्याय कर रहे हैं। किन्तु जब उमा चली गई, तब उनकी समझ में आया कि, वहाँ उनका अपराध था।

जगदीश्वर का मूक भाव और क्लेश, उन्हें और भी स्थिर कर देता था। चाहे जिस तरह हो जगदीश्वर को प्रफुल्लित करना ही होगा, उसकी रक्षा करनी ही होगी।

८

राँची में एक छोटा-सा मकान किराए पर लेकर कोई एक महीने से पीड़ित जगदीश्वर और नव-बधू सरयू के साथ रामेश्वर वायु परिवर्तन के लिये आए थे।

सरयू का विवाह कुछ अधिक उम्र में हुआ था। रामेश्वर ने पहिली भेंट में ही कुछ इधर-उधर की बात करने के बाद सरयू से उमा और जगदीश्वर की कहानी खोल कर कही। सरयू ने सब ध्यान-पूर्वक सुना, इस तरह की दुखभरी कहानी उसने अपने जीवन में और कभी नहीं सुनी थी। जगदीश्वर के लिये उसका हृदय स्नेह और सहानुभूति से परिपूर्ण हो उठा। उसने सबसे पहले यही स्थिर किया कि, चाहे जिस तरह से हो वह जगदीश्वर के शोक और अभिमान को दूर कर देगी।

अस्तु, बीमार जगदीश्वर की सेवा - सुश्रूषा सरयू चिर-परिचिता की भाँति करने लगी। वह सभी कामों को बड़ी कुशलता से करती थी। रामेश्वर को यह देख-सुन कर बड़ी आशा हुई और उन्होंने मन ही मन ईश्वर से प्रार्थना की कि, प्रभु, दया कर सरयू की सेवा सफल करो।

उमा की जीवित अवस्था में जब रामेश्वर, पटना में रहते थे तब निविष्ट मन से उन्होंने डॉक्टरी का मनन किया था, परन्तु इस बार राँची में आने पर उनके हृदय के वे भाव नहीं रहे। उस दिन सन्ध्या के बाद रामेश्वर जब छत पर बैठे आकाश-पाताल की सोच रहे थे, उनकी स्त्री को दिन भर के काम से फुरसत पाने पर भी शान्ति नहीं थी।

सरयू धीरे-धीरे छत पर गई। वहाँ उन्हें उदास चित्त बैठे हुए

देखकर वह सोचने लगी,—क्या इनका यह विषाद दूर न हो सकेगा ।" संसार में जिसका परिचय देने वाला कोई नहीं होता वह स्वयं अपना स्थान ढूँढ़ लेता है। विवाह के बाद ही उसे बूढ़े दीवान जी के मुँह से यह मालूम हो चुका था कि, उसे इस जीवन की नौका को अकेले खेना पड़ेगा।

यह विचार उसका कई दिनों से हो रहा था और आज उसने यह ठान लिया था कि, जैसे हो स्वामी के दुख के भाग को बटाऊँगी !

सरयू दृढ़ हृदय से छत पर गई, पर सहसा लज्जा ने उसे आ घेरा। उसने अपने चित्त को और भी दृढ़ किया, और पति के पास आकर खड़ी हो गई। रामेश्वर की यह वासना प्रबल हो रही थी कि, कब अवसर मिले और कहे—प्रिये, आओ बैठो।"

आज उन्हें यह अवसर आप ही आ मिला। सरयू वहीं पास में बैठ गई। संसार के घोर अन्धकार से भय करके ही मानो आज सरयू अपने पति का आश्रय लेने आई थी। रामेश्वर का हृदय पहले से ही उथल-पुथल हो रहा था। सरयू के आते ही वह फूट पड़ा।

रामेश्वर ने उसे आलिङ्गन कर कहा—"सरयू, देखो मेरी इच्छा है कि, तुम उमा हो जाओ।" इतनी ही बात से दोनों के बीच जो एक परदा पड़ा हुआ था वह जाता रहा। सरयू की सेवा का सर्वोत्तम पुरस्कार मिल गया। उसी दिन से उसने और भी निविष्ठ मन से सेवा करना आरम्भ किया। प्रायः सभी काम सरयू कर लेती थी। अतः रामेश्वर को अब कुछ काम ही न था।

भावुक हृदयों की यही पहिचान है कि, वह अपने भावों की माला

किसी के गले में अवश्य डालते हैं। उमा के वियोग से रामेश्वर जो मानसिक व्यथा पी रहे थे, उसका परिशोध अब वे सरयू के प्रेम से करना चाहते थे।

स्वर्गीया उमा के प्रति सरयू का किञ्चिन्मात्र भी द्वेश नहीं था। प्रत्युत उसकी एक आन्तरिक श्रद्धा दिन पर दिन बढ़ती जाती थी। सरयू को रामेश्वर के बाधा रहित प्रेम की तीव्र धारा बहाए लिए जाती थी। इसे सरयू भली भाँति समझती थी। इस प्रेम-धारा पर उमा का ही वास्तविक अधिकार था। अस्तु, रामेश्वर का भाव यही था कि, सरयू में उमा को देखें। हृदय के इसी भाव को उन्होंने सरयू पर प्रकट किया था। सरयू यह देख कर स्तम्भित हो गई और प्राणपण से रामेश्वर की प्रेमपिपासा को पूर्ण तृप्त करने का प्रयत्न करने लगी।

९

रोग शैया पर पड़ा हुआ जगदीश्वर इस उलझन में पड़ गया कि, जो हृदयासन मेरी जीजी ने नहीं पाया, उसे इस तरह सहज में सरयू ने कैसे पा लिया?

रामेश्वर का जो हृदय अब तक डॉक्टरी को अपनाए था, आज उसका झुकाव दूसरी ओर कैसे हुआ?

भैया नई बहू को भले ही प्यार करें, इसमें कोई आपत्ति नहीं, पर मेरी जीजी, आह! प्यारी जीजी ने कौन-सा क़ुसूर किया था?

जीजी की चिन्ता से जगदीश्वर का शरीर धीरे-धीरे सूखने लगा। संसार भले ही उसकी जीजी को भूल जाय, पर वह कैसे भूल सकता है? किसी के भुलवाने की चेष्टा करने पर वह बिगड़ उठता था।

अगर आज वह अपनी जीजी को ही भूल जाय तो फिर वह ध्यान किसका करेगा ? जितना ही सरयू इस बात का उद्योग करती कि, जगदीश्वर को सेवा से, प्रेम से, मुग्ध करे, उतना ही वह यह जान कर कि, यह सब प्रपञ्च उसकी जीजी को भुलवाने के लिए किया जा रहा है, और भी चिढ़ उठता था। अतः वह सर्वदा इस बात से सतर्क रहता था कि, कहीं इस फन्दे में न पड़ जाय। राँची में इस प्रकार चार महीने रहने पर भी उसकी व्यथा शान्त न हुई। रामेश्वर ने अपने अनुभव से यह भली-भाँति समझ लिया कि, कुछ दिन और इसी तरह चलने से उसका बचना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव हो जायगा।

१०

आज भादों सुदी अष्टमी थी। उमा की इस वार्षिक मृत्यु-तिथि को जगदीश्वर नहीं भूल सकता था। इसकी चिन्ता वह प्रातःकाल से ही करता था। आज की तिथि को अभी गत वर्ष मेरी जीजी जीती थी। उसका दुर्बल हृदय एक बारगी दहल उठा। सारे दिन अपनी सारी चेतना-शक्ति का प्रयोग करके वह अपनी जीजी की चिन्ता करता रहा। सन्ध्या के पश्चात् ही उसे बड़ा भयानक ज्वर आ गया। सरयू जो वहीं पर बैठी हुई पङ्खा कर रही थी यह अवस्था देखकर डर गई और बाहर से अपने पति को बुला लाई। रामेश्वर ने आकर जगदीश्वर को देखा कि, सन्निपात हो गया है। उसी समय डॉक्टर अमूल्यचन्द्र को बुलाया गया पर उन्होंने आकर कोई आशाजनक वाक्य नहीं कहा। उन्होंने रामेश्वर से केवल इतना ही कहा कि, ज्वर उतरते समय विशेष सावधान रहने की आवश्यकता है। सर ने भी इसे सुना। अस्तु, भय-वश उसने डॉक्टर

साहेब से रात भर वहीं रहने की प्रार्थना की। डॉक्टर भी उसके अनुरोध को टाल नहीं सके। कहा—"अच्छा मैं रहूँगा, अभी घर से लौट कर आता हूँ।"

सरयू बैठी एकटक जगदीश्वर को देखती थी और मन में यही चिन्ता करती थी कि, कुछ नहीं; सब मेरा ही अपराध है, मैंने क्यों उसकी जीजी के स्थान को छीना। हाय, क्या कोई उपाय नहीं कि, मैं प्राण देकर भी अपने किशोर देवर को बचा सकूँ?

जगदीश्वर शैया पर पड़ा छटपटा रहा था। रात को दस बजे थरमामीटर लगाकर रामेश्वर ने देखा कि, बुखार एक डिग्री उतर गया है। वे घबड़ा कर बोल उठे—"हैं, बुखार तो उतर रहा है।"

सरयू ने भयभीत होकर पूछा—"क्या बुखार के उतरने में कुछ डर है?"

"अच्छा नहीं है।" सुनते ही सरयू काँप उठी।

"अनर्थ हो जायगा! बबुआ! तुम चङ्गे हो जाओ! दुर्गा माई! मैं तुम्हें पूजा चढ़ाऊँगी।"

"सरयू यह औषधि तो खिलाओ जगदीश्वर को।" दवा खिलाई गई।

ज्वर बड़े वेग से उतर रहा था। जगदीश्वर अवसन्न, शैया पर पड़ा था। सरयू के मुख पर उसकी हृदय-निराशा और विषाद फूटा पड़ता था। रामेश्वर सिरहाने एक कुर्सी पर बैठा जगदीश्वर के कुम्हलाए हुए चेहरे को देख रहे थे। अमूल्य बाबू टेबुल के पास खड़े कुछ औषधि मिला-जुला रहे थे।

सरयू ने देखा, जगदीश का मुँह बुझते हुए दीप की तरह कभी-कभी खिल उठता है!

जगदीश्वर के माथे में पसीना हो आया, उसे सरयू ने पोंछ दिया।

रामेश्वर ने देखा, घड़ी में एक बज के पाँच मिनट हुए हैं। ठीक गत वर्ष की घटना उन्हें याद हो आई। एक बज के पन्द्रह मिनट ! न जाने दस मिनट में क्या होने वाला है।

"कौन ! उमा !" जगदीश्वर बक उठा।

"जीजी ! जीजी ! क्या तुम्हीं हो ?"

जगदीश्वर चिल्ला कर शैया पर से उठ बैठा और अपने दोनों सर्द हाथों को सरयू के गले में डाल कर लिपट गया और मूर्छित-सा गोद में गिर पड़ा।

डॉक्टर ने कहा—"देखो फ़िट तो नहीं है; जल्दी आँख और मुँह पर छींटे दो—ढिलाई करने से कैसे चलेगा।"

फिर धीरे-धीरे उस स्पन्दनविहीन शरीर को सरयू की गोद से डॉक्टर ने नीचे उतार कर शैया पर सुला दिया। इसी समय जगदीश्वर ने दम तोड़ दिया !

दीवाल पर दृष्टि जाते ही रामेश्वर ने देखा, ठीक एक बज कर पन्द्रह मिनट हुए हैं।

